पाश्चात्य दर्शन

चन्द्रधर शर्मा

एम० ए०, डि० फिल्०, डी० लिट्०, एल् एल्० बी०

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

निवृत्त आचार्य तथा अध्यक्ष दर्शन विभाग

जबलपुर विश्वविद्यालय

पूर्व प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

अमेरिका में दर्शन के फुलब्राइट विजिटिंग प्रोफेसर (१९६३-६४)

मनोहर प्रकाशन

जतनबर, वाराणसी

प्रकाशक :
मनोहर प्रकाशन
जतनबर, वाराणसी।

अष्टम संस्करण १९८३-८४
विद्यार्थी संस्करण : २० रुपये
पुस्तकालय संस्करण : ४० रुपये

मुद्रक :
ग्रामोदय प्रिंटिंग प्रेस
पाण्डेयपुर, वाराणसी।

पाश्चात्य दर्शन

लेखक की अन्य रचनायें—

१ Indian Philosophy

२ Dialectic in Buddhism and Vedanta

३. बौद्ध दर्शन और वेदान्त (उत्तर-प्रदेश-राज्य द्वारा पुरस्कृत)

४. सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रह

५. श्रद्धाभरणम् (संस्कृत खण्ड-काव्य)

६. स्त्रोत्र-त्रयी

७ः सुर्जनचरितमहाकाव्यम् —महाकवि चन्द्रशेखरविरचितम
(हिन्दी-भाषानुवाद सहित सम्पादित)

निवेदन

दर्शन समाज, सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य निधि है। किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक परिचय पाने के लिये उसकी दार्शनिक विचारधारा का ज्ञान आवश्यक होता है। पाश्चात्य दर्शन में पश्चिम के अनेक देशों की विचारधाराओं का संगम हुआ है—मुख्यतः ग्रीक, ईसाई और आधुनिक विचारधारा की त्रिवेणी का, जिसमें प्रत्येक विचारधारा कई छोटी-छोटी विचारधाराओं के मिश्रण से बनी है।

प्रस्तुत पुस्तक में पाश्चात्य दर्शन के उद्भव और विकास का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पश्चिम के प्रथम दार्शनिक थेलीज से लेकर हेगल तक के विचारों का समावेश इसमें है। हेगल के बाद के दार्शनिक विचार सम-सामयिक दर्शन के अन्तर्गत आते हैं और उनके विवेचन के लिये एक स्वतंत्र ग्रन्थ अपेक्षित है।

यह पुस्तक बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को दृष्टि में रख कर लिखी गई है। साथ ही साथ पाश्चात्य दर्शन के जिज्ञासु पाठकों तथा अंग्रेजी न जानने वाले विद्वज्जनों के लिये भी यह उपयोगी है।

पुस्तक का प्रयोजन पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का सरल, सुगम स्पष्ट, क्रमिक और संक्षिप्त, किन्तु यथासंभव पूर्ण परिचय प्रस्तुत करना है। दृष्टिकोण तुलनात्मक और आलोचनात्मक है। पुस्तक को संक्षिप्त रूप देते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि कोई भी महत्वपूर्ण विचार या मुख्य पद्धति छूटने न पाये। अनावश्यक विस्तार और अप्रासंगिक विवेचन को, जिनसे बहुत सी पुस्तकें प्रायः भरी रहती है, छोड़ दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मेरे पाश्चात्य दर्शन के वर्षों के अध्ययन-अध्यापन का परिणाम है। विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का विवेचन करने में मैंने उनके विशेषज्ञ पण्डितों और दर्शन के श्रेष्ठतम इतिहासकारों के ग्रन्थों से स्वच्छन्द सहायता ली है; किन्तु पुस्तक मेरे अपने दृष्टिकोण से लिखी गई है और इसमें यत्र-तत्र मेरे मौलिक विचार भी घुल-मिल गये है। प्रयत्न यही किया गया है कि जो कुछ लिखा जाय वह प्रमाणिक और

स्पष्ट हो, फिर भी यदि कहीं कोई त्रुटियाँ रह गई हों तो उन सबका उत्तरदायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

पाश्चात्य विचारधारा को हिन्दी में लिखते समय कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिसमें भाषा और सांस्कृतिक परम्परा के भेद मुख्य हैं। पाश्चात्य विचारधारा को हिन्दी के कलेवर में जीवित उतार देना कठिन अवश्य है, किन्तु असाध्य नहीं। इस कार्य में मुझे अपने भारतीय दर्शन के अध्ययन से बहुत सहायता मिली है। पाश्चात्य दर्शन के कई पारिभाषिक शब्दों के पर्याय संस्कृत के दार्शनिक वाङ्मय में उपलब्ध हैं। इन शब्दों का हिन्दी में मनमाना और भ्रष्ट अनुवाद करने की अपेक्षा मैंने भारतीय दर्शन में उपलब्ध पर्यायों का ही प्रयोग किया है। जिनके पर्याय नहीं मिल सके उनका उचित अनुवाद कर दिया गया है। मैंने पाश्चात्य दर्शन के विचारों को यथासंभव भारतीय दर्शन के शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक अपने ढङ्ग की प्रथम रचना है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये पारिभाषिक शब्दावली पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दे दी गई है। पाश्चात्य दार्शनिक विचारों से साम्य रखने वाले भारतीय दार्शनिक विचारों की ओर टिप्पणी मे संकेत कर दिया गया है।

मैं उन सब पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन अर्वाचीन विद्वानों का आभारी हूँ जिनकी कृतियों से या जिनसे मुझे उत्साह, शक्ति और सहायता मिली है।

पुस्तक का यह अष्टम संस्करण निकल रहा है इसकी मुझे प्रसन्नता है। देश के सभी भागों के दर्शनशास्त्र के हिन्दी-प्रेमी विद्यार्थियों ने इस ग्रन्थ का आदर किया है, यह उनकी गुण-ग्राहकता है। आशा है वे इससे लाभ उठाते रहेंगे और मेरा परिश्रम सफल होगा।

जबलपुर विश्वविद्यालय,
जबलपुर

चन्द्रधर शर्मा

दिवङ्गता बहिन

सौभाग्यवती

की

पुनीत स्मृति

में

: श्री :

अनुक्रम

निवेदन

प्रथम खण्ड : प्राचीन युग और मध्य युग

अध्याय | पृष्ठ

प्रथम : ग्रीक दर्शन : सॉक्रेटीज तक

विषय-प्रवेश १
थेलीज़् २
एनेक्जिमेन्डर २
ऐनेक्जिमेनीज ३
पाइथेगोरस ३
हेरेक्लाइटस ४
जेनोफ़ेनीज़् ६
पार्मेनाइडीज़् ६
ज़ीनो ९
मेलिसस ९
एम्पेडोक्लीज़् १०
एनेक्जेगोरस ११
ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस १२
सोफिस्ट् : प्रोटेगोरस १३
जॉर्जियस : सॉक्रेटीज़् १४

द्वितीय : ग्रीक दर्शन : प्लेटो

प्लेटो १९

तृतीय : ग्रीक दर्शन : एरिस्टॉटल

एरिस्टॉटल ३५

चतुर्थ : प्राचीन दर्शन : एरिस्टॉटल से ऑगस्टाइन तक

एपिक्यूरस ४३
स्टोइक्स ४४
सन्देहवाद ४५

अध्याय पृष्ठ

सग्रहवाद ... ४५
प्लोटाइनस ... ४६
ऑगस्टाइन ... ५०

पञ्चम : मध्य युग का दर्शन

विषय-प्रवेश ... ५१
जॉन स्कॉटस एरिजेना ... ५२
एन्सेल्म ... ५४
एबेलार्ड ... ५६
टॉमस एक्विनस ... ७५
मोस्टर एखार्ट ... ५८
डन्स स्कॉटस ... ५८
विलियम ओखम ... ५९

द्वितीय खण्ड : आधुनिक युग

षष्ठ : आधुनिक युग का सन्धिकाल : देकार्त के पूर्व का दर्शन

विषय-प्रवेश ... ६१
सांस्कृतिक पुनर्जन्म और धर्मसुधार ... ६१
कुसा के निकोलस ... ६४
गिओर्दानो ब्रूनो ... ६८
टोमसो केम्पानेला ... ७१
फ्रांसिस बेकन ... ७२
टॉमस हॉब्स ... ७८

सप्तम : बुद्धिवाद देकार्त

रेने देकार्त ... ८०
ग्यूलिंक्स और मेलेब्रांच ... ९१

अष्टम : बुद्धिवाद स्पिनोजा

बेनेडिक्टस स्पिनोजा ... ९३

नवम : बुद्धिवाद : लाइबनित्ज

गॉटफ्रिड विल्हेल्म लाइबनित्ज ... १०६

अध्याय	पृष्ठ
दशम : अनुभववाद : लॉक	
जॉन लॉक	११९
एकादश : अनुभववाद बर्कले	
जॉर्ज बर्कले	१२९
द्वादश : अनुभववाद : ह्यूम	
डेविड ह्यूम	१३९
त्रयोदश : आलोचनात्मक विज्ञानवाद : कान्ट	
इमान्यूएल कान्त	१५१
चतुर्दश : निरपेक्ष विज्ञानवाद : हेगल	
फ़िक्टे	१८४
शेलिंग	१८९
हेगल	१९२
उपसंहार	२१४
परिशिष्ट : पारिभाषिक शब्दावली	

"विज्ञान-स्वरूप शिव-तत्व का साक्षात्कार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।"

—प्लेटो

श्री

प्रथम खण्ड: प्राचीन युग और मध्य युग

प्रथम अध्याय

ग्रीक दर्शन : सॉक्रेटीज़ तक

पाश्चात्य दर्शन का जन्म ग्रीस मे हुआ। ग्रीक दार्शनिकों ने पहले जड़ जगत का विवेचन किया; फिर अन्तर्मुखी दृष्टि से चेतन आत्म का विश्लेषण किया; और अन्त में जड़ जगत् तथा चेतन आत्मा का समन्वय तत्त्व में कर दिया। ग्रीक दर्शन का अध्ययन पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को जानने के लिए तो आवश्यक है ही, किन्तु उसका अपना भी एक आकर्षण है। ग्रीक दर्शन के बिना पाश्चात्य दर्शन को जानना असम्भव है। पाश्चात्य दर्शन के सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का सूत्रपात ग्रीक दर्शन में हो गया था। ह्वाइटहैड (Whitehead) का यह कथन है कि "यूरोपीय दार्शनिक-परम्परा प्लेटो के सिद्धान्तो पर धारावाहिक टिप्पणी है", सर्वथा सत्य है। एरिस्टॉटल का मध्ययुग की शास्त्रीय विचारधारा पर जो अत्यधिक प्रभाव पड़ा वह प्रसिद्ध है। मध्ययुग में एरिस्टॉटल ज्ञान के प्रतीक माने जाते थे। प्रसिद्ध है कि एक पिता ने अपने पुत्र को, जिसने सूर्य में कुछ धब्बों को अपने वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध किया था, यह पत्र लिखा: "प्रिय पुत्र ! मैने एरिस्टॉटल को कई बार पढ़ा है और मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं कही। अत: निश्चित समझो कि जिन धब्बों को तुम सूर्य मे बताते हो, वे सूर्य में न होकर तुम्हारी ही आँखों मे हैं।" ग्रीक दर्शन के अध्ययन का, यूरोप को धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त करने में और दर्शन का स्वतन्त्र वैज्ञानिक विश्लेषण करने में, विशेष हाथ रहा है। मध्य युग की धार्मिक दासता को समाप्त करके आधुनिक युग का सूत्रपात करने में ग्रीक दर्शन के अध्ययन ने बड़ा योग दिया है। साथ ही साथ, विश्लेषण और सन्देह के कुप्रभाव को रोकने में और संलेषण तथा समन्वयात्मक अन्तदृष्टि जाग्रत करने में एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्" को प्रतिष्ठित करने में भी ग्रीक दर्शन के अध्ययन ने सक्रिय सहायता दी है।

सभ्यता, संस्कृति और दर्शन का ग्रीस में सहसा प्रादुर्भाव होना अनेक विद्वानों के आश्चर्य का विषय रहा है। प्राय: विद्वानों की यही मान्यता है कि यह ग्रीस का अपना स्वतन्त्र विकास है और इसपर को बाह्य प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु बीसवीं

शती के कई अन्वेषणो, विशेषत. भूगर्भ की खुदाई मे प्राप्त कई महत्त्वपूर्ण वस्तुओ से, यह सिद्ध हो गया है कि प्राचीन ग्रीस पर मिस्र और बेबिलोनिया का प्रभाव नि.सन्देह पडा है। यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि भारतीय विचारधारा भी, ईरान, मिस्र और बेबिलोनिया होती हुई, ग्रीस के उपनिवेशो और वहाँ से ग्रीस मे पहुँची हो।

ग्रीक दर्शन का सबसे प्राचीन मत 'माइलेशियन मत' (Milesian School) है, जिसके तीन प्रतिनिधि—थेलीज, एनेक्जिमेण्डर और एनेक्जिमेनीज़ है।

थेलीज़ (Thales)—थेलीज़, पाश्चात्य दर्शन के सर्वप्रथम दार्शनिक है। इनकी गणना ग्रीस के 'सप्तर्षियो मे की जाती है। इन्होने मिस्र की रेखागणित प्रणाली का ग्रीस मे प्रथम बार प्रचार किया। इनका समय ईसा से पूर्व छठी शताब्दी है क्योकि इन्होने ५८५ ई० पूर्व मे होनेवाले सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी कर दी थी।

थेलीज़ के अनुसार विश्व का परम तत्त्व 'जल' है।[1] जल से ही सृष्टि की उत्पत्ति है, जल के ऊपर ही इसकी स्थिति है और जल मे ही इसका प्रलय है। जल, बिन्दु रूप से, सबका जनक है। जल गति और परिणाम का सूचक है और उस परिणाम का आधारभूत तत्त्व भी है। जल तरल है, किन्तु उड़नेवाली भाप के रूप मे और घन बर्फ के रूपमे भी बदलता है। जल जीवन और पोषणके लिए आवश्यक है।

एनेक्जिमेण्डर (Anaximander)—थेलीज के शिष्य थे। इनकी कृति "प्रकृत पर निबन्ध" ('On Nature'), यूरोपीय दर्शन साहित्य की प्रथम रचना है। इसके कुछ अंश प्राप्त हैं। एनेक्जिमेण्डर के अनुसार जल या अन्य किसी भौतिक द्रव्य को परम तत्त्व नही माना जा सकता। परम तत्त्व अनन्त होना चाहिए। चारों भौतिक द्रव्य, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, सान्त है। इनमें परस्पर संघर्ष है। यदि इनमे कोई द्रव्य या महाभूत अनन्त होता तो अनन्य महाभूतों की सत्ता नही रहती। अतः परम तत्त्व इन चारों महाभूतों से भिन्न और इनका भी जनक होना चाहिए। इस परम तत्त्व को उन्होने केवल 'असीम' (Apeiron or The Boundless) कह कर पुकारा है। यह अनन्त, नित्य स्वयम्भू, अविनाशी और अपरिणामी है। इस परम तत्त्व से सब भूतों की उत्पत्ति है, इसी मे उनकी स्थिति है और इसी मे उनका लय है।[2] स्वयं अपरिणामी और अगतिशील होने पर भी यह परम तत्त्व ससार की गति, परिणाम, विरोध और संघर्ष का जनक है। सासारिक पदार्थों मे विरोध या संघर्ष होना अनिवार्य है क्योकि उसी से उनका विकास होता है। इन विचारो का प्रभाव हेरेक्लाइटस और हेगल पर पडा है। एनेक्जिमेन्डर विकासवाद के भी जनक है। इनके अनुसार सृष्टि की 'उत्पत्ति' का वास्तविक अर्थ उसका 'विकास' है। मछली

१. 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।'
२. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। 'जन्माद्यस्य यतः'।

आदि जल-जन्तुओं से पक्षी और पशुओं के द्वारा क्रमशः मनुष्य का विकास हुआ है। एनेक्जिमेन्डर ने, युरोप में पहली बार, पृथ्वी को गोल और सूर्य को पृथ्वी से कई गुना बड़ा बताया। उन्होंने ही प्रथम मानचित्र भी बनाया।

एनेक्जिमेनीज (Anaximenes)—ये एनेक्जिमेण्डर के शिष्य बताये जाते हैं। इनमें न तो अपने गुरु जैसी प्रतिभा थी और न वैसी मौलिकता। इन्होंने वायु को परम तत्त्व माना और उसे असीम और अनन्य बताया। वायु ही अग्नि का रूप लेती है और तरल होकर जल बन जाती है एवं जम कर पृथ्वी के रूप में परिणत हो जाती है। आत्मा भी प्राणवायु ही है। इससे गति और जीवन का संचार होता है। समस्त लोक वायु के आधार पर टिके हुए है।

माइलेशियन मत का महत्त्व उसके सिद्धान्तों की अपेक्षा उसकी अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण अधिक है।

माइलेशियन मत के बाद पाइथेगोरियन मत का जन्म हुआ। इसके संस्थापक **पाइथेगोरस** (Pythagoras) थे। इनमें वैज्ञानिक विश्लेषण और रहस्यवादी साधना का समन्वय था। इनका समय ईसा से पूर्व छठी शताब्दी है। गणित के ये संस्थापक माने जाते है। रेखागणित में इनके नाम से इनका एक सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है। इनके अनुसार सब पदार्थ संख्यामात्र (Numbers) हैं। संगीत को ये मानसिक दोष दूर करनेका साधन मानते थे और दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहते थे। जैसे संगीत में विविध स्वर एक ही तान को ध्वनित करते हैं, वैसे ही दर्शन में भी सब सांसारिक पदार्थ, परस्पर भिन्न होते हुए भी एक ही तत्व का राग अलापते हैं। माइलेशियन दार्शनिकों ने 'द्रव्य' (Matter) का विवेचन किया। पाइथेगोरस ने 'स्वरूप' (Form) की प्रतिष्ठा की। स्वरूप अतीन्द्रिय, सामान्य और विज्ञानरूप है। अभेद, समन्वय और सामंजस्य इसी के कारण संभव होते हैं। गणित का विषय 'विज्ञान' है। इन्द्रियों द्वारा अनुभूत जगत् मे जितने भी विभिन्न पदार्थ हैं, वे सब विज्ञानों की क्षीण प्रतिकृति हैं। पाइथेगोरस के इन विचारों का प्रभाव प्लेटो के विज्ञानवाद पर पड़ा है।

पाइथेगोरस ने अपने 'समाज' की स्थापना की। इस संस्था के सदस्य धार्मिक और नैतिक जीवन बिताते हुए दर्शन की चर्चा और रहस्यमय साधना करते थे। वे निरामिष भोजी थे और पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। आत्मा की अमरता और ईश्वर की प्रभुता को मानते थे। त्याग, तपस्या और संयम पर उनका विशेष ध्यान था। कर्मवाद में उनकी अटल श्रद्धा थी। प्राक्तन कर्मों से यह जीवन बना है और इस जन्म के कर्म पुनर्जन्म के स्वरूप का निर्माण करेंगे। शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। गुरु और शिष्य के साक्षात् सम्पर्क को वे बहुत महत्त्व देते थे। असली विद्या गुरुकृपा से प्राप्त होती है। संसार जन्म-मरण का चक्र है। इस भवचक्र से छुटकारा पाना मानव-जीवन की सार्थकता है। यह ज्ञान से ही संभव हो

सकता है। दर्शन ज्ञान का प्रेम है। असली ज्ञान तटस्थ द्रष्टा का ज्ञान है। निर्लिप्त होकर इस जगत मे साक्षी के समान रहना सर्वोत्तम है ! औलिम्पिक खेलो मे तीन प्रकार के मनुष्य आते है—प्रथम, वे जो केवल क्रय-विक्रय करने आते हैं; द्वितीय, वे जो खेल मे भाग लेते है; और तृतीय वे है जो केवल दर्शक बनकर आते हैं। इसी प्रकार इस जीवन मे भी तीन श्रेणियो के लोग है—सबसे नीचे वे है जो केवल क्रय-विक्रय करते है, मध्यम श्रेणी मे वे लोग है जो इस जीवन के खेल मे सक्रिय भाग लेते है; उत्तम श्रेणी मे वे है जो केवल तटस्थ द्रष्टा है। इन्ही को क्रमश. धन के प्रेमी, यश के प्रेमी और ज्ञान के प्रेमी कहा जाता है ! ज्ञान का प्रेमी होना अर्थात् तटस्थ दार्शनिक होना सर्वोत्तम है। प्लेटो ने भी पाइथेगोरस के इन विचारो को अपनाया है। महावीर और बुद्ध के समसामयिक पाइथेगोरस के विचार भारतीय विचारो से बहुत कुछ मिलते है।

द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form) की समस्या के बाद ग्रीक दर्शन में परिणाम (Becoming) और सत्ता (Being) की समस्या आती है।

हेरेक्लाइटस Heraclitus)—ये ईसा से पूर्व छठी शताब्दी के अन्त और पाँचवी शताब्दी के आरम्भ मे हुए। भगवान् बुद्ध के अन्तिम दिनों मे इनका जन्म हुआ था। इनका जन्म भी राजकुल में हुआ था और ये अपने छोटे भाई को उत्तराधिकारी घोषित करके विरक्त हो गये थे। ये बड़े स्वाभिमानी और प्रतिभाशाली थे। रहस्यवाद की ओर इनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। इनकी सूक्तियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होने लिखा है—'मेरा दर्शन इने-गिने सुयोग्य व्यक्तियों के लिए ही है, क्योंकि गधों को घास चाहिये, स्वर्ण नहीं।'' हेरेक्लाइटस क्षणभङ्गवादी थे।

हेरेक्लाइटस के अनुसार अग्नि या तेजस्तत्व परम तत्व है। इसी से जल और पृथ्वी उत्पन्न होती है यह तत्त्व ज्वलन्त और गतिशील है। अग्नि और परिणाम दोनों एक है। संसार मे कुछ भी नित्य नहीं है। सब अनित्य और क्षणिक है। वस्तुतः कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो गतिशील या परिणामी हो, किन्तु गति या परिणाम ही एकमात्र तत्व है। विश्व गति है, परिणाम है, धारा है, प्रवाह है, सन्तान है। कोई भी व्यक्ति एक नदी में दो बार नहीं नहा सकता, क्योंकि जिस पानी में प्रथम बार स्नान किया वह बह गया और उसके स्थान पर दूसरा पानी आ गया। दूसरी बार स्नान दूसरे पानी में ही हो सकता है। अग्नि-शिखा प्रतिक्षण बदलती रहती है। कोई वस्तु दो क्षणों तक नहीं टिक सकती। नदी में प्रतिक्षण पानी बहता रहता है; अग्नि-शिखा में प्रतिक्षण लौ नयी उठती रहती है। 'एकता' की भ्रान्ति 'समानता' और 'अविच्छिन्न वेग' के कारण होती है। एक जल-समूह दूसरे जल-समूह के समान है और एक लौ दूसरी लौ के समान है। अविच्छिन्न वेग से एक के बाद तुरन्त दूसरा जल समूह या दूसरी लौ आती रहती है। अतः हमें यह भ्रान्ति हो जाती है कि, यह

वही पानी है' या 'यह वही शिखा है।' अखंड गति, निरन्तर परिवर्तन, अविच्छिन्न प्रवाह, अटूट धारा—यह संसार का नियम है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि बौद्धों ने भी अपने क्षणभंगवाद के प्रतिपादन में जल-प्रवाह और दीप-शिखा के दृष्टान्त दिये हैं।

हेरेक्लाइटस ने संघर्ष, विरोध, निषेध और अभाव को बहुत महत्त्व दिया है। विरोध और निषेध का अर्थ गति या परिवर्तन है। अत: जीवन के लिए विरोध आवश्यक है। विरोध का अभाव मृत्यु है। विरोध या निषेध के बिना गति या विकास सम्भव नहीं। प्रत्येक वस्तु अपनी शक्ति से अपनी विरोध वस्तु में बदलती है और फिर उसको भी अपने साथ लेकर आगे चलती है। विरोध का अर्थ आत्यान्तिक विरोध नहीं है। हेरेक्लाइटस ने तर्कशास्त्र के विरोध-नियम को तिलाञ्जलि नहीं दी है। विरोध का अर्थ है परिवर्तन। आत्यन्तिक विरोध असम्भव है; यह हमारी कल्पना है, वस्तुसत्य नहीं। पक्ष का विपक्ष में परिवर्तन होता है और फिर समन्वय की आवश्यकता होती है। विरोध तो साधन मात्र है; साध्य समन्वय है। पक्ष और विपक्ष का विरोध (Strife of Opposites) समन्वय (Attunement) को उत्पन्न करता है। हेरेक्लाइटस ने इसे दो दृष्टान्तों से समझाया है। प्रथम, जब धनुष से वाण चलाया जाता है तो चलाने वाले के दोनो हाथ विरोधी दिशाओं में खिंचते जाते हैं, किन्तु लक्ष्य उनका एक ही है। द्वितीय, वीणा के तार भिन्न-भिन्न रीति से खींचे जाते हैं, और तब भी विभिन्न स्वर एक ही राग को उत्पन्न करते हैं। अत: विरोध समन्वय का जनक है। हेरेक्लाइटस के इन विचारों को आगेचलकर हेगल ने अपनाया है।

हेरेक्लाइटस में सापेक्षवाच (Relativism) और बुद्धिवाद (Rationalism) दोनों मिलते हैं। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है अत: प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। जो क्षणिक है, उसका सापेक्ष होना अनिवार्य हैं समुद्रका पानी मछली के लिए मीठा और मनुष्य के लिए खारा। "हम हैं भी और नहीं भी हैं।" हम 'सत्' भी है, 'असत्' भी हैं, और 'सदसद निर्वचनीय' भी। जितने भी द्वन्द्व हैं, सब सापेक्ष हैं–एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ, एक और अनेक, अच्छा और बुरा, गति और स्थिति, परिणाम और सत्ता, जीवन और मरण, सर्दी और गर्मी आदि। जीवन अग्नि है; सुषुप्ति जल है, मृत्यु पृथ्वी है। अग्नि, जल और पृथ्वी–यह 'अवनत मार्ग (Ano or The way Down) है; पृथ्वी जल और अग्नि–'यह उन्नत मार्ग (Keto or the Way up) है।[२] अवनत मार्ग तत्त्व के अवतार (Descent) या तिरोभाव (Evolution) का मार्ग है· उन्नत मार्ग तत्त्व के आविर्भाव (Ascent) या विकास (Evolution) का

१. बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद।

२. बन्ध और मोक्ष; संसार और निर्वाण; पितृयान और देवयान; कृष्ण और शुक्ल आदि।

मार्ग है। संसार में, व्यवहार में, ये दोनों मार्ग भिन्न प्रतीत होते हैं। परमार्थ में ये दोनों मार्ग एक हो जाते हैं।[1]

हेरेक्लाइटस सापेक्षवाद पर ही नहीं रुक जाते; उनकी प्रवृत्ति बुद्धिवाद की ओर भी है। अग्नि विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है और सब कुछ इस अग्नि का परिणाम है। यह विश्व का सौर्वभौम नियम है। यह चेतन विज्ञान (Logos) है। वह दिक्काला-तीत है। इन्द्रियानुभूतिजन्य ज्ञान क्षीण और मन्द होता है। यह 'उन्नत मार्ग' है। शुद्ध ज्ञान और विज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है। यह 'उन्नत मार्ग' है। साँसारिक मनुष्य अपनी उदर-पूर्ति में ही लगे रहते हैं। उन्हें इस विज्ञान का साक्षात् करने की आव-श्यकता प्रतीत नहीं होती। यह विशुद्ध विज्ञान निरन्तर जलने वाली अग्नि की ज्योति है। इसका साक्षात्कार मानव-जीवन का लक्ष्य है।

हेरेक्लाइटस का प्रभाव परवर्त्ती यूरोपीय दार्शनिकों पर बहुत अधिक पड़ा है। उनके 'विशुद्ध विज्ञान 'और' 'सापेक्षवाद' का प्रभाव प्रोटेगोरस के इस सिद्धान्त पर कि 'विज्ञानात्मा मनुष्य ही सब पदार्थों का मानदण्ड है, (Homo Mensura) स्पष्ट है। प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत के लिए हेरेक्लाइटस का क्षणिकवाद और सापेक्षवाद स्वीकार कर लिया। उसके सापेक्षवाद ने सोफिस्ट लोगों (Sophists) को और बुद्धिवाद ने स्टोइक्स (Stoics) को प्रभावित किया। उनके बुद्धिवाद का प्रभाव आधुनिक युग के बुद्धिवादियों पर पडा। उनका यह सिद्धान्त कि "बालक के समान निर्मल हुए बिना ज्योति का सावात्कार नहीं होता" ईसाई धर्म को भी मान्य हुआ।[2] उनके संघर्ष के सिद्धान्त की छाप नीत्शे पर पड़ी। उनके क्षणिकवाद का प्रभाव ह्यूम विलियम जेम्स बर्गसाँ पर पड़ा। उनके विरोध या निषेध और समन्वय सम्बन्धी विचार हेगल ने स्वीकार किये।

जोनोंफेनीज (Zenophanes)—ये स्वतन्त्र विचारक और बुद्धिवादी थे तथा चुभते हुए व्यंग कसने मे निपुण थे। ये ईश्वर को निराकार और अन्तर्यामी मानते थे और मानव कल्पित सगुण ईश्वर का खण्डन करते थे। इनका यह कथन प्रसिद्ध है कि "यदि बैलों, घोड़ों ओर शेरो के हाथ मनुष्य के समान होते और उन हाथों से वे चित्र बना सकते, तो वे ईश्वर को क्रमशः बैल, घोड़े और शेर के रूप में चित्रित करते" इनके अनुसार ईश्वर, निराकार, नित्य, अपरिणामी और अन्तर्यामी है। ईश्वर सब में है और सब कुछ ईश्वर में है।

पार्मेनाइडीज (Parmenides) इनका समय ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी है। प्लेटो के अनुसार जब एथेन्स में इनका वार्तालाप सॉक्रेटीज से हुआ तब इनकी

---

१. 'यः संसारस्तन्निर्वाणम्' और 'बन्ध एव मोक्षः'

२. तस्माद ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

अवस्था ६५ वर्ष की थी। पार्मेनाइडीज् ने कविता में अपनी दार्शनिक कृति लिखी है जिसमें ये स्वर्ग पहुँचते हैं और वहाँ एक देवी इनको सत्य का दर्शन कराती है।

पार्मेनाइडीज का दर्शन हेरेक्लाइटस के क्षणिकवाद का तीव्र खण्डन करता है। इसके अनुसार तत्त्व 'सत्' है, परिणाम या गति नहीं। तत्त्व 'शुद्ध सत्ता' (Pure Being) है। वह एक, अद्वितीय, नित्य, अपरिणामी, अविनाशी और कूटस्थ है। गति या परिवर्तन भ्रान्ति है। यह व्यवहार का मार्ग (Way of Opinion) है। शुद्ध 'सत्' परमार्थ का मार्ग (Way of Truth) है।

पार्मेनाइडीज् का शुद्ध 'सत्' 'चित्' भी है। वह विशुद्ध विज्ञानरूप है। सत्ता और बोध एक ही हैं। सत् सदा समरस या एक-सा रहता है। उसमें कोई विक्रिया या परिणाम नहीं होता। वह निरपेक्ष, पूर्ण, स्वयम्भू और नित्य है। गति या परिवर्तन का अर्थ है 'असत्' और 'सत्' कभी 'असत्' नहीं हो सकता। यदि 'सत्' की परिणति हो, तो वह या तो 'सत्' के रूप में होगी या 'असत्' के रूप में। यदि 'सत्' की परिणति हो, तो यह कोई परिणति नहीं हुई। और यदि 'सत्' की परिणति 'असत्' में हो, तो यह असम्भव है। यदि 'सत्' की उत्पत्ति 'असत्' से हो, तो यह असम्भव है क्योंकि शून्य से किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। और यदि 'सत्' की उत्पत्ति 'सत्' से हो तो यह कोई उत्पत्ति नही हुई; क्योंकि इसकी कोई आवश्यकता नही अर्थात् जो वस्तु 'सत्' या विद्यमान है उसे फिर 'उत्पन्न' करने की क्या आवश्यकता ? इससे सिद्ध हुआ कि गति या परिणाम भ्रान्ति है और तत्त्व सदा अपरिणामी एवं कूटस्थ है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि वस्तुतः इस विश्व की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह संसार गतिशील है और भ्रममात्र है। इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं; इसकी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं। यह पार्मेनाइडीज् का 'मायावाद' या 'अजातिवाद' है।[1]

'सत्' अविभाज्य है। उसके विभाग या खण्ड नहीं हो सकते। वह व्यापक है; अतः परमाणुओं को 'सत्' नही कहा जा सकता। वे भी भ्रममात्र हैं।

'सत्' एक या अद्वितीय और निरपेक्ष है। दो 'सत्' मानने पर दोनों सापेक्ष हो जावेंगे और निरपेक्ष नहीं रह सकेंगे। फिर वे दोनों एक दूसरे की सत्ता को नष्ट कर देंगे। समस्त द्वैत, भेद या प्रपञ्च भ्रान्तिमात्र है। तत्त्व अद्वय 'सत्' ही है।

'सत्' पूर्ण है। उसको कोई इच्छा या कामना नहीं है, अन्यथा वह अपूर्ण हो जायगा। वह 'आप्तकाम' है।

'सत्' अनन्त है। उसे सान्त मानने पर वह विनाशी और असत् बन जायगा। वह अपरिणामी और कूटस्थ है।

१. शून्यवादी बौद्धों और अद्वैत वेदांतियों ने भी ऐसे तर्कों का प्रयोग किया है।

'सत्' स्वयंभू है। उसका स्वयं कोई कारण नहीं है। वह सबका कारण है। उसके कारण की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है।

'सत्' विज्ञानरूप है। वह जड़ नहीं हो सकता, क्योंकि असत् का द्योतक है।

पार्मेनाइडीज़ को यूरोपीय विज्ञानवाद का संस्थापक कहा जा सकता है। उनके अनुसार 'सत्' और चित्' एक ही हैं। उन्हें व्यवहार और परमार्थ का भेद भी मान्य है। वे परम अद्वैतवादी है। उनका 'सत्' विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। प्लेटो और एरिस्टॉटल भी पार्मेनाइडीज़ को विज्ञानवादी ही मानते है। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार पार्मेनाइडीज़ ने 'सत्' को अपनी कविता के एक स्थल में 'गतिशून्य गोल द्रव्य' कहा हैं। इस स्थल को आधार मानकर प्रोफ़ेसर बर्नेट और जेलर ने 'सत्' को 'भौतिक' मान लिया है। किन्तु यह अनुचित है। पार्मेनाइडीज़ ने 'सत्' की 'गोल द्रव्य' से तुलना की है, उसे 'गोल द्रव्य' रूप नहीं बताया है। किसी भी व्यक्ति को 'गधा' कहने से वह वास्तव में गधा नहीं हो जाता। और फिर, पार्मेनाइडीज़ के सारे काव्य की केन्द्रीय विचारधारा को न देखकर केवल स्थल पर विशेष आग्रह देना भी उचित प्रतीत नहीं होता। प्रोफ़ेसर गॉम्पर्ज और एडम्सन ने पार्मेनाइडीज के 'सत' को "अनात विज्ञान और अनन्त जड़ का सम्मिश्रण" बताया है। प्रोफ़ेसर वेबर का कथन है कि "पार्मेनाइडीज़ और हेरेक्साइटस का अद्वैतवाद उस संगमरमर के खण्ड के समान है जिसको हाथ धोने के पात्र का या देवता की मूर्ति का रूप दिया जा सकता है; उसका विकास जड़ाद्वैतवाद में भी किया जा सकता है और विज्ञानद्वैतवाद में भी।" हमारे मत में पार्मेनाइडीज़ को विज्ञानाद्वैतवादी मानना ही उचित है। प्लेटो और एरिस्टॉटल का इस विषय में अनुकरण करना योग्य है। वे दोनों भी पार्मेनाइडीज़ को विज्ञानाद्वैतवादी ही मानते थे। पार्मेनाइडीज़ के अनुयायी मेलिसस ने भी इसी की पुष्टि की है। यह सत्य है कि विज्ञानाद्वैतवाद पार्मेनाइडीज़ में उस विकसित रूप में नही मिलता जिसमें वह प्लेटो या स्पिनोज़ा में मिलता है और वह स्वाभाविक भी है।

हेरेक्लाइटस और पार्मेनाइडीज़ दोनों ने इन्द्रियानुभूति का विश्वास न करके तत्त्व को विज्ञान में खोजा। हेरेक्लाइटस का ध्येय 'अवनत मार्ग' से 'उन्नत मार्ग' की ओर, और पार्मेनाइडीज़ का ध्येय 'व्यवहार' से 'परमार्थ' की ओर जाने का था। दोनों ने तत्त्व को विज्ञानस्वरूप माना। हेरेक्लाइटस ने 'विज्ञान के सार्वभौम नियम' (Logos) की और पार्मेनाइडीज़ ने 'चिद्रूप शुद्ध सत्ता' (Pure Being) की प्रतिष्ठा की। दोनों ही विज्ञानद्वैतवादी थे। किन्तु दोनों के निष्कर्ष भिन्न थे। हेरेक्लाइट के अनुसार नित्यत्व भ्रान्ति है और पार्मेनाइडीज़ के अनुसार अनित्यत्व और परिणाम भ्रान्ति हैं।

जीनो (Zeno)—जीनो ईलिया के निवासी और पार्मेनाइडीज़ के पट्ट शिष्य थे। उनके प्रखर तर्कों के प्रहार भयंकर होते थे। उन्होंने विरोधियों का प्रबल खण्डन करके भेच-प्रपंच और गति को भ्रान्तिमात्र सिद्ध किया। भेद-प्रपंच के विरुद्ध उनके तर्क इस प्रकार है :—

यदि 'सत्' अनेक-रूप हो तो उसे एक साथ अणु से भी अणु और महान् से भी महान् होना चाहिये। अनेक-रूप होने के कारण उसे विभाज्य और सत् होनेके कारण अविभाज्य होना चाहिये। किन्तु ये दोनों धर्म एक साथ नही रह सकते। अतः 'सत्' अद्वितीय है और भेद-प्रपंच मिथ्या है।

यदि 'सत्' अनेक-रूप हो तो उसे एक साथ 'सान्त' और 'अनन्त' दोनों होना पड़ेगा जो असंसगत है।

गति के विरुद्ध जीनो के तर्क ये हैं—

गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के पहले इस दूरी की आधी दूरी तक जाना पड़ेगा और इस आधी दूरी के पहले इसकी भी आधी दूरी तय कर लेनी पड़ेगी और इस प्रकार आधी दूरी की सम्भावना सी बनी रहने के कारण गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। 'सान्त' समय में यह 'अनन्त' दूरी तय नहीं की जा सकती।

एकीलीज़ (ग्रीस का सबसे तेज दौड़ने वाला पौराणिक व्यक्ति) भी दौड़ में एक कछुए के आगे नहीं निकल सकते, यदि कछुआ उनसे पहले चल चुका हो, क्योंकि जब एकिलीज़ 'क' नामक स्थान पर पहुँचेंगे तब तक ,कछुआ 'ख' पर पहुँच जायगा और जब एकिलीज 'ख' पर पहुँचेंगे तब तक कछुआ 'ग' पर पहुँच जायगा और इस प्रकार गति का अन्त नहीं होगा।

वेग से उड़ता हुआ तीर भी वस्तुतः स्थिर है, क्योंकि गति का आरम्भ नहीं हो सकता।

अतः न गति का आरम्भ है. न मध्य और न अन्त। इसलिये गति केवल भ्रान्ति है।[१]

मेलिसस (Melisus)—जीनो ने विरोधियों का खण्डन करके पार्मेनाइडीज़ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मेलिसस ने पार्मेनाइडीज़ के तर्कों को और अधिक पुष्ट किया। पार्मेनाईज़ के 'सत्' के विषय में कुछ आधुनिक विद्वानों को जो भ्रांति हो गई है कि यह 'सत' भौतिक है या कि भौतिक और विज्ञान रूप दोनों हो सकता है,

१. बौद्धों, वेदान्तियों ओर ब्रैडले ने भी ऐसे तर्कों का प्रयोग किया है।

और जिस भ्रान्ति का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं उस भ्रान्ति का मेलिसस ने निराकरण कर दिया था। मेलिसस ने 'सत्ता-शून्य आकाश' का खंडन करके 'सत्' को अनन्त विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया। शून्य प्रतीत होनेवाला आकाश भी अनंत 'सत्' से पूर्ण है और यह तभी हो सकता है जब यह 'सत्' भौतिक न होकर विज्ञान रूप हो।

हेरेक्लाइटस का 'परिणाम' अपरिणामी अधिष्ठान के बिना सम्भव नहीं। पार्मेनाइडीज़ का 'सत्' पूर्ण निर्गुण होने के कारण शून्यवत् प्रतीत होता है। अतः इन दोनों का समन्वय होना आवश्यक था। यह कार्य अपने-अपने दृष्टिकोणों से एम्पेडोक्लीज़, एनेक्जेगोरस और ल्यूसिपस तथा डिमॉक्रिटस ने किया। इस समन्वयात्मक कार्य में हेरेक्लाइटस के 'परिणाम' और पार्मेनाइडीज़ के 'सत्' के साथ माइलेशियन मत के 'द्रव्य' का भी मिश्रण कर दिया गया।

एम्पेडोक्लीज़ (Empedocles)—एम्पेडोक्लीज़ का व्यक्तित्व महान् था। उनको राज्य-सिंहासन भेंट किया था, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वे देव-तुल्य पूज्य समझे जाते थे और जहाँ कहीं भी वे जाते थे हजारों नर-नारी उनके उपदेशों को सुनने के लिये लालायित रहते थे।

एम्पेडोक्लीज़ पार्मेनाइडीज़ के समान; 'सत्' को नित्य और अविकारी मानते हैं। 'सत्' की न उत्पत्ति है और न विनाश। वे हेरेक्लाइटस से इस बात में सहमत हैं कि संसार में परिणाम का साम्राज्य अखण्ड है। माइलेशियन दार्शनिकों में थेलीस ने जल को और एनोक्जिमेनीज़ ने वायु को परमतत्त्व माना था। हेरेक्लाइटस ने अग्नि को परम तत्त्व स्वीकार किया था। एम्पेडोक्लीज़ ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूपी चारों महाभूतों को 'सत्' मान लिया। ये चारों महाभूत नित्य; अविकारी और मौलिक हैं। इनकी न उत्पत्ति होती है और न इनका विनाश होता है। इनका केवल संयोग और वियोग होता है। इस संयोग-वियोग को सिद्ध करने के लिये एम्पेडोक्लीज ने दो धर्मों की कल्पना की। एक को उन्होंने 'प्रेम' (Love) कहा और दूसरे को विरोध (Discord)। उनके 'प्रेम' को आकर्षण और 'विरोध' को विकर्षण कहा जा सकता है। 'प्रेम' संयोग का जनक है और 'विरोध' वियोग का। इन चारों महाभूतों के संयोग और वियोग के कारण सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। आरंभ में ये चारों महाभूत दिव्य लोक में संयुक्त थे। जब 'विरोध' ने 'प्रेम' पर विजय प्राप्त कर ली तब इनका परस्पर वियोग हो गया। तब से ही सृष्टि की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। सर्वप्रथम वायु वियुक्त हुआ, फिर अग्नि, फिर जल और फिर पृथ्वी। जब 'प्रेम' का प्राधान्य होगा तब ये महाभूत फिर दिव्यलोक में संयुक्त हो जायेंगे। यह प्रलय की अवस्था होगी। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का क्रम चलता रहेगा।

एम्पेडोक्लीज़ के विचारों का न्याय-वैशेषिक के विचारों से बहुत-कुछ साम्य

स्पष्ट है। किन्तु दोनों में कई महत्त्वपूर्ण भेद भी हैं। न्याय-वैशेषिक में आत्मा और परमात्मा तथा अदृष्ट का विशिष्ट स्थान है। एम्पेडोक्लीज़ के दर्शन में इनका कोई स्थान नहीं और न उन्होंने अपने महाभूतों को परमाणुरूप माना। इसके लिये ग्रीक दर्शन को एनेक्जेगोरस, ल्यूसिपस और डमॉक्रिटस की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

एनेक्ज़ेगोरस (Anaxagoras)—एनेक्ज़ेगोरस 'सत्' को नित्य, अविकारी और उत्पत्ति-विनाश-रहित मानने मे पार्मेनाइडीज और एम्पेडोक्लीज से सहमत है। उत्पत्ति को संयोग और विनाश को वियोग माने मे वे एम्पेडोक्लीज़ से सहमत है, किन्तु एनेक्ज़ेगोरस के अनुसार एम्पेडोक्लीज़ के चार महाभूत मौलिक तत्त्व नहीं है, ये भी मौलिक तत्त्वों के संयोग से बने है। ये मौलिक तत्त्व अनन्त हैं। इनको एनेक्ज़ेगोरस ने 'बीज' (Seeds) कहा है। ये 'बीज' अपने मौलिक रूप में विश्व भर मे व्याप्त थे। इनमें सहसा वेग से गति उत्पन्न हुई जिसके कारण समान 'बीज' परस्पर आकर्षित होकर एक दूसरे से मिलते चले गये और इस प्रकार इस सृष्टि का निर्माण हुआ।

किन्तु समस्या यह थी कि यह गति कैसे उत्पन्न हुई? इस समस्या का समाधान करने में एनेक्ज़ेगोरस को सहसा एक ऐसी सुन्दर कल्पना सूझी जिसके कारण ग्रीक दर्शन में आज तक उनको प्रतिष्ठित स्थान मिला हुआ है। एनेक्ज़ेगोरस ने यह स्पष्ट स्वीकार किया कि गत जड 'बीजों' में स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती। गति का कारण चेतन तत्त्व ही हो सकता है जो शक्तिमान् है। इस चित्शक्ति-युक्त तत्त्व को एनेक्ज़ेगोरस ने 'परम विज्ञान' (Nous) का नाम दिया। यह 'परमविज्ञान' समस्त विश्व का अधिष्ठाता है और 'बीजों' में गति उत्पन्न करने का कारण है। यह त्रिकालदर्शी है और समस्त जीवन का मूलस्रोत है। यह बीजों का भी 'बीज' है और विश्व में सामंजस्य और एकरूपता उत्पन्न करता है।[1]

हेरेक्लाइटस ने अपने अग्नितत्त्व को विज्ञानरूप (Logos) माना था। पार्मेनाइडीजने भी अपने 'सत्' का विज्ञान रूप (Thought) माना था। किन्तु वे दोनों ही इस विज्ञान के स्वरूप को विशद नहीं कर पाये। एनेक्ज़ेगोरस को इस बात का श्रेय कि उन्होंने अपने 'परम विज्ञान' (Nous) को इस रूप में रक्खा। किन्तु दुःखकी बात है कि स्वयं एनेक्ज़ेगोरस इस 'परम विज्ञान' से लाभ नही उठा सके। वे भी इसका विशुद्ध विवेचन नहीं कर सके। इसका मुख्य कार्य 'बीजों' में गति उत्पन्न करने तक ही सीमित रह गया। इसके लिए दर्शन को सॉक्रेटीज़ को प्रतीक्षा करनी पड़ी। प्लेटो ने सॉक्रेटीज के मुँह से कहलाया है : "मैंने एक व्यक्ति को एनेक्ज़ेगोरस की पुस्तक पढ़कर कहते हुए सुना कि उनके अनुसार इस विश्व की उत्पत्ति और उसके सामंजस्य

---

1. न्यायवैशेषिक में यह कार्य ईश्वर अदृष्ट की सहायता से करते हैं।

का करण 'परम विज्ञान' है। मुझे यह सुनकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। किन्तु थोड़ी देर बाद ही मेरी आशाओं पर पानी फिर गया। मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने अपने 'परम विज्ञान' का कोई प्रयोग नहीं किया।"

जिस प्रकार प्रोफेसर बर्नेट पार्मेनाइडीज् के 'सत्' को जड़ और प्रोफ़ेसर गॉम्पर्ज् उसे 'जड़-चेतन' मानते है, उसी प्रकार का भाग्य इन विद्वानो के हाथो एनेक्जेगोरस के 'परम विज्ञान' को भी मिला है। प्रोफ़ेसर बर्नेट ने इसे "अत्यन्त सूक्ष्म जड़ तत्व" कहने की कृपा की है और प्रोफ़ेसर गॉम्पर्ज् ने इसे "न तो सर्वथा जड़ और न सर्वथा चेतन" बतलाया है। जिस प्रकार मेलिसस, प्लेटो और एरिस्टॉटल पार्मेनाइडीज् के 'सत्' को विज्ञानरूप समझते थे, उसी प्रकार प्लेटो और एरिस्टॉटल एनेक्जेगोरस के 'परम विज्ञान' को, जैसा नाम से ही स्पष्ट है विज्ञानरूप मानते थे। उनकी शिकायत यही थी कि एनेक्जेगोरस अपने इस 'परम विज्ञान'का सदुपयोग नहीं कर सके। प्लेटो का उद्धरण उपर दिया जा चुका है। एरिस्टॉटल का कथन यह है : "एनेक्ज़ेगोरस ने अपने 'परम विज्ञान' से वही काम किया जो नाटककार अपने नाटक मे, ऐसी विषम परिस्थिति आ जाने पर जिसे वे सुलझा नहीं सकते, 'भगवान् के हस्तक्षेप' से लेते है (अर्थात् भगवान के हस्तक्षेप से कोई अनहोनी घटना घटाकर विषम परिस्थिति को सुलझा लेते हैं) । इस 'परम विज्ञान' का कार्य अपने स्वर्ग से उतरकर उस दुःखपूर्ण ग्रन्थि को काट देना था जिसे सुलझाने का अन्य कोई साधन नहीं था (अर्थात् 'बीजों' में गति का संचार कर देना ही इसका कार्य था)।"

परमाणुवादी ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस—एम्पेडोक्लीज् और एनेक्ज़ेगोरस ने परमाणुवादी ल्यूसिपस (Leusipus) और उनके प्रसिद्ध शिष्य डिमॉक्रिटस (Democritus) के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया था। ये परमाणुवादी एम्पेडोक्लीज् और एनेग्ज़ेगोरस से इस विषय में सहमत थे कि परमतत्त्व नित्य' अविकारी तथा उत्पत्ति-विनाश-रहित हैं और उत्पत्तिका अर्थ संयोग तथा विनाशका अर्थ वियोग मात्र है। वे एनेक्ज़ेगोरस से इस विषय में सहमत थे कि एम्पेडोक्लीज् के चारों महाभूत मौलिक न होकर मौलिक द्रव्यों के संयोगमात्र है। एम्पेडोक्लीज् के 'बीजों' को परमाणुवादियों ने अपने अविभाज्य परमाणुओ में परिणत कर दिया। एम्पेडोक्लीज् ने गति के लिये 'प्रेम' और 'विरोध' की कल्पना की और एनक्ज़ेगोरस ने 'परम विज्ञान' की शरण ली, किन्तु परमाणुवादियों ने गति को परमाणुओं का ही धर्म मान लिया।

ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस के परमाणु मौलिक, अविभाज्य, अतीन्द्रिय, नित्य, उत्पत्ति-विनाश-रहित जड़ तत्त्व हैं। गति उनका धर्म है। उनमें केवल संख्या,परिमाण और आकार का भेद है, अन्य गुणों का भेद उनमें नहीं है। वे आकाश में स्थित हैं और एक दूसरे से अलग हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का अर्थ है उनका परस्पर संयोग और

विनाश का अर्थ है उनका परस्पर वियोग। आत्मा या विज्ञान कोई अलग तत्त्व नहीं है; यह भी इन परमाणुओं के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणुओ में गुण-गत भेद भी हैं, किन्तु जैनों और ग्रीक परमाणुवादियों के अनुसार गुण-गत भेद नही है। न्याय-वैशेषिक और जैनों के अनुसार आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है और परमाणु संयोग से उत्पन्न नहीं होता। न्याय-वैशेषिक के अनुसार गति के कारण ईश्वर हैं, जो अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति संचार करते है। जैनों के अनुसार गति कर्म से उत्पन्न होती है। ग्रीक परमाणुवादियों के अनुसार गति परमाणुओ का अपना ही धर्म है।

सोफिस्ट सम्प्रदाय (The Sophists)—ईसा पूर्व पाँचवीं शती के मध्य में ग्रीस मे सन्देहवाद की धारा वेग से बही। धार्मिक अन्धविश्वास उखड़ रहे थे और सामाजिक तथा नैतिक जीवन की रूढ़ियों पर भी आँच आ रही थी। जिन लोगों ने इस विचार-स्वातन्त्र्य को लाने मे सहायता दी वे 'सोफिस्ट' कहलाते हैं। ये लोग अपने अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो की उपज हैं। प्रारम्भ मे 'सोफिस्ट' शब्द का कोई बुरा अर्थ नही था। ग्रीक प्रजातन्त्र में जो युवक राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे उच्च पदो के अभिलाषी थे और न्यायालयों में वकील बनने के इच्छुक थे उनका अन्य बातो के ज्ञान के साथ-साथ तर्कपटु और कुशलवक्ता होना आवश्यल था। उस समय आधुनिक ढंग के विद्यालय तो थे नही, अतः सोफिस्ट लोग नगर-नगर घूमकर सम्पन्न परिवारों के नवयुवको से शुल्क लेकर वक्तृत्वकला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, तर्कशास्त्र आदि की शिक्षा देते थे। प्रारम्भ के सोफिस्ट तो दर्शन और ज्ञान में सच्चा प्रेम रखते थे, किन्तु बाद के सोफिस्ट केवल वृत्ति-प्रेमी और धन के लोभी ही थे। पर्याप्त धन मिलने पर वे किसी बाजारू कुत्ते को अपना पिता सिद्ध कर सकते थे। अतः बाद में वे हीन दृष्टि से देखे जाते लगे और 'सोफिस्ट' शब्द की रूढ़ि व्यर्थ तर्क करनेवाले के अर्थ में हो गई।

प्रोटेगोरस (Protagoras)—प्लेटो ने अपनी एक कृति इन्हीं के नाम पर लिखी है जिससे सिद्ध होता है कि प्लेटो इनका आदर करते थे। प्रोटेगोरस का सिद्धान्त, "मानव सब पदार्थों का मानदण्ड है" (Homo Mensura), प्रसिद्ध है। हम देख चुके हैं कि हेरेक्लाइटस ने अपने 'सार्वभौम विज्ञान' (Logos) द्वारा, पार्मेनाइडीज ने अपने 'शुद्धसत्तारूप विज्ञान' (Pure Being) द्वारा ओर एनक्जेगोरस ने अपने 'परम विज्ञान' (Nous) द्वारा, दर्शन का केन्द्र बाह्य जगत् से हटकर, अन्तरात्मा में स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उन तीनों में इस दृष्टि से कोई भी पूर्ण सफल नहीं हुआ। प्रोटेगोरस ने भी अपने इस सिद्धान्त द्वारा इस दिशा में एक पग और बढ़ाया। किन्तु वे भी इसमें पूर्ण सफल नहीं हुए। उनका 'मानव' इन्द्रियानुभूति का ही मानव रह गया और उनका सापेक्षवाद व्यक्तिवाद के ऊपर नहीं उठ सका। पीलिया

के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है। प्रोटेगोरस के अनुसार रोगी का ज्ञान उसके लिए 'यथार्थ' है। किन्तु स्वास्थ्य की दशा रोगी की दशा से अधिक उपयोगी होने के कारण स्वस्थ व्यक्तियो का ज्ञान रोगी की दशा से अधिक प्रमाणिक है। यह प्रामाणिकता उपयोग पर निर्भर है। अतः प्रोटेगोरस को उपयोगितावाद (Pragmatism) का जन्मदाता कहा जा सकता है। प्रसिद्ध उपयोगितावादी शिलर (Schiller) भी अपने आपको प्रोटेगोरस का शिष्य कहते थे।

जॉर्जियस (Gorgas)—दूसरे प्रसिद्ध सोफिस्ट जॉर्जियस हैं। प्रोटेगोरस को परम्परा और सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रति आदर था क्योकि उनका मानवसमाज के लिए उपयोग है; किन्तु जॉर्जियस उग्र विचारो के है। उनको 'भयंकर बालक' (Infant Terrible) की उपाधि मिली है। उनके अनुसार सत्य सापेक्ष ही है, निरपेक्ष सत्य असम्भव है। उनका मत है कि प्रथम तो कोई सत्य ही नहीं द्वितीय यदि हो भी तो उसे हम नही जान सकते, तृतीय, यदि जान भी लें तो उसे दूसरे को नही समझा सकते।

साक्रेटीज़ (Socrates) (४७०-३९९ ई० पू०)—साक्रेटीज की आँखें बड़ी, ओठ मोटे और नाक चीपटी थी। वे एक लम्बा ढीला चोगा पहनते थे जो सर्दी और गर्मी दोनों में काम देता था। प्रायः नंगे पैर घूमते थे। वाद-विवाद में उनकी अत्यधिक रुचि थी और वे प्रायः बाजार में या मित्र-मण्डलियों में दार्शनिक चर्चा करते थे। उनका जीवन ऋषि-कल्प था। उनको सर्दी-गर्मी 'सुख-दुख' भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नही सताते थे। उन्हें अपने शरीर पर अधिकार था। वे इन्द्रिय-जित् थे। उनके विषय में की गई धर्म-वाणी को 'साक्रेटीज सब मनुष्यों में सर्वाधिक बुद्धिमान् हैं", उन्होने इस अर्थ में समझा कि वे सचमुच अन्य लोगों से अधिक बुद्धिमान् हैं; क्योंकि उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है जब कि अन्य लोग अज्ञानी होते हुए भी स्वयं को ज्ञानी समझते है। सॉक्रेटीज का यह ध्येय था कि वे लोगों को अज्ञान-मार्ग से हटाकर ज्ञानमार्ग की ओर प्रवृत्त करें। उनकी माता दाई थी और वे अपने आपको भी, लोगों के विचाररूपी बच्चों को उत्पन्न कराने मे और यह बताने में कि वे शुद्ध हैं या संकर, निपुण समझते थे। साथ ही सॉक्रेटीज़ रहस्यवादी भी थे। उन्हें बहुधा अन्तरात्मा की ध्वनि सुनाई देती थी और महाभाव (Trances) भी आते थे। उन पर अधार्मिक होने का और युवकों को बहकाने का अभियोग लगाया गया और उन्हें विषपान द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया। उनका वास्तविक अपराध तत्कालीन प्रजातन्त्र और उसके नेताओं की पोल खोलकर उनके अज्ञान, दम्भ और आडम्बर का प्रखर खण्डन करना था। वे एक मास तक जेल में रहे। उनके शिष्य तथा मित्र उनको वहाँ से भगा ले चलने के लिए तैयार थे, किन्तु उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया। वे शांतिपूर्वक हँसते-हँसते भयंकर विष का प्याला पीकर अमर हो गये।

प्लेटो ने अपनी 'एपॉलॉजी ('Apology') नामक कृति में साक्रेटीज का यह महत्त्व-पूर्ण भाषण, जो उन्होंने अपने अभियोग की सफाई में न्यायालय में दिया था, दिया है, और अपनी 'फीडो' ('Pheado') नामक कृति में इन्होने साक्रेटीज के अन्तिम समय का वर्णन किया है। सारे यूरोप की साहित्यिक रचनाओं में 'फीडो' की तुलना की रचना पाना कठिन है। साक्रेटीज ने अपने सफाई के भाषण में कहा था—एथेन्स के नागरिको! मैं तुम्हारा आदर और तुमसे प्रेम करता हूँ, किन्तु तुम्हारी आज्ञा मानने की अपेक्षा मैं ईश्वर की आज्ञा मानूंगा, और जब तक मुझमें जीवन और शक्ति है मैं दार्शनिक उपदेश देना और उनके अनुसार स्वयं आचरण करना बन्द नहीं कर सकता; और मेरा विश्वास है कि इस राज्य की, मेरी इस ईश्वर-सेवा से बढ़कर, और कोई भलाई नहीं हुई है·········शरीर तो आत्मा का बन्धन है। आत्मा अमर है।···भले आदमी के लिए परलोक में कोई भय नहीं। अब वियोग का समय आ गया है और हम अपने-अपने मार्गों पर चलते हैं—मैं मृत्यु-पथ पर और तुम जीवन-पथ पर। इनमें कौन-सा मार्ग उत्तम है ईश्वर ही जानता है।'

'फीडो' में साक्रेटीज़ के अन्तिम समय का वर्णन है। वे अपने मित्रों को समझाते हैं कि आत्मा अमर है और सच्चरित्र व्यक्ति के लिये परलोक में भी आनन्द है। फिर वे शान्तिपूर्वक हँसते-हँसते विषपान कर लेते हैं। 'फीडो' के अन्तिम शब्द ये है—'इस प्रकार हमारे मित्र का अन्त हुआ, उस व्यक्ति का जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पुरुष, सबसे बड़ा ज्ञानी और सबसे बडा चरित्रवान था।'

साक्रेटीज़ के दर्शन का ज्ञान मुख्यत: हमें उनके प्रधान शिष्य प्लेटो की कृतियों द्वारा उपलब्ध होता है। प्लेटो एक महान दार्शनिक होने के साथ-साथ एक महान् साहित्यिक कलाकार भी थे। अत: उनके विचारों का साक्रेटीज़ के विचारों के साथ मिल जाना स्वाभाविक है। तथापि सामान्यों या विज्ञानों का सिद्धान्त, इन्द्रियानुभूति और विज्ञान का भेद, विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिवतत्त्व और आत्मा की अमरता आदि सिद्धान्त, मूल रूप में सॉक्रेटीज़ के सिद्धान्त कहे जा सकते हैं, जिनका प्लेटो ने विकास किया।

ग्रीक दर्शन की प्रारम्भिक विचारधारा बाह्य प्रकृति के विवेचन की ओर थी। इसको आत्माभिमुख करने का प्रयास सॉक्रेटीज़ के पहले भी किये गये। पाइथेगोरस ने 'स्वरूप' या 'संख्या' द्वारा, हेरेक्लाइटस ने 'सार्वभौम' विज्ञान द्वारा, पार्मेनाइडीज़ ने 'शुद्ध सत्तारूप विज्ञान' द्वारा, एनेक्जेगोरस ने 'परम विज्ञान' द्वारा और प्रोटेगोरस ने 'मानव-मानदण्ड, द्वारा दर्शन की प्रवृत्ति को आत्माभिमुख करने का प्रयास किया। किन्तु इनमें कोई भी अधिक सफल नहीं हो सका। इस सफलता का श्रेय निःसन्देह साक्रेटीज़ को है जिन्होंने स्पष्टरूप से तत्त्व के विज्ञानस्वरूप का प्रतिपादन किया और उसको दर्शन का केन्द्र बना दिया। विज्ञान ही मानव का स्वरूप है। यह विज्ञान

साक्षात्कार का विषय है। नैतिक जीवन इस साक्षात्कार में योग देता है। सॉक्रेटीज़ ने प्रथम बार इस विज्ञान को नैतिक जीवन का भी आधार बनाया है।

हेरेक्लाइटस ने 'अवनत मार्ग' और 'उन्नत मार्ग' में भेद बताया। पार्मेनाइडीज़ ने 'व्यवहार' और 'सत्य' का भेद किया। सॉक्रेटीज़ ने इस 'व्यवहार' और 'परमार्थ' के भेद को और अधिक स्पष्ट किया। सॉक्रेटीज़ के 'विज्ञानवाद' या 'साम्यवाद' (The Doctrine of Ideas or Forms) का वर्णन प्लेटो ने 'फ़ीडो' में किया है। यह विज्ञानवाद इन्द्रियानुभव और ज्ञान के भेद पर प्रतिष्ठित है। इन्द्रियानुभव व्यवहार है और ज्ञान परमार्थ। इन्द्रियानुभव के विषय अनित्य, क्षणिक और मिथ्या हैं; ज्ञान के विषय नित्य, अपरिणामी और सत्य हैं। इन्द्रियों का स्तर 'परिणाम', गति और अनित्यता का स्तर है; ज्ञान का स्तर 'सत्' नित्य और परामर्थ का स्तर हैं। गणित के विषय 'स्वरूप' 'सामान्य' या 'विज्ञान' हैं। असली 'वृत्त' या 'त्रिभुज' तो हमारे ज्ञान में ही है; हम जो वृत्त या त्रिभुज खींचते हैं वे इस असली 'वृत्त' या 'त्रिभुज' के प्रतिरूपमात्र हैं। असली वृत्त या त्रिभुज हम नहीं खींच सकते। इन्द्रियानुभव के विषय इन विज्ञानों के समान बनाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ठीक उन जैसे नहीं बना सकते। 'विशेष' या 'व्यक्ति' 'सामान्य' का अनुकरण करते हैं, किन्तु 'सामान्य' नही बन सकते। पाइथेगोरस ने भी अपने 'स्वरूपों' का वर्णन इसी प्रकार किया था और उनका गणित की 'संख्याओं' से तादात्म्य कर दिया था। सॉक्रेटीज़' ने उन 'स्वरूपों' को गणित तक ही सीमित नही रक्खा; इसका प्रयोग 'शिव' और 'सुन्दर' के क्षेत्रों में भी किया। असली शिवत्व या कल्याण और असली सौंदर्य विज्ञानरूप हैं, इन्द्रियानुभव में इनकी क्षीण प्रतिकृतियाँ ही प्राप्त होती हैं। ज्ञान के विषय 'सामान्य' हैं और इन्द्रियानुभव के विषय 'विशेष' या 'व्यक्ति' हैं। सामान्य, स्वरूप और विज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। सत्य ज्ञान इन सामान्यों का ज्ञान ही है। विशेषों का ज्ञान केवल व्यवहार है। विशेषों की सत्ता सामान्य में 'भाग लेने' (Participation) के कारण है। सामान्य विशेषों में अनुस्यूत होकर उनको अनुप्राणित करता है। विशेष सामान्य की क्षीण 'प्रतिकृतियाँ, 'प्रतिलिपियाँ', 'प्रतिरूप' (Copies) या 'प्रतिबिम्ब' (Images) हैं। सामान्य हमारी बुद्धि की कल्पना नही है। इनकी वास्तविक सत्ता है। वस्तुत; असली सत्ता इनकी ही है। ये सामान्य या विज्ञान दिव्यलोक में रहते हैं। आत्मा अमर और दिव्यलोक की निवासी है जहाँ वह इन विद्वानों का साक्षात् करती है। जब आत्मा इस लोक में आकर शरीर से परिच्छिन्न हो जाती है; तो उसका दिव्य ज्ञान क्षीण और मन्द हो जाता है। फिर भी, उसे 'दिव्य विज्ञान' याद आते हैं (Reminiscence) और वह उनको ग्रहण करने का प्रयास करती हैं। किंतु इस प्रयास में वह सफल नही हो पाती और उसके विज्ञान इन वास्तविक दिव्य विज्ञानों के क्षीण प्रतिविम्ब ही रह जाते हैं। इसका कारण इन्द्रियानुभूति है। हमारा सांसारिक ज्ञान इन्द्रियानुभूति पर

निर्भर है और इन्द्रियानुभूति दिव्य विज्ञानों पर आवरण डाल देती है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके हम शरीर में रहते हुए उससे निर्लिप्त अशरीर बन सकते हैं और आत्म-ज्ञान द्वारा दिव्य विज्ञानों का साक्षात्कार कर सकते हैं।[1]

प्रश्न यह है कि क्या विज्ञानों का दिव्य-लोक और इन्द्रियानुभव का यह लोक नितान्त भिन्न है ? क्या एक पूर्ण 'सत्' और दूसरा पूर्ण 'असत्' है ? इनमें कोई सम्बन्ध भी है या नहीं ? सॉक्रेटीज़ का उत्तर है कि ये नितान्त भिन्न नहीं हो सकते। इन्द्रिय-जगत अनित्य, क्षणिक, परिणामी और मिथ्या तो अवश्य है, किन्तु नितान्त असत् नहीं। यदि जगत नितान्त असत् होता तो प्रतीति का विषय भी नहीं बन सकता था। इनको मिथ्या कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इसकी सत्ता अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह विज्ञान-जगत् के आलोक से ही प्रकाशित होती है। इसकी सत्ता इसीलिये है कि इसमें विज्ञान अनुस्यूत है। यह 'छाया' तो अवश्य है, किन्तु यह विज्ञानरूपी काया' की छाया है। बिना 'काया' के 'छाया' भी नहीं होती। इन्द्रिय जगत् की सत्ता विज्ञान-जगत् में 'भाग लेने' के कारण है। इन्द्रिय जगत् के पदार्थ विज्ञान-जगत् में जितना अधिक 'भाग लेते' है वे उतने ही अधिक 'सत्' है। इन्द्रिय जगत् विज्ञान जगत् का 'प्रतिबिम्ब' है। जिन पदार्थों मे यह प्रतिबिम्ब जितना अधिक स्पष्ट होता जाता है, वे उतने ही अधिक 'सत्' हैं। 'सत्' के व्यावहारिक न्यूनाधिक्य का तारतम्य सॉक्रेटीज़ को मान्य है।

किन्तु अब भी एक समस्या और रह जाती है। वह है इस दिव्य विज्ञान जगत् में विज्ञानों का परस्पर भेद। क्या ये दिव्य-विज्ञान परस्पर भिन्न और पृथक् ही रहते हैं या इनमे सामंजस्य और एकरूपता है ? क्या ये बिखरे हुए ही हैं या एक सूत्र में बद्ध हैं ? इस समस्या का समाधान 'फ़िडों' मे तो नहीं मिलता, किन्तु इसकी झलक 'सिम्पोजियम' (Symposium) मे और इसका स्पष्टीकरण 'रिपब्लिक' (Republic) मे मिल जाता है। सॉक्रेटीज़ के इन दिव्य विज्ञानों में भी तारतम्य है। ये बिखरे हुए नहीं हैं, किन्तु एक सूत्र में बद्ध हैं। यह सूत्र इन विज्ञानों का भी विज्ञान है। यह परम विज्ञान है। इस परम विज्ञान को 'सिम्पोजियम' में 'विशुद्ध सौन्दर्य' (Pure Beauty) और 'रिपब्लिक'मे विज्ञानस्वरूप शिवतत्त्व' (Idea of the Good) कहा गया है। यह शिवतत्त्व समस्त दिव्य-विज्ञानो में और उनके द्वारा समस्त जगत् में अनुस्यूत है। यह परम तत्त्व है और इसका साक्षात्कार मानव-जीवन का लक्ष्य है।

कुछ विद्वानो के अनुसार सॉक्रेटीज़ का दर्शन विद्वानों के बहुतत्त्व तक ही सीमित रह गया है और इस सूत्रात्मा—शिव-तत्व—तक नही पहुँच पाया है। उनके अनुसार इस सूत्रात्मा का प्रतिपादन प्लेटो द्वारा ही हुआ है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्लेटो के सिद्धात अपने गुरु सॉक्रेटीज़ के सिद्धान्तो में इस तरह घुल-मिल गये हैं कि उनकी सीमा का स्पष्ट निर्धारण अशक्य है। फिर भी, यह मानना युक्ति-युक्त है

१. वेदान्त की जीवनमुक्ति : 'अशरीरं चाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।'

कि प्लेटो सॉक्रेटीज़ के मुख से ऐसी कोई बात नहीं कहला सकते जो सॉक्रेटीज़ की अपनी न रही हो। उन्होंने ये सब सिद्धान्त सॉक्रेटीज़ के मुख से कहलाये हैं। प्लेटो ने अपना मत अपनी बाद की रचनाओं में व्यक्त किया है जिनमें सॉक्रेटीज़ प्रधान वक्ता नहीं है। दूसरे, सॉक्रेटीज़के रहस्यवाद को, उनकी साधना को, उनकी समाधि-अवस्था और उनके महाभावों को देखते हुए यह मानना सर्वथा उचित है कि उनकी इस 'शिव तत्त्व' का ज्ञान अवश्य हुआ था। उपर्युक्त सब सिद्धान्त मूल रूप में सॉक्रेटीज़ के ही है। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि इनको इस प्रकार स्पष्ट रूप में रखने का श्रेय प्लेटो को है।

सॉक्रेटीज़ के दर्शन की पद्धति 'द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectical Reasoning) की है। यह प्रश्नोत्तर की पद्धति है। वे वादविवाद के अत्यन्त प्रेमी थे। किन्तु यह वाद-विवाद शुष्क या व्यर्थ का वादविवाद नही था, यह वादविवाद तत्त्वबोध के लिये था।[1] यह पद्धति मुख्यतः निषेधात्मक थी; क्योंकि इसके द्वारा अन्धविश्वासों और अयुक्त मान्यताओं का खण्डन किया जाता है। सॉक्रेटीज का निश्चय था कि सविकल्पी तर्क द्वन्द्वों में ही फँसा रहता है और दिव्य-विज्ञानतक नहीं पहुँच पाता, क्योंकि दिव्य-विज्ञान निर्विकल्प स्वानुभूति का विषय है। अतः तर्क का मुख्य कार्य अपने ही ही विकल्पों का खण्डन करके निषेधरूप से यह सिद्ध करना है कि उनकी गति तत्त्व तक नहीं है। लोग यह मान लेते हैं, कि उनकी सविकल्प बुद्धि का ज्ञान सत्य ज्ञान है, कि उनकी मान्यतायें सुदृढ़ हैं,कि उनके विश्वास अकाट्य हैं। किन्तु यह उनका अज्ञान है। सॉक्रेटीज़ की दार्शनिक पद्धति का लक्ष्य लोगों को अपने अज्ञान का ज्ञान कराकर उनको स्वानुभूति की ओर अग्रसर करने का था। और इसके लिए उनको मृत्युदण्ड मिला। सॉक्रेटीज़ ने दर्शन को 'विज्ञानों का विज्ञान' (Science of Sciences) माना है। अन्य विज्ञान' (Sciences) विकल्पों (Hypotheses) को मानकर चलते हैं। दर्शन विकल्पों का खण्डन करके चलता है। जहाँ अन्य विज्ञान समाप्त हो जाते हैं, वहाँ दर्शन प्रारम्भ होता है, क्योंकि दर्शन का लक्ष्य विशुद्ध विज्ञानस्वरूप तत्व का साक्षात्कार है।[2]

ज्ञान ही धर्म (Virtue) है। शिवतत्व का ज्ञान सर्वोत्तम धर्म है। अज्ञान ही अधर्म (Vice)है। शिवतत्व का ज्ञान करना सबसे बड़ा अधर्म है। यह आत्म-हनन' है। ज्ञान 'कर्म' नहीं है और न कर्म द्वारा प्राप्त हो सकता है। यह तो 'स्वरूप-लाभ' है। लौकिक दृष्टि से सत्कर्मों को धर्म कहते हैं। ये अभ्यास से प्राप्त किये जा सकते हैं। इनसे चित्त-शुद्धि होती है। किन्तु इनको वास्तविक धर्म नहीं कह सकते। वास्तविक धर्म तो ज्ञान ही है जिसकी प्राप्ति होने पर अधर्म हो ही नहीं सकता।[3]

---

१. अद्वैत वेदान्त में ज्ञान और कर्म का स्थान। २. वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।
३. अद्वैतवेदान्त और बौद्ध दर्शन में तर्क का स्थान।

द्वितीय अध्याय

ग्रीक दर्शन : प्लेटो

प्लेटो (Plato) (४२८ ई० पू०—३४७ ई० पू०)—

प्लेटो ग्रीक के सबसे महान् और विश्व के एक महान् दार्शनिक हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। वे महान् साहित्यिक कलाकार भी थे। पाश्चात्य दर्शन का एक भी ऐसा मौलिक सिद्धान्त नहीं जो प्लेटो से न मिलता हो।

प्लेटो का जन्म उच्चकुलीन सामन्त परिवार में हुआ था। साँक्रेटीज़ के वे पट्टशिष्य थे। साँक्रेटीज़ की मृत्यु से ग्रीक प्रजातन्त्र के प्रति उनको घृणा हो गई। वे इटली और सिसिली भी गये थे। वहाँ से लौटकर एथेन्स में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध संस्था 'एकेड़मी' (Academy) की स्थापना की और उसके प्रधान आचार्य बनकर शान्ति से दर्शन के चिन्तन और अध्यापनकार्य में लगे रहे। सिसिली में उनको वहाँ के युवक राजा डायोनिसियस (Dionysius) को पढ़ाने के लिये राजा के संरक्षक डायोन (Dion) ने निमन्त्रित किया। प्लेटो वहाँ गये। किन्तु चार महीनों के भीतर ही डायोन और राजा में झगड़ा हो गया। डायोन को निर्वासित कर दिया और प्लेटो को एथेन्स लौट आना पड़ा। प्लेटो दुबारा सिसिली गये और डायोन तथा राजा में समझौता कराने का प्रयत्न किया। किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली लगभग एक वर्ष सिसिली में रहकर वे एथेन्स लौट आये और शेष जीवन उन्होंने एकेडमी में ही शान्तिपूर्वक व्यतीत किया। एकेडमी का जीवन आश्रम जीवन के समान था। प्लेटो का गुरु-शिष्य के साक्षात् सम्पर्क में अटल विश्वास था। एकेडमी के सदस्य एक साथ रहते थे, एक साथ खाते थे, एक साथ पढ़ते थे और एक साथ प्रार्थना करते थे।[१] उनका जीवन धार्मिक और दार्शनिक था।

प्लेटो ने अपनी महान् कृतियाँ संवादों (Dialogues) के रूप में लिखी हैं। दार्शनिक महत्त्व के साथ-साथ उनका साहित्यिक महत्त्व भी विशेष है। प्लेटो ने पचास वर्षों में अनेक संवादों की रचना की है। प्लेटो के रचनाकाल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल एकेडमी की स्थापना के पूर्व का काल है जिसमें एपॉलॉजी Apology), क्राइटो (Crito) प्रोटेगोरस (Protagoras), जॉर्जियस

---

१ सह नवावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवाव है। तेजस्वि नावधीतमस्तु विद्विषाव है।

(Gorgias), मेनो (Meno), फीडो (Phaedo) और सिम्पोजियम (Symposium) नामक संवादों की रचना हुई। द्वितीय काल एकेडमी की स्थापना के तुरन्त बाद का काल है जिसमे रिपब्लिक (Republic) और फीड्रस (Phaedrus) नामक सम्वादों की रचना हुई। तृतीय का प्लेटो के वार्द्धक्य का काल है जिसमें पार्मेनाइडीज् (Parmenides), थीटीटस (Theaetetus), सोफिस्ट (Sophist), फाइलेबस (Philebus), टाइमियस (Timaeus), और लॉज (Laws) नामक सम्वादों की रचना हुई। इनके अतिरिक्त प्लेटो ने अपने असली सिद्धान्त अपने शिष्यों को उपदेशरूप मे दिये जिनका उन्होंने प्रकाशन नही किया।

प्लेटो में ग्रीक दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है और इसलिए उनको "पूर्ण ग्रीक" (The Complete Greek) की उपाधि दी गई है। माइलेशियन मत का 'द्रव्य', विशेषतः एनेक्जिमेन्डर का 'असीम' पाइथेगोरस का 'स्वरूप' या 'संख्या' और उनका रहस्यवाद, हेरेक्लाइटस का 'परिणाम' और 'सार्वभौम विज्ञान', पार्मेनाइडीज का 'चिद्रूप सत्' जीनो का 'द्वन्द्वात्मक तर्क', एम्पेडोक्लीज्' का 'प्रेम', एनेक्ज़ेगोरस का 'परम विज्ञान' परमाणुवादियों का 'भौतिक विज्ञान', प्रोटेगोरस का 'मानवमानदण्ड एवं साक्रेटीज् का 'विज्ञानवाद' 'विज्ञान स्वरूप शिवतत्त्वं' और 'द्वन्द्वात्मक तर्क एवं निर्विकल्प स्वानुभूति—इस सबका चरम विकास प्लेटो के दर्शन में हुआ है। प्लेटो ने इन सिद्धान्तो का संग्रहमात्र नहीं किया है। वे महान् दार्शनिक और कलाकार थे। उन्होने अपने दर्शन में, अपनी मौलिक रीति से, इन सबका समन्वय किया है। प्लेटो ने पाइथेगोरस से गणित-प्रेम, रहस्यवाद, धार्मिकता, आत्मा की अमरता का सिद्धान्त; परलोक में विश्वास और 'स्वरूप' या 'संख्या' का सिद्धान्त ग्रहण किया। हेरेक्लाइटस से उन्होंने यह शिक्षा ली कि दृश्य जगत् में परिणाम और अनित्यत्व का अखण्ड साम्राज्य है। पार्मेनाइडीज् से उन्होने 'सत् के चिद्रूप' अद्वितीय, निरपेक्ष, नित्य, अपरिणामी, दिक्कालातीत और परमार्थ होने का सिद्धान्त ग्रहण किया। एनेक्ज़ेगोरस से उन्होंने 'परम विज्ञान' के जगत् की गति और परिणाम का एकमात्र कारण होने का सिद्धान्त लिया। परमाणुवादियों से उन्होंने अपने भौतिक विज्ञान के कुछ सिद्धान्तो में सहायता ली। अपने गुरु सॉक्रेटीज् से उन्होने सब कुछ लिया और इन विचारों का समन्वय उन्होंने अपने मौलिक विचारों के साथ किया। अपने पूर्ववर्ती सारे ग्रीक दार्शनिकों का प्रभाव प्लेटो पर और प्लेटो का प्रभाव अपने तटवर्ती सारे पाश्चात्य दार्शनिकों पर पड़ा।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्लेटो प्रधान रूप से रहस्यवादी हैं। उनके लिये दर्शन जीवन का अंग है। दर्शन का लक्ष्य तत्त्व का निर्विकल्प साक्षात्कार है। आत्मा को इन्द्रियानुभूति से ऊपर उठाकर तर्क के सविकल्प स्तर पर होते हुए निर्विकल्प स्वानुभूति तक ले जाना दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। दर्शन का लक्ष्य असत् से सत् की

ओर अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना हैं। यह साधना द्वारा हो सकता है। तर्क तत्व की ओर संकेतमात्र करता है। तत्व का साक्षात्कार साधना का विषय है। इसलिये प्लेटो ने गुरु और शिष्य के साक्षात् सम्पर्क को इतना महत्व दिया। दार्शनिक का लक्ष्य शान्तिमय साधना द्वारा निर्विकल्प अनुभूति प्राप्त करना है। किन्तु दार्शनिक का कार्य लोकसंग्रह या लोककल्याण करना भी है। असली लोककल्याण तो सिद्ध की स्थितिमात्र से ही होता है, फिर भी आवश्यकता होने पर सिद्ध निर्लिप्त भाव से सांसारिक क्षेत्र में भी उतरते हैं। जब तक ऐसे सिद्ध दार्शनिकों का प्राधान्य न होगा, विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

एकेडमी में अध्ययन कार्यक्रम इस प्रकार था। पहले गणित, रेखागणित, ज्योतिष आदि का अध्ययन था, फिर द्वन्द्वात्मक तर्क का और अन्त में साधना की प्रणाली का। परमतत्व विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिव-तत्व है जो केवल स्वानुभूति का विषय है। सविकल्प तर्क द्वन्द्वात्मक और निषेध-प्रधान है। तर्क का कार्य अपने विकल्पों का खण्डन करके निषेधरूप से यह सिद्ध करना है कि उसकी गति तत्व तक नहीं। यह तत्व की ओर संकेत मात्र करके निर्विकल्प अनुभव की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। द्वन्द्वात्मक तर्करूपी दर्शन 'विज्ञानों का विज्ञान' (Science of Sciences) है, क्योंकि जहाँ अन्य विज्ञान समाप्त होते हैं वहाँ से इसका प्रारम्भ होता है। जब इस दर्शन का तर्करूपी निषेधरूप समाप्त होता है, तब निर्विकल्प अनुभवरूपी विधानरूप प्रारम्भ होता है। यह शिवतत्व की साधना है जो दर्शन का चरम लक्ष्य है।

प्लेटो का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'विज्ञानवाद' (Theory of Ideas) है। कुछ विद्वानों के मत में यह सिद्धान्त प्लेटो का ही है, सॉक्रेटीज़ का नहीं, क्योंकि हम 'प्लेटो के सॉक्रेटीज़' को जानते हैं, 'ऐतिहासिक सॉक्रेटीज़' को नहीं। अन्य विद्वानों का मत है यह सिद्धान्त सॉक्रेटीज़ का ही है और प्लेटो ने बाद के सम्वादों में इसका खण्डन कर दिया है। किन्तु सत्य बात यह है कि यह सिद्धान्त अपने मूल रूप में सॉक्रेटीज़ का है। (यद्यपि स्वयं सॉक्रेटीज़ पर पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस, और पार्मेनाइडीज़ आदि का प्रभाव पड़ा है) और प्लेटो ने इसका विकास करके इसे विशदरूप दिया है। यह विज्ञानवाद प्लेटो के 'फ़ीडो' आदि उन सम्वादों में मिलता है जिसमें साक्रेटीज़ की प्रधानता है। प्लेटो सॉक्रेटीज़ के मुँह से ऐसी कोई बात नहीं कहला सकते थे जो स्वयं सॉक्रेटीज़ को मान्य न रही हो, क्योंकि ये सम्वाद उन लोगों के पढ़ने के लिये थे जो सॉक्रेटीज़ और प्लेटो दोनों को जानते थे। सॉक्रेटीज़ ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। प्लेटो ने ही अपने सम्वादों में उनके दर्शन को रूप दिया। प्लेटो की उत्कृष्ट साहित्यिक कला के कारण सॉक्रेटीज़ के और उनके विचार घुल-मिल गये। फिर भी यह निःसन्देह सत्य है कि अपने मूल रूप में यह विज्ञानवाद सॉक्रेटीज़ का है और इसे अभिव्यक्त करने का श्रेय प्लेटो को है। प्लेटो को भी यह सिद्धान्त

मान्य है और उन्होंने इसे विशद एवं विकसित किया है। प्लेटो के 'पार्मेनाइटीज़' नामक सम्वाद से इस विज्ञानवाद का 'खण्डन' किया है। जो लोग विज्ञानवाद को सॉक्रेटीज़ का मानते हैं उनका मत है कि प्लेटो ने 'पार्मेनाइडीज़ में इसका खण्डन कर दिया है। जो लोग इसे प्लेटो का मानते है उनका मत है कि प्लेटो ने आगे चलकर अपने विचार बदल दिये। किन्तु दोनों ही मत ठीक नहीं है। वस्तुतः 'पार्मेनाइडीज' में विज्ञानवाद का खण्डन नही किया गया है, किन्तु उसको संशोधन किया गया है। प्लेटो ने अपने 'फ़ीडो' आदि पूर्व सम्वदों में सॉक्रेटीज़ के विज्ञानवाद का वर्णन किया है और 'पार्मेनाइडीज़' में उन्होंने विचारों के अनुरूप उनका संशोधन कर दिया। सॉक्रेटीज़ के अनुसार इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत में "भाग लेता" है और उसको "प्रतिबिम्बित" करता है। प्लेटो के अनुसार "भाग लेने" की ध्वनि यह निकल सकती है कि इन्द्रिय जगत् वस्तुतः विज्ञान जगत् का 'सत्य अंश' है। ऐसा मानने पर व्यवहार और परमार्थ का भेद ही नहीं रहता और व्यवहार केवल 'अपूर्ण परमार्थ' बन जाता है। यह प्लेटो को मान्य नही है। और 'प्रतिबिम्ब' मानने पर यह ध्वनि निकल सकती है कि व्यवहार मे कोई तत्व नहीं। तब व्यवहार 'असत्' बन जाता है। और यह भी प्लेटो को मान्य नहीं। अतः प्लेटो इन्द्रिय-जगत् को विज्ञान जगत् का 'अंश' या **'प्रतिबिम्ब'** कहने की अपेक्षा उसे विज्ञान-जगत् की **'अभिव्यक्ति'** (Expression) कहना अधिक अच्छा समझते हैं। यह प्लेटो का सॉक्रेटीज़ के मत में प्रथम संशोधन है। द्वितीय साक्रेटीज ने विज्ञानरूप शिवतत्व की ओर संकेत मात्र किया है। प्लेटो विज्ञानों को इस शिवतत्व के सूत्र में पिरोकर उसकी ओर अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यह सत्य है कि प्लेटो भी, साक्रेटीज़ के समान, शिवतत्व को अनिर्वचनीय और स्वानुभूतिगम्य मानते है और इसके विषय में अधिक नहीं कहते, किन्तु इस शिवतत्व की अनिर्वचनीयता और प्राधान्य का तो उन्होंने स्पष्ट विवेचन कर दिया है। तृतीय, साक्रेटीज़ ने विज्ञानों के बहुत्व का इस शिवतत्व में स्पष्टतया विलय नहीं किया। प्लेटो ने स्पष्ट रूप से विज्ञानों को भी इस शिवतत्व की 'अभिव्यक्ति' मात्र माना है। ये तीन महत्वपूर्ण संशोधन प्लेटो ने साक्रेटीज के विज्ञानवाद में किये हैं।

प्लेटो के विज्ञानों पर हम पाँच दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं—(१) ज्ञान की दृष्टि से (Epistemologically), (२) स्वरूप की दृष्टि से (Logically), (३) उद्देश्य की दृष्टि से (Teleologically), (४) सत्ता की दृष्टि से (Ontologically) और (५) रहस्य की दृष्टि से (Mystically)

(१) ज्ञान की दृष्टि से विज्ञान "ज्ञान के वास्तविक विषय (True Objects of Knowledge)। प्लेटो के अनुसार ज्ञान और ज्ञान का विषय, दोनों नित्य और अपरिणामी होने चाहिये। अनित्य और क्षणिका का वास्तविक ज्ञान

नहीं हो सकता। गति, परिणाम, भेद और सापेक्षता का सदा अगतिशील, अपरिणाम अद्वय और निरपेक्ष तत्व की ओर संकेत होता है जो इनका अधिष्ठान है और जिसके बिना इनकी प्रतीति भी सम्भव नहीं। हेरेक्लाइटस को भी कम से कम अपने 'परिणाम' को ही नित्य मानना पडा है। प्रोटेगोरस को अपने 'सन्देहवाद' के विषय में कोई संदेह नहीं है। अनित्यवाद और संदेहवाद के आधार पर किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं। अनित्यवाद और संदेहवाद जब अपनी सीमा का अतिक्रमण करते हैं तो ये अपना ही आत्मघात कर लेते हे। इन्द्रिय-जगत् में अनित्यता और संदेह का साम्राज्य अवश्य है, किन्तु यह इन्द्रिय-जगत् तक ही सीमित है। विज्ञान नित्य और असंदिग्ध है। विज्ञान स्वतः सिद्ध है। यदि विज्ञान का नित्यत्व और स्वतः सिद्धत्व स्वीकार नहीं किया जाय तो किसी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं हो सकता। हमारे ज्ञान में जो सार्वभौमता और निश्चयात्मकता है, वह इन्द्रिय-जगत से न आकर विज्ञान-जगत् से आती है। अतः इन्द्रिय-जगत् का विश्लेषण करनेवाले विविध भौतिक विज्ञान-शास्त्र भी विज्ञान के नित्यत्व और स्वतः सिद्धत्व के कारण ही अपने शास्त्रों में सार्वभौम और निश्चयात्मक नियमों की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इस सत्य की जिसको आगे चलकर कान्ट ने विशद किया, प्रतिष्ठा के करने के कारण प्लेटो को 'वैज्ञानिक ज्ञान' का प्रथम संस्थापक कहा जा सकता है। इन्द्रिय-जगत् से हमें केवल अनित्य संवेदन प्राप्त होते हैं जो हमारे ज्ञान के विषय कदापि नहीं बन सकते। विज्ञान ही ज्ञान का विषय बन सकता है। 'फ़ीडो' में कहा गया है कि "इन्द्रियों से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती; सत्य की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है।" किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रिय-जगत् हमारे ज्ञान के लिए सर्वथा अनावश्यक है। 'फ़ीडो' में ही आगे चलकर कहा गया है कि "इन्द्रियानुभव के बिना हमें विज्ञान संस्मरण (Reminiscence) नहीं हो सकता।" 'थीटीटस' में कान्ट के प्रसिद्ध सिद्धान्त का, कि विज्ञान के लिए विज्ञान और इन्द्रियानुभव दोनों अपेक्षित हैं, पूर्वरूप स्पष्टरूप से उल्लिखित है। प्लेटो इन्द्रिय जगत् को असत् नहीं कहते। वे इसे प्रतीति का विषय मानते हैं। उनका तात्पर्य यही है कि विज्ञान के बिना हमें जगत् का इन्द्रियानुभव भी नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान का वास्तविक विषय विज्ञान ही है।

(२) स्वरूप की दृष्टि से विज्ञान 'सामान्य' (Universal Concepts) है। जगत् के विविध विशेषों या व्यक्तियों की सत्ता सामान्यों के कारण ही है। सामान्य अपनी जाति के विशेषों में अनुगत रहते हैं और उनको अन्य जाति के विशेषों से पृथक् करते है। सामान्य का कार्य सजातीय विशेषों में एकरूपता लाना और उनका विजातीय विशेषों से भेद करना है। सामान्य अनेक विशेषों में अनुगत एकता है। सामान्य भेद से विशिष्ट अभेद है। सामान्य उत्पत्ति-विनाश-रहित, अपरिणामी

और नित्य हैं। ये हमारी बुद्धि की कल्पना नही है। इनकी वास्तविक सत्ता है। विशेष इन सामान्यो का अनुकरण करते है, किन्तु ठीक इन जैसे नही बन सकते। असली 'त्रिभुज' हमारा विज्ञान है; हम जो त्रिभुज खीचते है वे इस असली 'त्रिभुज' के अपूर्ण अनुकरण है। ससार के सुन्दर या कल्याणकारी 'पदार्थ' सौन्दर्य और 'शिव-तत्व' के अनुकरण मात्र हैं। सामान्य-विज्ञान जगत् मे रहते है। इन्द्रिय-जगत् में इनकी क्षीण प्रतिकृतियाँ ही मिलती है। सामान्य विशेषो मे अनुस्यूत रहता है। अतः यह कहा जाता है कि विशेष 'सामान्य' मे 'भाग लेते' है। विशेष सामान्य' के प्रतिबिम्ब' या 'प्रतिरूप' है। ये सामान्य दिव्य विज्ञान-लोक मे रहते हैं जहाँ अमर आत्मा इनका साक्षात्कार करती है। जब आत्मा संसार मे आकर शरीर में सीमित होती है तो इसे ये सामान्य याद आते हैं और यह 'स्मृति' ही हमारे विज्ञान हैं जो इन सामान्यो के प्रतिबिम्ब है।

एरिस्टॉटल ने और उनके आधार पर अन्य दार्शनिको ने प्लेटो के इस 'सामान्य' का प्रबल खण्डन किया है। उनके अनुसार प्लेटो ने इन्द्रिय जगत् को नितान्त असत् और विज्ञान जगत् को इन्द्रिय-जगत् से सर्वथा भिन्न और ऊपर मानकर भयकर दार्शनिक अपराध किया है। व्यवहार और परमार्थ की यह खाई पाटी नही जा सकती। यह द्वैतवाद असंगत है। सामान्यों को विशेषों से भिन्न एक दूसरे ही दिव्य-लोक का निवासी न मानकर उनको विशेषो मे अनुस्यूत ही मानना चाहिये। प्लेटो का विज्ञान-जगत् वस्तु-जगत् की निरर्थक पुनरावृत्ति मात्र है। किन्तु एरिस्टॉटल और उनके अनुयायियो के ये आपेक्ष व्यर्थ और अनुचित हैं। प्लेटो ने परमार्थ को व्यवहार में अनुस्यूत भी माना है और उससे ऊपर भी। सॉक्रेटीज़ के मत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने इन्द्रिय-जगत् को विज्ञान-जगत् मे भाग लेने वाला अश' और उनका 'प्रतिबिम्ब' कहा है। किन्तु उनका आशय व्यवहार और परमार्थ को न तो अलग-अलग लोकों मे रखने का है, न व्यवहार और परमार्थ के भेद को मिटा देने का है और न व्यवहार को सर्वथा असत् कहने का है। 'अंश' और 'प्रतिबिम्ब, से प्लेटों का तात्पर्य 'अभिव्यक्ति' का है। यह उन्होने 'पार्मेनाइडीज़' मे स्पष्ट कर दिया है, जिस पर एरिस्टॉटल और उनके अनुयायियो का ध्यान शायद नहीं गया है। विज्ञानों को प्लेटों ने दिक्कालातित माना है। अतः उनके 'ऊपर' और 'नीचे', 'बाहर' और 'भीतर' का वस्तुतः प्रश्न ही नही उठता। जब प्लेटो विज्ञानों को 'पार' या 'ऊपर' कहते हैं तो उनका आशय विज्ञानो की 'स्वतंत्र सत्ता' से है, न कि उनके दूसरे लोक में रहने से। और फिर प्लेटों ने स्वयं बारम्बार विज्ञानो को इन्द्रिय-जगत् के विशेषों में अनुस्यूत भी बताया है।

३. उद्देश्य की दृष्टिसे, विज्ञान वे "नित्य साँचे" हैं जिनके अनुसार ईश्वर (Demiurge) इन्द्रिय-जगत् के पदार्थों का निर्माण करते है। विज्ञान वे "पूर्ण

आदर्श" अर्थात् "मूल, बिम्ब या रूप" हैं जिनके प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप इन्द्रियजगत् के पदार्थ हैं। सांसारिक पदार्थ इन आदर्शों के अनुरूप होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे इसमें पूर्ण सफल नहीं हो सकते विश्व के समस्त पदार्थ अपूर्ण और अनित्य हैं। विश्व की सृष्टि इसीलिये हुई है कि इसके अपूर्ण और अनित्य पदार्थ पूर्ण आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर विकसित हों। विश्व में विकास हो रहा है। किन्तु यह विकास यन्त्रवत् नही है, सोद्देश्य है। विज्ञान विश्व के पदार्थों में अनुस्यूत हैं। विज्ञान विश्व के पदार्थों के वास्तविक 'स्वरूप' है और समस्त सृष्टि अपने 'स्वरूप' का लाभ करने के लिए विकसित हो रही है। विश्व मे सामंजस्य है समन्वय है, एकरूपता है और प्रत्येक पदार्थ, भिन्न होते हुए भी, अन्तर्यामी अभेद को पाने के लिये प्रयत्नशील है।

ईश्वर इस विश्व के निमित्त कारण हैं और विज्ञान इस विश्व के स्वरूप-कारण हैं। विज्ञान-रूपी नित्य बिम्बों को आदर्श मानकर ईश्वर उनके अनुरूप सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं। क्या ये 'नित्य बिम्ब' ईश्वर के बाहर हैं? क्या ये 'नित्य बिम्ब' सांसारिक पदार्थों के बाहर हैं? दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों है, क्योंकि प्लेटो ने विज्ञान को 'अन्तर्यामी' (Immanent) और 'पर' (Transcendent) दोनों माना है। प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है—प्लेटो ने ईश्वर और शिवतत्व में भेद माना है ईश्वर सगुण है शिवतत्व निर्गुण। ईश्वर अपर है, शिवतत्व पर। ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण और नियन्ता है, शिवतत्व ईश्वर का भी पिता है। समस्त विज्ञानों और सृष्टि में शिवतत्व अन्तर्यामी है और वह इन सबसे पार अनिर्वचनीय भी है। समस्त ज्योति उसी से आती है। वही सृष्टि का मुख्य उद्देश्य या लक्षण भी है। वह ईश्वर का भी ईश्वर और विज्ञानों का भी विज्ञान है। ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण और विज्ञान सृष्टि के स्वरूप कारण हैं। ईश्वर विज्ञानों के अनुरूप सृष्टि करते हैं इस अर्थ में ईश्वर विज्ञानों में 'बद्ध' है और विज्ञान ईश्वर के 'बाहर' है। किन्तु ईश्वर और विज्ञान दोनों ही शिवतत्व की अभिव्यक्ति हैं। शिवतत्व विशुद्ध विज्ञान स्वरूप है और ईश्वर तथा विज्ञान दोनों इसी के आभास हैं। इस दृष्टि से ईश्वर और विज्ञान भिन्न नहीं है और विज्ञानों को ईश्वर के 'बाहर' नहीं माना जा सकता। द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है—नित्य विज्ञान सासारिक पदार्थों में अनुस्यूत हैं और दृष्टि से उनके 'बाहर' नही है। किन्तु सांसारिक पदार्थ नित्य विज्ञानों को सीमित नहीं कर सकते, नित्य विज्ञानों की सत्ता सांसारिक पदार्थों से स्वतंन्त्र है। इस दृष्टि से विज्ञान सांसारिक पदार्थों के 'बाहर' है।

नित्य विज्ञानों को प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है। यह हमारा कर्त्तव्य है। आत्मा अमर और दिव्य है और नित्य विज्ञान उसके स्वरूप हैं। अतः स्वरूप लाभ करना दार्शनिक का लक्ष्य होना चाहिए। इन्द्रियानुभव इस स्वरूप को आवृत करता

है। अतः इन्द्रियो का दास होना उचित नहीं। जब-जब प्लेटो ने इन्द्रियों की निन्दा की है तब-तब उनका लक्ष्य इन्द्रिय-जगत को असत् सिद्ध करना न हो कर इन्द्रिय-जगत् के ऊपर विज्ञान-जगत् की ओर उठता रहा है। दुष्ट इन्द्रियाँ उस अडियल और बदमाश घोडे की तरह है जो रथ को गर्त मे ले जाकर पटक देता है और वहाँ से सरकने का नाम नही लेता। साधु इन्द्रियाँ उस उत्तम घोडे के समान हैं जो रथ को सन्मार्ग पर ले जाती है। 'फ्रीड्रस' मे कहा गया है कि शरीररूपी रथ में साधु और दुष्ट दोनो घोडें जुते रहे है।[1] एक विज्ञानों की ओर जाता है और दूसरा विषयो की ओर। आत्मारूपी रथी का कर्त्तव्य दुष्ट घोड़े को रथ से निकाल देना नहीं हैं, किन्तु उसको साधु घोडे के साथ-साथ चलना है। इससे यह स्पष्ट है कि प्लेटो इन्द्रिय-जगत् का नाश नही करना चाहते; वे उसकी प्रवृत्ति आत्माभिमुख करना चाहते हैं। नित्य-विज्ञान भी जिसकी ज्योति से चमक रहे है, जो ईश्वर का भी पिता है, जो समस्त विश्व में अन्तर्यामी है, जो पर और अनिवर्चनीय है, जो सृष्टि का परम आदर्श और लक्ष्य है, जिसकी ओर जगत् निरन्तर विकसित हो रहा है, उस विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिवतत्व (Idea of the Good) का निर्विकल्प साक्षात्कार ही मानव-जीवन की चरम सार्थकता है।

(४) सत्ता की दृष्टि से, विज्ञान "चिद्रूपशुद्ध सत्" है। विश्व के पदार्थ अपनी सत्ता विज्ञानों से ही लेते हैं। इस सत्ता का तारतम्य है। जो पदार्थ विज्ञान की ओर जितना अभिमुख है, उसकी उतना ही अधिक सत्ता है। विज्ञान नित्य, अधिकारी, अविनाशी, शाश्वत, सामान्य और सत् है। ये हमारी बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं है। हमारे विज्ञान इन दिव्य विज्ञानों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इन विज्ञानो की वास्तविक सत्ता है। जगत् के पदार्थ इन विज्ञानों के ही प्रतिरूप हैं।

एरिस्टॉटल के अनुसार सॉक्रेटीज़ इन विज्ञानो को केवल 'सामान्य ही मानते थे और इन्हे सासारिक विशेषों से पृथक् नही करते थे, किन्तु "विज्ञानवाद के समर्थको ने" (अर्थात् प्लेटो ने) इनको वस्तु-जगत् से पृथक् करके दिव्यलोक में स्वतन्त्र सत्ता दे दी। एरिस्टॉटल का यह कथन विचित्र है। सॉक्रेटीज़ नि सन्देह इन विज्ञानों की स्वतन्त्र सत्ता मानते थे। स्वयं एरिस्टॉटल भी इन विज्ञानो की 'वास्तविक सत्ता' स्वीकार करते है। किन्तु उनका आक्षेप केवल इतना ही प्रतीत होता है कि प्लेटो ने विज्ञानो को 'पर' क्यों माना ? एरिस्टॉटल विज्ञानों को विशेषों में अनुगतमात्र मानते है, उससे पृथक् नहो। किन्तु विज्ञानों को अनुस्यूत मात्र मानने से उसकी सत्ता विशेषों पर निर्भर नही हो जायेगी ? एरिस्टॉटल को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा है कि वस्तुतः सत्ता 'विशेषों' की ही है और सामान्यों की सता "गौण" है। किन्तु

1. कठोपनिषद् में भी यह उपमा दी गई है।

यदि ऐसा है, तो फिर सामान्यों की 'वास्तविक सत्ता' मानने का क्या अर्थ ? एरिस्टॉटल ने प्लेटो का खण्डन करने के लिये ही स्वयं को इस विचित्र विरोधात्मक परिस्थिति में फँसा लिया जिससे वे कभी मुक्त नहीं हो सके। एरिस्टॉटल ने जितने भी आक्षेप इस विज्ञानवाद पर किये है उनको स्वयं प्लेटो ने पार्मेनाइडीज़ में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करके उनका उत्तर दे दिया था। अतः एरिस्टॉटल के आक्षेप एकाकी और भ्रामक है। आश्चर्य है कि 'पार्मेनाइडीज़' को पढ़कर भी एरिस्टॉटल ने प्लेटो पर आक्षेप किये। 'पार्मेनाइडीज़' के कुछ स्थल यहाँ उद्धत करना ठीक होगा—

'पार्मेनाइडीज़' ने पूछा—अच्छा सॉक्रेटीज़ ! यह तो बताओ कि क्या तुम इस बात को मानते हो कि विश्व के विशेष 'समान' पदार्थों के अतिरिक्त 'समानता' नामक एक सामान्य विज्ञान है और इसी प्रकार 'एकता' तथा 'अनेकता' आदि भी विज्ञान है ?

सॉक्रेटीज़ ने उत्तर दिया—अवश्य, मैं इसे मानता हूँ।

पार्मेनाइडीज़ ने पूछा—और इसी प्रकार क्या तुम 'सत्यत्व', 'सौन्दर्य' और 'शिवत्व' को भी विज्ञानरूप मानते हो ?

सॉक्रेटीज़ ने कहा—हाँ।

पार्मेनाईटीज़—और क्या तुम हम जैसे विशेष मनुष्यों के अतिरिक्त किसी 'सामान्य मनुष्य'को भी मानते हो ? क्या तुम अग्नि या जलके भी विज्ञान मानतेहो ?

सॉक्रेटीज़—इसके विषय में मैं प्रायः दुविधा में पड़ जाता हूँ कि हमें इनके भी 'विज्ञान' मानना उचित होगा या नहीं।

पार्मेनाइटीज—सॉक्रेटीज़ ? क्या तुम ऐसे पदार्थों को विज्ञान मानने के विषय में भी दुविधा में पड़ जाते जिन्हें हम हीन और तुच्छ समझते है जैसे—बाल, कीचड़, धूल इत्यादि ?

सॉक्रेटीज़—बिलकुल नहीं। ये पदार्थ तो वैसे ही है जैसे हमें प्रतीत होते हैं। इनके विज्ञान मानना निरर्थक है।

पार्मेनाइडीज़—सॉक्रेटीज़ ! अभी तुम नवयुवक हो इसलिए ऐसा कहते हो। अभी तुम्हारी बुद्धि दर्शन मे परिपक्व नहीं हुई है। एक दिन अवश्य ऐसा आयगा जब तुम्हारी बुद्धि परिपक्व हो जायगी और तब' तुम कीचड़ और धूल इत्यादि को भी हीन एवं तुच्छ नहीं समझोगे।'

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सॉक्रेटीज़ को गणित के पदार्थों (समान, एक, अनेक आदि) और दर्शन के पदार्थों (सत्य, सुन्दर, शिव आदि)

के विज्ञान मानने मे तनिक भी आपत्ति नही थी, भौगोलिक विज्ञान और प्राणि-विज्ञान के पदार्थों (अग्नि, जल, मनुष्य आदि) के विज्ञान मानने मे उन्हे सन्देह था; और साधारण तुच्छ पदार्थो (बाल, कीचड़ धूल आदि) के विज्ञान मानना उन्हे स्वीकार नही था। किन्तु प्लेटो (और परिपक्वावस्था मे साक्रेटीज भी) किसी भी पदार्थ को विज्ञान-रहित मानने के लिये तैयार नही थे; क्योकि यदि किसी पदार्थ का विज्ञान न हो तो उसकी प्रतीति भी नही हो सकती। भ्रान्ति के लिए भी अधिष्ठान मानना आवश्यक है। विश्व की कोई भी प्रतीयमान वस्तु इतनी तुच्छ नहीं कि उसमे विज्ञान अनुस्यूत न हो। इससे सिद्ध होता है कि प्लेटो विज्ञानो को इन्द्रिय-जगत् के अणु-अणु मे अन्तर्यामी मानते थे और विज्ञान-जगत् को इन्द्रिय-जगत से पृथक् करने के लिए तैयार नही थे, क्योकि ऐसा होने पर इन्द्रिय-जगत् की व्यावहारिक प्रतीति तक नही हो सकती। ऐरिस्टॉटल जब प्लेटो पर यह अभियोग लगाते हैं कि प्लेटो ने इन्द्रिय जगत् को विज्ञान-जगत् से सर्वथा पृथक कर दिया, तो वे इस बात को भूल जाते है।

प्लेटो के इस विज्ञानवाद पर निम्नलिखित आक्षेप किये जाते हैं जिनको स्वयं प्लेटो ने पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थित किया और जिनका समाधान करने का उन्होने प्रयत्न किया—

(१) यदि विज्ञान अपने दिव्य जगत् में रहते हैं, तो क्या वे वस्तु-जगत् के पदार्थों की निरर्थक पुनरावृत्तिमात्र नहीं है ?

(२) यदि इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् में "भाग लेता" है, तो क्या इसमें अनवस्था दोष नही आ जाता ?

(३) यदि इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् का "प्रतिबिम्ब" मात्र है, तो क्या वह असत् नहीं हो जाता ?

(४) क्या इन्द्रिय-जगत् और विज्ञान-जगत् का द्वैत पारमार्थिक नही हो जाता ?

(५) इन विज्ञानो मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या ये अस्त-व्यस्त और अनियमित समूह मात्र नही है ?

(६) इन विज्ञानो का शिवतत्व से, ईश्वर से और जीवात्मा से क्या सम्बन्ध है ?

प्रथम आक्षेप का उत्तर प्लेटो ने इस प्रकार दिया है—विज्ञान इन्द्रि जगत् मे अन्तर्यामी है। इनकी सत्ता के कारण ही इन्द्रिय-जगत् की सत्ता है। इनको 'पर' इस अर्थ में कहा जाता है कि इनकी सत्ता इन्द्रिय-जगत् की सत्ता से सीमित नही होती। अत· विज्ञान-जगत् इन्द्रिय-जगत् की निरर्थक पुनरावृत्ति नही है।

द्वितीय आक्षेप का उत्तर है। "भाग लेने" का अर्थ यदि "वास्तविक अंश"

बनना है, तो इन्द्रिय'जगत् इस अर्थ में विज्ञान-जगत् में भाग नहीं लेता। "भाग लेने" का अर्थ केवल "अभिव्यक्त" होना है। प्लेटो ने 'पार्मनाइडीज़ में इसे स्पष्ट कर दिया है—

पार्मेनाइडीज़—प्रत्येक वस्तु जो किसी सामान्य विज्ञान में भाग लेती है, या तो इस विज्ञान का पूर्णतः लेगी या अंशतः। इसके अतिरिक्त कोई तृतीय विकल्प तो नहीं है?

सॉक्रेटीज़—नहीं तो।

पार्मेनाइडीज़—तो क्या तुम यह मानते हो कि प्रत्येक वस्तु पूर्ण सामान्य को ही ग्रहण करती है?

सॉक्रेटीज़—ऐसा तो होना ही चाहिए, पार्मेनाइडीज़!

पार्मेनाइडीज़—तो क्या एक सामान्य को अनेक विशेषों में अनुगत होने के लिए विभाज्य नहीं बनना होगा? और यदि सामन्य विभाज्य हो गया तो वह एक रहेगा? और फिर नित्य कैसे होगा?

सॉक्रेटीज़—बात तो ठीक है।

पार्मेनाइडीज़—तो अब बताओ कि तुम्हारे विशेष तुम्हारे सामान्य में किस प्रकार भाग ले सकेंगे?

सॉक्रेटीज़—यह तो विषम समस्या है।[1]

पार्मेनाइडीज़—मान लो कि कई लम्बी वस्तुएँ 'लम्बाई' रूपी विज्ञान में भाग लेती हैं। तब क्या इन लम्बी वस्तुओं को और इस 'लम्बाई' को 'लम्बी' बनाने के लिए दूसरे विज्ञान की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी? और इस प्रकार क्या अनवस्था दोष नहीं आयगा?

सॉक्रेटीज़—यह भी विकट समस्या है।

तृतीय आक्षेप का उत्तर यह है—यह 'प्रतिबिम्ब' को शाब्दिक अर्थ में लिया जाय और इससे सिद्ध किया जाय कि बिम्ब और 'प्रतिबिम्ब' में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं और प्रतिबिम्ब सर्वथा असत् है, तो इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् का 'प्रतिबिम्ब' नहीं है। वस्तुतः 'बिम्ब' और 'प्रतिबिम्ब' का अभिप्राय विज्ञान-जगत् की पारमार्थिक

---

१. दिङ्नाग ने भी न्याय-वैशेषिक के 'सामान्य' का खण्डन इसी प्रकार के तर्कों से किया है:

'न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो! व्यसनसन्ततिः॥'

सत्ता और इन्द्रिय-जगत् की व्यावहारिक सत्ता से है। अन्यथा 'बिम्बों' के ज्ञान के अभाव में 'प्रतिबिम्बों' का प्रतिपादन भी अयुक्त है और अनवस्था दोष भी है।

चतुर्थ आक्षेप का उत्तर है—इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र है। अतः दोनों का भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। तर्क से तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता। तर्क द्वन्द्वो में ही फँसा रहता है। जब तक तर्क का स्तर है, यह भेद बना रहेगा। जब स्वानुभूति द्वारा शिवतत्व का साक्षात्कार होगा, यह द्वैत नहीं रहेगा।

प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत् को कभी 'असत्' नहीं बताया। यह जगत् प्रतीतिमात्र है। यह छाया है। न यह 'सत्' और न 'असत्'। 'सिम्पोज़ियम' में जगत् को 'सत् और असत् की सन्तान' एव-पूर्ण अज्ञान और पूर्ण ज्ञान के बीच की अवस्था' कहा गया है। 'रिपब्लिक' में इसे अर्द्ध सत् और अर्द्ध 'असत्' बताया गया है। 'सोफ़िस्ट' में इसे 'सत् और असत् के विरोध पर निर्भर' बताया गया है। व्यावहारिक जगत् की सत्ता छीन लेने के बजाय प्लेटो ने 'असत्'. 'भ्रांति' औद 'स्वप्न' को भी कुछ न-कुछ सत्ता दी है। 'सोफ़िस्ट' में कहा गया है—'पूर्ण असत् की कल्पना असम्भव है।' 'भ्रांति' भी जब तक भ्रम है तब तक तो है ही। बोध होने पर ही भ्रान्ति असत् होती है।' 'थीटीटस' में—स्वप्न-द्रष्टा का स्वप्न-जगत् और ज्वर से सन्तप्त व्यक्ति का काल्पनिक जगत् जब तक स्वप्न और ज्वर है तब तक उतना ही सत्य है जितना जगानेवाले और स्वस्थ व्यक्ति के लिए यह इन्द्रियानुभूत जगत्।'[1]

अतः उन विद्वानों ने जो प्लेटो में इन्द्रिय-जगत् और विज्ञान-जगत् का आत्यन्तिक भेद रखते हैं या जो प्लेटो पर इन्द्रिय-जगत् को असत् बना देने का अभियोग लगाते है, शायद उपर्युक्त स्थलों पर दृष्टिपात नहीं किया है। प्रोफेसर बर्नेट का यह कथन, कि 'इन्द्रिय-जगत् और विज्ञान-जगत् इन दो जगतों के भेदरूपी भूत को, जो पार्मेनाइडीज़् के समय से ग्रीक दर्शन को सता रहा था, प्लेटो ने भगा दिया'; अक्षरशः सत्य है।

पाँचवें आक्षेप का उत्तर है: ये विज्ञान परस्पर असम्बद्ध और अनियमित नहीं हैं, अपितु शिवतत्व रूपी सूत्र में बँधे हुए हैं। शिवतत्व इनमें अनुस्यूत है और इनको अनुप्राणित कर रहा है। उसी की ज्योति से ये चमक रहे हैं। उसी के कारण इनमें एकरूपता सामंजस्य और समन्वय है।

छठें आक्षेप का उत्तर है: शिवतत्व इन विज्ञानों का अन्तर्यामी अधिष्ठान है। ईश्वर इन विद्वानों द्वारा सृष्टि का निर्माण करते हैं—ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण हैं और विज्ञान स्वरूप-कारण। जीवात्माके विज्ञान इन नित्य विज्ञानोंकी ही अभिव्यक्ति

१. अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद।

हैं। इन्द्रियानुभव से बद्ध होने के कारण जीवात्मा इन विज्ञानों का साक्षात् नहीं करती। जब वह बन्धनमुक्त हो जाती है तो इन विज्ञानो को और इनके अधिष्ठान शिवत्व को साक्षात् अनुभव करती है।

अतः स्पष्ट है कि प्लेटो के विज्ञानवाद पर जो आक्षेप लगाये गये है वे भ्रांति और निर्मूल हैं।

(५) रहस्य की दृष्टि से, विज्ञान 'शिवतत्व की अभिव्यक्ति के स्तर' है। इन विज्ञानों का बहुत्व शिवतत्व में विलीन हो जाता है। 'सिम्पोज़ियम' में इस तत्व को 'परम सौंदर्य' (Supreme Beauty) और 'फीड्रस' में 'परम सत्' (Supreme Being) तथा 'रिपब्लिक' में 'विज्ञानस्वरूप शिवतत्व' को (Idea of the good) कहा गया है। 'सिम्पोज़ियम' मे 'परम सौदर्य' का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'यह नित्य, अजात और अविनाशी है; न इसकी वृद्धि है और न हानि; न यह अंशतः सुन्दर है और अंशतः असुन्दर; न यह 'कभी सुन्दर और कभी असुन्दर' है; न यह एक वस्तु की अपेक्षा सुन्दर हैं और न दूसरी वस्तु की अपेक्षा असुन्दर; न यह 'यहाँ सुन्दर और वहाँ असुन्दर' है; न यह कुछ व्यक्तियों के लिए सुन्दर और अन्य व्यक्तियों के लिए असुन्दर है। और न इस 'परम सौन्दर्य' की कल्पना किसी सुन्दर मुख या सुन्दर हाथ या अन्य किसी सुन्दर अंग की समानता से की जा सकती है और न इसकी कल्पना बुद्धि द्वारा या विज्ञान द्वारा की जा सकती है। इस पृथ्वी में या स्वर्ग में कोई इसके समान नहीं। यह नित्य और सदा समरस है।'

'फीड्रस' में 'परम सत्' का वर्णन यह है—'परम सत् का न कोई रूप है, न कोई आकार और न कोई घनत्व। इसका साक्षात्कार केवल विशुद्ध प्रज्ञा से हो सकता है।······तब यह ऐसा नहीं प्रतीत होगा जैसा सृष्टि में हो रहा रहा है; उस समय वह अपने नित्य और विशुद्ध स्वरूप में प्राप्य होगा।'

इस परमतत्व का सर्वोत्तम वर्णन 'रिपब्लिक' में हुआ है—'जो ज्ञेय को (अर्थात् विज्ञानों को) सत्ता और ज्ञाता को (अर्थात् आत्मा को) ज्ञान शक्ति देता है उसे मैं चाहता हूँ कि तुम 'विज्ञानस्वरूप शिवतत्व' कहो और उसे तुम विज्ञान तथा सत्य का भी कारण मानो। जिस प्रकार प्रकाश और दृष्टि को (सूर्य से प्रकट होने के कारण) सूर्य के समान कहा जा सकता है, किन्तु इस कथन से ये सूर्य ही नही बन जाते, उसी प्रकार विज्ञान और सत्य को भी शिवतत्व के समान कहा जा सकता है; किन्तु साक्षात् शिवतत्व नहीं; शिवतत्व के आदर का स्थान इनसे बहुत ऊँचा है। जो विज्ञान और सत्य का कारण है। वह कितना अद्भुत सौंदर्य होगा!···शिवतत्व केवल सब वस्तुओं के (अर्थात् इन्द्रिय-जगत् के) ज्ञान का ही कारण नहीं है, वह उसी सत्ता और उसके स्वरूप का (अर्थात् विज्ञानों का) भी कारण है; फिर भी इस

शिवतत्व को (अन्य विज्ञानों के सामने) केवल विज्ञान ही नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसका गौरवपूर्ण स्थान और इसकी शक्ति विज्ञानों से बहुत ऊपर है।'

प्लेटो का यह शिवतत्व एक साथ 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' है। यह सत्-चित्त-आनन्द है। यह अन्य विज्ञानों के समान एक सर्वोत्तम विज्ञान नहीं है; यह विज्ञानोंका भी विज्ञान है। यह स्वरूपों का स्वरूप है। वह समस्त विज्ञानों का और समस्त सांसारिक पदार्थों का जनक है। यह विज्ञान-जगत् और इन्द्रिय-जगत दोनों का अन्तर्यामी अधिष्ठान है। यह समस्त सत्ता और ज्ञान का मूलस्रोत है। यह आत्मा को ज्ञान-शक्ति और दृश्य जगत् को सत्ता प्रदान करता है। यह ईश्वर से भी ऊपर है। ईश्वर केवल सगुण स्रष्टा हैं जो विज्ञानो के मूलरूपों को आदर्श मानकर सृष्टि करते है। यह शिवतत्व ईश्वर और विज्ञान दोनों का कारण है। यह उनका भी प्राण है। प्लेटो ने ईश्वर को सृष्टि का निमित्त-कारण (Cause) और नियन्ता (Captain) माना है तथा शिवतत्व को ईश्वर का भी पिता (Father of that Captain and Cause) कहा है। प्रोफेसर टेलर ने प्लेटो के शिवतत्व की ईसाई धर्म के ईश्वर से तुलना की है। यह तुलना आंशिक ही हो सकती है; क्योंकि दोनों सृष्टि के मूल कारण हैं, किन्तु ईसाई धर्म के ईश्वर केवल 'पर' है और यह शिवतत्व 'पर' और 'अन्तर्यामी' दोनों है। यह शिवतत्व निर्गुण और अनिर्वचनीय है। बुद्धि की गति इस तक नहीं। यह केवल निर्विकल्प स्वानुभूति द्वारा ही साक्षात किया जा सकता है। तर्क द्वन्द्वात्मक विरोधों को जन्म देकर अपनी असहायता प्रकट करता है और स्वानुभूति की ओर संकेत करता है।

प्लेटो ने इस शिवतत्व के साक्षात्कार को 'रिपब्लिक' से सुन्दर रीति से बताया है :—मान लो कि कुछ मनुष्य पृथ्वी के अन्दर एक गुफा में रह रहे हैं। इस गुफा का द्वार प्रकाश की ओर खुलता है। ये मनुष्य यहाँ बचपन से ही रह रहे हैं। इनके पैर और गर्दन साँकल से बँधी है और ये पीछे नहीं मुड़ सकते, केवल सामने देख सकते हैं। इनके पीछे और ऊपर की ओर कुछ दूरी पर आग जल रही है······और ये लोग दीवार पर केवल अपनी या एक दूसरे की बाहर की वस्तुओं की छाया ही देखते हैं। अब यदि इनमें से किसी एक को बन्धनमुक्त करके ऊपर भेजा जाय और उसे प्रकाश की ओर देखने को बाध्य किया जाय तो पहले उसे तीव्र वेदना होगी प्रकाश से उसकी आँखें चौंधिया जायँगी, वन उन वस्तुओं को साक्षात् नहीं देख सकेगा जिनकी छाया वह गुफा में देखा करता था।···क्या वह यह नहीं सोचेगा कि वे छाया कृतियाँ, जिन्हें देखने का वह अभ्यस्त है, इन असली वस्तुओं से अधिक सत्य हैं?··· धीरे-धीरे अभ्यास से उसके नेत्र उन वस्तुओं को देख सकेंगे।' इन्द्रियानुभव का जगत् छाया मात्र है। हम इसको देखने के ही अभ्यस्त हैं। किन्तु जब हमारे बन्धन खुल जायगे तो हम निर्विकल्प अनुभूति से शिवयत्व का साक्षात्कार कर सकेंगे। हम छाया

को ही काया मान बैठे हैं। जब कोई सिद्ध पुरुष तत्व की ओर संकेत करता है तो हम उसे मिथ्या समझते हैं। किन्तु निर्विकल्प अनुभूति से हम स्वयं तत्व को ग्रहण कर सकते हैं। तत्व-दर्शन ही दर्शन का लक्ष्य है और इसी में उसके नाम की सार्थकता है।

अनिर्वचनीय शिवतत्व का इससे अधिक निर्वचन नहीं हो सकता। प्लेटो ने अपने शिष्यों को, साक्षात् सम्पर्क में आकर, तत्व का उपदेश दिया था। उसको उन्होंने प्रकाशित नहीं किया। चरम उपदेश तो मौन ही है। प्लेटो के समय में ही उनके शिवतत्व के विषय में लोगों ने कुछ लिखा होगा उसका खण्डन करते हुए स्वयं प्लेटो ने यह लिखा हैं जो ध्यान देने योग्य है—इस (शिवतत्व के) विषय पर मेरा कोई लेख नहीं है न मैं कभी लिखूँगा। इस पर अन्य विषयों के समान, कुछ लिखा भी नहीं जा सकता; काफी लम्बे समय तक साक्षात् सम्पर्क में आने से और साधना करने से सहसा एक ज्योति जगा दी जाती है और जब वह आत्मा में पहुँच जाती है तो अपनी पुष्टि के लिए भोजन स्वयं खोज लेती है। कम-से-कम इतना तो मैं जानता ही हूँ कि इस विषय पर यदि कुछ लिखना या कहना हो तो मैं स्वयं उसे अन्य लोगों की अपेक्षा उत्तम रीति से कह सकता हूँ, और मैं यह भी जानता हूँ, कि अन्य व्यक्तियों द्वारा इस विषय पर मेरे विचारों के नाम से जो कुछ अर्नगल लिखा जा रहाहै, उससे मेरे नाम की ही हानि होगी। यदि मैं यह सोचता कि इस विषय पर ठीक-ठीक लिखा जा सकता है और उसे विश्व के सम्मुख रक्खा जा सकता है, तो जीवन में इससे बढ़कर हर्ष की बात मेरे लिए और क्या होती? किन्तु मेरे विचार से ऐसा प्रयास करना भी उचित नहीं है, क्योंकि उससे कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर, जिनको संकेत द्वारा साधना के मार्ग पर चलाया जा सकता है, औरों को कोई लाभ नहीं हो सकता। अन्य लोगों को इससे या तो घोर घृणा हागी या उनको यह मिथ्याभिमान होगा कि उन्होंने वास्तव में कोई अद्‌भुत बस्तु पा ली है।"

प्लेटो के अनुसार ज्ञान ही धर्म है और अज्ञान अधर्म। वास्तविक ज्ञानी कभी अधर्म नहीं कर सकता क्योंकि धर्म ही उसका स्वरूप है। यह ज्ञान ही परम आनन्द है। सांसारिक सुखों में उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य है। इन्द्रिय-सुख के ऊपर भावना सुख है, भावना-सुख के ऊपर बुद्धि-सुख और बुद्धि-सुख के ऊपर स्वानुभूति-सुख। अज्ञानी जन इन्द्रिय-सुख की ओर आकृस्ट होते हैं। ये इन्द्रिय-सुख निरन्तर बढ़नेवाली खाज के समान हैं, इसे खुजलाने में सुख की भ्रान्ति होती है और वास्तव में दुःख बढ़ता जाता है।[1] 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने कहा है—'ये लोग (विषय-सुख के प्रेमी) निरे पशुओं के समान हैं' इनकी दृष्टि नीचे है और शरीर पृथ्वी पर झुक रहे हैं, ये लोग

१. कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्' भागवत।

खाते-पीते और मुटाते हैं तथा सन्तानोत्पत्ति में लगे रहते हैं[१]; विषय-सुख के अत्यधिक प्रेम के कारण ये मानव पशु अपने लोहे जैसे सींगों और खुरों से एक दूसरे पर प्रहार करते हैं और दुलत्तियाँ झाड़ते हैं और अपनी सदा अशान्त तृष्णा के कारण एक दूसरे के प्राण लेते रहते हैं।' प्लेटो के अनुसार, इस संसार में दुख:पूर्वक जीनेवाला धार्मिक व्यक्ति सुखपूर्वक जीनेवाला अधार्मिक व्यक्ति से कई गुना बड़ा है, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति को आत्म-सन्तोष रूपी सर्वोत्तम सुख प्राप्त है। अपनी आत्मा को बेचकर सारे विश्व को खरीद लेने में कोई लाभ नहीं।

जीवात्मा के तीन रूप हैं—बुद्धि (Cognition), संकल्प (Conation) और वेदना (Affection)। बुद्धि का धर्म ज्ञान (Wisdom), संकल्प का धर्म बल (Courage) और वेदना का धर्म संवेदनात्मक क्रिया (Appetite) है।[२] इन तीनों का सन्तुलन या 'योग' न्याय (Justice) कहलाता है। इन धर्मों के प्राधान्य के कारण मनुष्यों को भी तीन 'जातियों' में विभक्त किया जा सकता है। जिनमें ज्ञान का प्राधान्य है वे 'संरक्षक' (Guardians), जिनमें बल का प्राधान्य है वे 'सैनिक (Soldiers) और जिनमें क्रिया का प्राधान्य है वे 'पृथग्जन' (Artisans) कहलाते हैं।[३] प्रथम जाति के मनुष्य 'स्वर्ण के हैं, द्वितीय' चाँदी के और तृतीय 'पीतल या लोहे' के। प्लेटो 'प्रजातन्त्र' के विरुद्ध थे, क्योंकि उनके अनुसार इसमें ज्ञान का प्राधान्य नहीं होता। उन्होंने लिखा है—'घोड़े और गधे, 'स्वतन्त्र' मनुष्यों के आदर अधिकारों को प्राप्त करके सड़कों पर दौड़ते चलें और जो रास्ते में आये उसे मारते चलें। स्वतन्त्रता! सर्वत्र स्वतन्त्रता! क्या यही स्वतन्त्रता है?' प्लेटो के अनुसार स्वतन्त्रा का अर्थ उच्छृङ्खलता या परतन्त्रता नहीं है, उसका अर्थ 'ज्ञान-तन्त्रता' है। जब तक दार्शनिक (ज्ञानीसन्त) राजा न बनें या राजा दार्शनिक (ज्ञानीसन्त) न बने तब तक विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

'१. पुत्रत्योत्पादने दक्षा अदक्ष मुक्तिसाधने। पण्डितास्यु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव॥

२. 'स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ३. ब्राह्मण' क्षत्रिय और वैश्य-शूद्र।

तृतीय अध्याय

ग्रीक दर्शन : एरिस्टॉटल

एरिस्टॉटल (अरस्तु) (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०)—एरिस्टॉटल (Aristotle) का जन्म ग्रीस के स्टेगिरा नामक नगर में हुआ था। उनके पिता मेसीडोन-नरेश के राजवैद्य थे। १७ वर्ष की आयु में एरिस्टॉटल विद्याध्ययन के लिए एथेन्स स्थित प्लेटो की 'एकेडमी' मे भर्ती हुए और बीस वर्ष तक प्लेटो का देहान्त होने तक, वे अपने गुरु प्लेटो के साक्षात् सम्पर्क में रहे। बाद में उन्होंने एकेडमी छोड़ दी और अपने स्वतन्त्र विचारों के विकास में लग गये। एसोस नगर में जाकर वे हरमियस के सम्पर्क में आये और उनकी भतीजी पाइथियस से विवाह कर लिया। मेसीडोन-नरेश फिलिप के राजकुमार एलेक्जान्डर (सिकन्दर) के, जो बाद में महान्' कहलाये, वे तीन वर्ष तक अध्यापक रहे। एथेन्स लौटकर उन्होंने अपनी 'लाइसियम' (Lyceum) नामक शिक्षा-संस्था की स्थापना की। एलेक्जान्डर की मृत्यु के बाद उन पर अधार्मिकता का अभियोग लगाया गया और वे एथेन्स छोड़कर चालसिस चले गये क्योंकि वे एथेन्सवासियों को "दर्शन के विरुद्ध दूसरा पाप करने का अवसर" देना चाहते थे (एथेन्सवासियो का दर्शन के विरुद्ध पहला पाप सॉक्रेटीज(सुकरात) को मृत्यु दण्ड देना था)। वहीं एक वर्ष बाद उनका देहान्त हो गया। जनश्रुति के अनुसार एरिस्टॉटल का सिर गंजा, पैर पतले और आँखें छोटी थीं और वे हकलाते थे। उनको ग्रीक होने का अभिमान था और वे अन्य लोगों को 'बर्बर' जंगली समझते थे। साधारण ग्रीक लोगों को भी वे तुच्छ समझते थे। वे बुद्धि और इन्द्रियानुभव दोनों का सामंजस्य करके 'मध्यम' मार्ग के समर्थक थे।

प्लेटो के बाद दार्शनिक महत्ता में एरिस्टॉटल का ही नाम आता है। उन्होंने दर्शन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान भौतिक-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, आचार-शास्त्र, राजनीति और साहित्य पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। पाश्चात्य निगमन तर्क के वे तो जनक ही हैं और उसको उन्होंने जो रूप दिया वह शताब्दियों तक मान्य रहा और आज भी उसका महत्व है। मध्ययुग के दार्शनिकों का मुख्य कार्य ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का एरिस्टॉटल के विचारों के साथ समन्वय करना था। उनके मुख्य ग्रंथ हैं—'भौतिक-विज्ञान' (Physics), 'तत्व-विज्ञान' (Metaphysics), 'आचारशास्त्र' (Ethics) और 'तर्कशास्त्र' (Organon)।

एरिस्टॉटल के अनुसार ज्ञान के तीन स्तर हैं। प्रथम है इन्द्रियानुभव जिसके द्वारा हमें केवल विशेषों का पृथक-पृथक् ज्ञान होता है। द्वितीय है पदार्थ विज्ञान जिसके

द्वारा हम विशेषों में सामान्य को खोजते है, उनके, कार्य-कारण-भावसम्बध को जानते हैं और उस ज्ञान को जीवन के उपयोग मे लाते है। तृतीय ज्ञान है तत्वज्ञान या दर्शन। यह सर्वोत्तम है। यह परम तत्व या परम सामान्य का 'शुद्ध सत्ता का, 'सत्' का ज्ञान है। यह परमार्थतत्व के शुद्धस्वरूप का ज्ञान है। यह तत्व का दर्शन है।

एरिस्टॉटल अपने दर्शन को पूर्ववर्ती दार्शनिको के विचारों का पूर्ण समन्वय मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पूववर्ती दार्शनिक 'तुतलाता हुआ एरिस्टटॉल' (Lisping Aristotle) है। दर्शन का लक्ष्य पूर्ण सत्ता का ज्ञानहै। अन्य विज्ञान इस सत्ता के आंशिक रूपों को अपना क्षेत्र बनाकर विचार करते है। पूर्ववर्ती दार्शनिक भी इस 'सत्' के आंशिक रूपों की ही कल्पना कर पाये। इसकी पूर्णता, एटिस्टॉटल के अनुसार, उनके ही दर्शन में हुई है।

दर्शन का यह 'सत्' क्या है? एरिस्टॉटल का उत्तर है कि यह परम तत्व या परम द्रव्य (Substance) है। यह नित्य और कूटस्थ है। स्वयं अपरिणामी होते हुए भी वह समस्त परिणाम या परिवर्तन का कारण है। संसार मे दो वस्तुयें हैं— एक तो द्रव्य और दूसरे उनके परिणाम या पर्याय। परम द्रव्य सब द्रव्यों का द्रव्य है और सारे परिणामों का कारण है। दर्शन का मुख्य लक्ष्य इस परम द्रव्य का ज्ञान है जो सब द्रव्यों और उनके पर्यायों में अन्तर्निहित है, जो सबके पार सबसे ऊपर है और जिसको प्राप्त करने के लिए समस्त जगत् निरन्तर प्रयत्नशील है।

एरिस्टॉटल के अनुसार प्लेटो का सबसे वड़ा दार्शनिक अपराध उनका परमार्थ और व्यवहार का द्वैतवाद है। परमार्थ और व्यवहार की कल्पना तो अपराध नहीं है। यह तो किसी-न-किसी रूप में स्वयं एरिस्टॉटल को भी मान्य है। किन्तु अपराध है। परमार्थ और व्यवहार का आत्यन्तिक भेद। एरिस्टॉटल के अनुसार प्लेटो ने परमार्थ को व्यवहारसे विल्कुल अलग ऊपर उठाकर रख दिया है। प्लेटोका परमार्थ है विज्ञान (Idea) और व्यवहार हैं इन्द्रियानुभव (Sense)। प्लेटो ने विज्ञान-जगत् को इन्द्रियानुभव के वस्तु-जगत् से नितान्त भिन्न और असम्बद्ध मान लिया है। फलतः विज्ञान-जगत् हीं एक मात्र सत् और वस्तु-जगत् सर्वथा असत् बन गया है। एरिस्टॉटल भी विज्ञान का महत्व पूर्णरूप से मानते हैं। शुद्ध सत् ही शुद्ध-चित् है। किन्तु वे विज्ञान-जगत् को वस्तु-जगत् से भिन्न न मानकर उसी के अनुस्यूत मानते हैं। परमार्थ व्यवहार में अन्तर्निहित है, व्यवहार के पार उससे अत्यन्त भिन्न नहीं है। अतः एरिस्टॉटल के अनुसार विज्ञान का प्राधान्य होते हुए भी वस्तु-जगत् की सत्ता अक्षुण्ण है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद (Theory of Ideas) के खण्डन में अपनी सारी शक्ति लगाई है। अतः उस खण्डन को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद में ये दोष दिखाये हैं—

(१) प्लेटो के अनुसार विज्ञान (Ideas of Forms) के 'सामान्य'

(Universa's) हैं। सामान्य को उन्होंने केवल हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं माना है। वे सामान्यों को वास्तविक पदार्थ मानते है।[1] यह तो ठीक है। किन्तु उनके अनुसार सामान्यों का एक अलग ही संसार है। वस्तु-जगत् के पदार्थ अनित्य और असत् हैं, किन्तु ये सामान्य नित्य और सत् हैं। ऐसा मानना प्लेटो की भूल है। सामान्य, सत्य और नित्य वस्तु होते हुए भी, जगत् के पदार्थों से अलग नहीं रहते। वे विशेष व्यक्तियों या पदार्थों में ही अनुगत रहते हैं।

(२) यदि सामान्यों को विशेष द्रव्यों में अनुगत न मानकर उनसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो, फिर उन वस्तुओं के भी, जिनको हम द्रव्य नहीं कहते, सामान्य मानने पड़ेंगे। फिर तो, अभावों और सम्बन्धों को भी सामान्य मानने पड़ेंगे जो असंगत है।

(३) प्लेटो का विज्ञान-जगत् वस्तु-जगत् की निरर्थक पुनरावृत्ति मात्र है। सामान्यों की स्थापना प्लेटो ने वस्तुओं की सत्ता और उनके स्वरूप की संगित बताने के लिए की थी। संसार के विभिन्न पदार्थ अपने-अपने सामान्य के कारण सत् प्रतीत होते हैं। विविध मनुष्यों में 'मानवता' का सामान्य अनुस्यूत है और विविध अश्वों में 'अश्वत्व' इत्यादि। किन्तु प्लेटो इसे भूल गये और उन्होंने सामान्यों के संसारको इस संसार से सर्वथा पृथक् कर दिया। ऐसी दशा में सामान्यों या विज्ञानों का जगत् हमारे वस्तु-जगत् की पुनरावृत्ति बन गया। हमारे जगत् में जितने पदार्थ हैं उन सबके सामान्य विज्ञान जगत् में हैं। वस्तु-जगत् में विविध मानव अवश्य मेज कुर्सी आदि हैं जो अनित्य हैं और इन्हीं वस्तुओं के नित्य मौलिक रूप 'सामान्य मानव', 'सामान्य अश्व' 'सामान्य मेज,' आदि दिव्य-विज्ञान-जगत् में है। इस निरर्थक पुनरावृत्ति से क्या लाभ ?

(४) यदि इन सामान्यों की कल्पना इसलिए की जाती है कि इनके द्वारा हम विविध वस्तुओं को जान सकते हैं तो यह व्यर्थ है, क्योंकि ये सामान्य तो अपने दिव्य विज्ञान्-जगत् में रहते हैं, इस जगत् की वस्तुओं में नहीं, जिसके कारण इनके द्वारा वस्तुओं का ज्ञान हो सके।

(५) सामान्य नित्य, अपरिणामी और गतिशून्य हैं किन्तु इस जगत् की वस्तुओं में परिवर्तन और गति है। यदि सामान्तों के कारण ही सांसारिक वस्तुओं की सत्ता और उनका ज्ञान संभव हो, तो परिवर्तन और गति असंभव हो जायगी। सामान्य इस जगत् की परिवर्तन और गति का कोई उचित समाधान नहीं कर सकते।

(६) ये सामान्य वस्तुत: सांसारिक पदार्थों के काल्पनिक नित्य रूपों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। 'सामान्य मेज 'बिल्कुल सांसारिक मेज' की तरह ही है; अन्तर इतना ही है कि मेज नामक सत्य वस्तु अनित्य है और इस काल्पनिक मेज को नित्य मान लिया गया है।

१· प्लेटो के सामान्य इस अर्थ में न्याय वैशेषिक सामान्यों के समान है।

(७) सामान्यों को व्यक्तियों का प्राण, जीवन, आत्मा, स्वरूप और तत्त्व माना गया है। यदि ऐसा है तो फिर ये सामान्य 'व्यक्तिओं' से पृथक दूसरे ही लोक में कैसे रह सकते हैं ? तब यह कहना है कि व्यक्ति इन सामान्यों के प्रतिरूप, प्रकृति प्रतिबिम्ब, प्रतिलिपि आदि हैं या इनमें 'भाग लेते हैं,' काव्य-कल्पना मात्र है।

(८) ये तथाकथित सामान्य वस्तुतः सामान्य न होकर विज्ञान-लोक के 'व्यक्ति' हैं। हम लोग सांसारिक व्यक्ति हैं; ये काल्पनिक दिव्य व्यक्ति है, वस्तु-जगत् के एक मनुष्य नामक, 'व्यक्ति' को, उदाहरणार्थ सॉक्रेटीज को, ले लीजिये। सॉक्रेटीज इस लोक का 'व्यक्ति' है। इसका मौलिक रूप विज्ञान-लोक में 'सामान्य मानव' नामक एक 'दिव्य व्यक्ति' है। इसका सॉक्रेटीज से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु हैं दोनों मनुष्य, एक लौकिक है, दूसरा दिव्य है। अतः इन दोनों मनुष्यों में अनुगत और इन दोनों को मनुष्यत्व का धर्म देनेवाले एक 'तृतीय मनुष्य (Third Man) की कल्पना करनी पड़ेगी जो वस्तुतः इन दोनों का सामान्य हो। किन्तु प्लेटो के अनुसार यह सामान्य भी एक व्यक्ति-विशेष हो जायगा और इसके लिए एक और सामान्य खोजना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष (Infinite Regress) आयेगा। प्लेटो ने अपने सामान्यों को व्यक्तिओं से पृथक् करके उनको सामान्य-पद से गिरा दिया है। वे भी व्यक्ति विशेष बन गये हैं। इस प्रकार प्लेटो ने 'व्यक्ति' और 'सामान्य' का भेद ही नष्ट कर दिया है और इसलिए उनके सिद्धान्त में अनवस्था दोष का आना अनिवार्य हो गया है।

(९) प्लेटो अपने सामान्यों को 'संख्या' (Number) भी कहने लगे थे। किन्तु यदि ये संख्या हैं, तो गणित का विषय हैं, दर्शन का नहीं। यदि इनको दर्शन में भी घुसा दिया जाय, तो भी ये सांसारिक वस्तुओं का कारण तो कदापि नही बन सकते।

यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि एरिस्टॉटल ने अपने इस खण्डन में प्लेटो के साथ न्याय नहीं किया है। यह कथन तो उचित नहीं है कि एरिस्टॉटल प्लेटो के विज्ञानवाद को समझ नहीं सके थे, किन्तु यह अवश्य सत्य है कि एरिस्टॉटल ने, केवल खण्डन के लिए, प्लेटो के सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण तत्वों की उपेक्षा कर दी है और कुछ का अतिरंजन किया है। अपनी आरंभिक कृतियों मे प्लेटो ने सॉक्रेटीज का अनुसरण करके, यह लिखा है कि सांसारिक पदार्थ इन सामान्यों में "भाग लेते" है या उनके "प्रतिम्बिब" हैं, किन्तु बाद में प्लेटो ने स्वयं अपनी "पार्मेनाइडीज" नामक कृति में इसका संशोधन करके जगत् के पदार्थों को विज्ञानों की 'अभिव्यक्ति" माना है, जिस पर एरिस्टॉटल ने कोई ध्यान नही दिया। वस्तुतः एरिस्टॉटल के प्रायः सभी आक्षेपों को प्लेटो ने स्वयं उपस्थित करके उनका उत्तर दे दिया है। प्लेटो के सामान्य या विज्ञान वस्तु जगत के पार केवल इसी अर्थ में हैं कि

वेवस्तु-जगत् पर निर्भर नहीं हैं। 'पार' या ऊपर का अर्थ उनकी 'स्वतन्त्र' है, न कि भौतिक दृष्टि से ऊपर या दूसरे लोक में रहना। वस्तुतः विज्ञानों को प्लेटो ने दिक् कालातीत माना है। अतः उनके 'ऊपर' और 'नीचे', 'बाहर' और भीतर' का प्रश्न ही नहीं उठता। और फिर प्लेटो ने स्वयं ही विज्ञानों को वस्तुओं में अनुगत, अनुस्यूत या अन्तर्यामी भी माना है। विज्ञान-लोक वस्तुलोक से पृथक् और सर्वथा भिन्न नहीं है। वस्तु-जगत् में गति और परिवर्तन का कारण प्लेटो ने ईश्वर (Demiurge) को माना है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के ईश्वर का अपने इस खण्डन में नाम भी नहीं लिया है। प्लेटो ने इन विज्ञानोंका भी एक परम विज्ञान माना है जिसे वे 'शिवतत्व विज्ञान' (Idea of the Good) कहते हैं। यह परम विज्ञान ही वस्तुत शिवस्वरूप अद्वैत तत्व है जो सब विज्ञानों का सूत्रात्मा और सबमें अन्तर्यामी है। इस परम विज्ञान की ज्योति विज्ञानों में आती है और उनके द्वारा सांसारिक पदार्थों में। प्लेटो ने संसार को कभी नितान्त असत् नही कहा और वस्तु-जगत् और विज्ञान-जगत् के विभाग को पारमार्थिक द्वैत माना। एरिस्टॉटल ने अपने खण्डन में शिवतत्व-विज्ञान का नाम भी नहीं लिया है। वस्तुतः एरिस्टाटल के सब आक्षेप एकांगी और भ्रामक हैं। अस्तु।

एरिस्टॉटल के अनुसार भी सामान्य (Form of Universal) बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य है। सामान्य वस्तुगत है अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में अनुगत या अनुस्यूत (Immanent) है। सामान्य की सत्ता, वास्तविक होते हुए भी, व्यक्तियों से या वस्तुओं से पृथक् नहीं है। यह उनके पार या ऊपर (Transcendent) नहीं है। यही वास्तविक सामान्य (Concrete Universal) है। यह अनित्य वस्तुओं का नित्य स्वरूप है। यह भेद में अनुस्यूत अभेद है। सांसारिक पदार्थ वस्तुतः सत्य हैं वे द्रव्य है। वे तत्व (Substance) हैं। उन तत्वों का स्वरूप होने के कारण सामान्य भी तत्व है। वस्तुतः सामान्य ही हमारे ज्ञान के विषय हैं और विविध विज्ञानों (Sciences) का कार्य विभिन्न पदार्थों में अनुस्यूत सामान्यों का ज्ञान प्राप्त करना है। सामान्य विज्ञान-रूप हैं, अतः चेतन है, जड़ नहीं। संसार के विभिन्न पदार्थ अपनी जड़ता (Matter) के कारण अनित्य, परिणामी और विनाशशील हैं। इनका सामान्य, जो इनका स्वरूप (Form) है, नित्य, अपरिणामी और अविनाशी है, किन्तु इनमें अभिव्यक्त होने के कारण वह भी इनकी जड़ता से परिच्छिन्न हो जाता है। तत्व (Substance) शब्द का प्रयोग वस्तुतः सामान्य या स्वरूप (Form) के लिए ही होना चाहिए। किन्तु शुद्ध स्वरूप (Pure Form) जो जड़ता (Matter) से नितान्त रहित हो; केवल ईश्वर और आत्मा ही है, अतः ये ही वस्तुतः 'तत्व' है। यहाँ एरिस्टॉटल पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। किन्तु एरिस्टॉटल कभी-कभी इसके विपरीत भी कहते हैं कि वस्तुतः तत्त्व-विशेष व्यक्ति (Particular Individual) ही हैं। यह सदा एक और वहीं रहता है।

सामान्य को, व्यक्तिरूपी तत्त्वों में अनुगत रहने के कारण, गौण रूप से तत्त्व कहा जाता है। इन दो विरोधी धाराओं का समन्वय एरिस्टॉटल नहीं कर सके। एक ओर तो, प्लेटो के सामान्य का खण्डन करने के लिए उन्होने व्यक्ति को ही वास्तविक तत्व माना और दूसरी ओर, प्लेटो से ही प्रभावित होकर, उन्होंने सामान्य को ही एक मात्र शुद्ध तत्त्व कहे जाने का अधिकार दे दिया। शायद उनका तात्पर्य यही था कि व्यक्तियों से भिन्न और परे सामान्य की सत्ता नही मानी जा सकती। कुछ भी हो, एरिस्टॉटल इसका समुचित समाधान नही कर सके।

वस्तु-जगत् के प्रत्येक तत्व (Substance) मे दो बातें पाई जाती है—एक तो उसका द्रव्य (Matter) और दूसरी, उसका स्वरूप (Form)। स्वरूप तो सामान्य है जो एक जाति के सभी तत्वों में समान है द्रव्य विशेषता (Individuality) का जनक है। यही एक तत्त्व को जो यह है वही बनाता है। द्रव्य परिणाम और गति का आधार है। इसके कारण प्रत्येक तत्व, परिवर्तित और गतिशील होते हुए भी, वही बना रहता है। द्रव्य जडता का प्रतीक है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण है। इस जगत मे द्रव्य और स्वरूप को कभी अलग-अलग नही किया जा सकता। यहाँ एक के बिना दूसरा नही रह सकता। अतः इस संसार मे कोई वस्तु विशुद्ध द्रव्य या विशुद्ध स्वरूप नही है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विशुद्ध द्रव्य विशुद्ध स्वरूप की सत्ता ही नहीं। विशुद्ध द्रव्य है मूल प्रकृति (Materia Prima) और विशुद्ध स्वरूप है ईश्वर (Pure Form) एक पूर्ण जड़ता है और दूसरा पूर्ण चैतन्य, एक शुद्ध कर्म है और दूसरा शुद्ध ज्ञान; एक गति और परिणाम रूप है, दूसरा निश्चल और कूटस्थ। ये दोनों इस संसार के माता पिता है। संसार की प्रत्येक वस्तु इन माता-पिता के गुणों का समिश्रण होना अनिवार्य है। द्रव्य को एरिस्टॉटल 'साध्य' (Potentiality) और वरूप को 'सिद्ध' (Actuality) कहते हैं। 'साध्य' में सुप्त शक्ति होती है जिसको जगाने पर वह कुछ बन सकता है, किन्तु अभी बना नही है। उसमें विकास की क्षमता है, किन्तु अभी विकसित हुआ नही है। जब वह शक्ति को जाग्रत करके कुछ बन जाता है अर्थात् किसी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब वह 'सिद्ध' कहलाता है; क्योंकि उसने अपने स्वरूप को सिद्ध कर लिया है। मूलप्रकृति शुद्ध साध्य है। उसका कोई स्वरूप नही है। वह पूर्ण जडता है। अतः हमें उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ईश्वर शुद्ध सिद्ध है। उनमे पूर्ण चैतन्य है। अतः उनका भी हमें इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नही होता। हमारे संसार की प्रत्येक वस्तु साध्य और सिद्ध का मिश्रण है, द्रव्य और स्वरूप का मिश्रण है, जड़ता और चैतन्य का मिश्रण है।

हमारा संसार परिणामी और गतिशील है। यह परिणाम और गति एक निश्चत लक्ष्य के कारण होती है। विश्व में विशिष्टाद्वैत (Identity-in

difference) है। यहाँ भेद में अभेद अनुस्यूत है। संसार के विविध पदार्थ इस अभेद को पाने के लिये गति (Motion) या परिणाम (Change) वस्तुतः विकास (Development) है—द्रव्य का स्वरूप की ओर विकास, साध्य का सिद्ध की ओर विकास। प्रत्येक गति या परिणाम के चार कारण होते हैं—(१) उपादान कारण (Material Cause) (२) निमित्त कारण (Efficient Cause), (३) स्वरूप कारण (Formal Cause) और (४) लक्ष्य कारण (Final Cause)। उदाहरणार्थ संगमरमर की प्रतिमाको लीजिये। इसके लिए आवश्यकता हैं—(१) संगमरमर की (२) निर्माता की, (३) निर्माता के मस्तिष्क मे प्रतिमा के स्वरूप की, और (४) प्रतिमा बनाने के लक्ष्य की। यह तो जड़ पदार्थ का उदाहरण हुआ। अब प्राणी जगत् से उदाहरण लीजिए। किसी प्राणी की उत्पत्ति के लिये आवश्यकता है। (१) माता के रज की, (२) पिता के वीर्य की, (३) प्राणी के स्वरूप की, और (४) उत्पत्ति के लक्ष्य या उद्देश्य की। यहाँ ध्यान देने की बात यह है एरिस्टॉटल ने द्रव्य और स्वरूप के अतिरिक्त निमित्त और लक्ष्य को भी स्वीकार किया है। साध्य या द्रव्य को सिद्ध या स्वरूप बनने के लिये, निमित्त कारण की जो गति या परिणाम उत्पन्न कर सके और उस लक्ष्य की जिसकी ओर वह प्रगति कर रहा है आवश्यकता है। सृष्टि का आदि निमित्त कारण ईश्वर है, जो स्वय अगतिशील और अपरिणामी होते हुए भी, सारी गति और परिणाम का जनक है और वही सृष्टि का चरम लक्ष्य है जिसको प्राप्त करने लिए सृष्टि गतिशील है।

विश्व की प्रत्येक वस्तु में द्रव्य और स्वरूप दोनों हैं। प्रत्येक वस्तु साध्य से सिद्ध की ओर अग्रसर हो रही है, क्योंकि उसमें एक कमी या अभाव (privation) है जो उसमें नहीं होना चाहिये था और जिसको दूर करनेकी शक्ति उसमें अन्तर्निहित है। संसार की वस्तुओं में एक अखण्ड तारतम्य है। प्रत्येक वस्तु अपने ऊपर की वस्तु के लिए द्रव्य है और नीचे की वस्तु के लिए स्वरूप है। बीज से वृक्ष बनता है और वृक्ष की लकड़ी से पलंग। बीज में वृक्ष छिपा है और वृक्ष में फल। बीज में वृक्ष बनने की और वृक्ष में पलंग बनाने की 'सुप्त शक्ति' हैं। यह साध्य है; किन्तु अभी सिद्ध नही हुआ है यह कमी है, अभाव हैं; जिसे दूर किया जा सकता है। बीज में वृक्ष का स्वरूप छिपा है। सुप्त हैं। जब बीज वृक्ष बन जाता हैं तो यह स्वरूप सिद्ध हो जाता है। बीज की दृष्टि से वृक्ष स्वरूप हैं। किन्तु पलंग की दृष्टि से वृक्ष द्रव्य है। दूसरा उदाहरण लीजिये। मिट्टी से घास उगती हैं और गाय द्वारा खायी जाकर उसके रक्त में परिणत होती हैं। मिट्टी के लिए घास स्वरूप है, किन्तु रक्त के लिए घास द्रव्य है। साधारण पत्थर कालान्तर में संगमरमर बनता है संगमरमर से प्रतिमा बनाई जाती है। साधारण पत्थर के लिए सगमरमर स्वरूप है, किन्तु प्रतिमा के लिये द्रव्य है।

एरिस्टॉटल ने 'सुप्त शक्ति' (Potency) और 'जाग्रत् शक्ति' (Act) में भेद किया जो महत्वपूर्ण है। साध्य सिद्ध का अभाव नहीं है। साध्य में सुप्त शक्ति है जो जाग्रत् अवस्था में सिद्ध बना देती है। जिसमें सुप्त शक्ति न हो उसे साध्य नहीं कह सकते। सुषुप्ति में मनुष्यमें चिन्तन की सुप्त शक्ति है जो साध्य है और जाग्रत अवस्था में सिद्ध बन सकती है। किन्तु पत्थर में यह शक्ति नहीं है। एरिस्टॉटल के अनुसार गति और परिणाम सत्य विकास है। इस विकास का विभिन्न श्रेणियों में तारतम्य है। साध्य में अन्तर्निहित होने के कारण सिद्ध की सत्ता साध्य से पहले हैं। यो व्यवहार में भले ही साध्य सिद्ध के पहले आये। बालक युवक बनता है। बालक साध्य है, युवक सिद्ध। व्यवहार में पहले बालक होता है और बाद में युवक। किन्तु वस्तुतः युवक बालक में पहले ही छिपा हुआ है, अन्यथा बालक युवक नहीं बन सकता। विकास की श्रेणियो में ऊपर की श्रेणी सुप्त या गुप्त रूप से नीचे की श्रेणी में विद्यमान है और नीचे की श्रेणी विकसित होकर प्रकट रूप से ऊपर की श्रेणी बन सकती है। वस्तु-जगत् में और विज्ञान-जगत् में वास्तविक भेद नहीं है। सामान्य या विज्ञान सिद्ध हैं और वस्तुएँ साध्य। परमार्थ व्यवहार में ही अन्तर्हित है और व्यवहार परमार्थ की ओर विकसित हो रहा है। साध्य जब सिद्ध बन जाता है, द्रव्य जब स्वरूप-लाभ कर लेता है, तब एरिस्टॉटल ने उसे 'सिद्ध सत्ता' (Entelechy) का नाम दिया है। असली सिद्ध सत्ता तो ईश्वर की ही है जो इस जगत् को आकर्षित कर रहे हैं और यह जगत् उनकी ओर विकसित हो रहा है। जैसे सिद्ध साध्य में अन्तर्निहित होता है और उसका लक्ष्य है, वैसे ही ईश्वर इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्निहित हैं और इसके लक्ष्य हैं। वे सिद्ध हैं, जगत् साध्य है। वे ही एकमात्र परम सिद्ध (Pure Actuality) हैं। उनकी शक्ति पूर्ण जाग्रत है। वे नित्य हैं। वे विशुद्ध विज्ञानरूप हैं। उनमें जड़ता का सर्वथा अभाव है। स्वयं अगतिशील और अपरिणामी हैं, किन्तु समस्त गति और परिणाम के कारण है (Unmoved Mover)। वे ही सबके लक्ष्य हैं। सृष्टि में अन्र्यामी हैं। सृष्टि उनके बाहर नहीं है। वे इस सृष्टि से अलग रहने वाले सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। वे पूर्ण अद्वैत रूप हैं। वे प्रपंचातीत हैं। सृष्टि उनके स्वरूप की प्राप्ति के लिए विकासशील है।

यह एरिस्टॉटल के दार्शनिक विचारों का, उनके तत्व विज्ञान का, सार है। इसके अतिरिक्त वे निगमन तर्क (Deductive Logic) के जनक हैं और यह तर्कशास्त्र आज भी लगभग उसी रूप में पढ़ाया जाता है। उन्होंने मनोविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, राजनीति, आचारशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र पर भी काफी लिखा है। उनकी प्रतिभा असाधारण है और उनका कार्य अत्यन्त व्यापक और महत्वपूर्ण। ये सब विषय हमारे इस ग्रन्थ के क्षेत्र के बाहर हैं, अतः इनका संक्षिप्त परिचय भी नहीं दिया जा सकता।

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन दर्शन : एरिस्टॉटल से ऑगस्टाइन तक

एरिस्टॉटल के बाद ग्रीस का राजनीतिक और सामाजिक जीवन अव्यवस्थित हो गया। देश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था जो परस्पर ईर्ष्याद्वेष रखते थे और लड़ते थे। १४६ ई० पू० ग्रीस अपनी स्वतन्त्रता खोकर रोमन राज्य का एक प्रान्त बन गया। पर्शिया के द्वारा पूर्वी विचारधारा भी इधर वेग से बहने लगी। इन सब कारणों से दर्शन को तटस्थ विचार न मानकर जीवन का साधन माना गया। दर्शन का धर्म से सामंजस्य होने लगा। दर्शन का काम रूढ़ियों से रहित धार्मिक और नैतिक जीवन के लिये विचारों की पृष्ठभूमि तैयार करना हो गया। दूसरे, व्यक्तिवाद का प्रबल उत्थान हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-दुःख का निर्माता समझा जाने लगा। यदि बाह्य जीवन से सुख-शान्ति न मिल सके, तो कम-से-कम आन्तरिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक शान्ति का अनुभव कर सकता है। तीसरे, संदेहवाद की धारा बड़े वेग से बहने लगी। मानव का अपनी बुद्धि से विश्वास उखड़ने लगा। ज्ञान की सीमायें बनने लगीं। विज्ञानवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ईश्वर, जीव और जगत् की सत्ता में सन्देह होने लगा और इस जीवन में जो भी और जैसा भी सुख मिल जाय वही प्राप्तव्य समझा गया। रोमन विजेता पूर्ण व्यावहारिक थे। उनकी दर्शन की कल्पनाओं में अभिरुचि नहीं थी। अतः जीवन परमार्थ से हट कर व्यवहार की ओर केन्द्रित होने लगा।

एपिक्यूरस (Epicurus) (३४१ ई० पू०–२७० ई० पू०)—इन्होंने एथेन्स में अपनी संस्था स्थापित की जिसमें स्त्रियों और दासों को भी सम्मिलित किया गया। घनिष्ठ मैत्री इसका आदर्श था और एपिक्यूरस इसमें देव-तुल्य थे। उनके अनुसार सुख ही जीवन का एक मात्र और चरम लक्ष्य है। इसमें वे एरिस्टिपस के अनुयायी थे। यद्यपि इस सुख में इन्द्रियज सुख को उचित स्थान प्राप्त था, तथापि एपिक्यूरस का आदेश आन्तरिक शान्ति द्वारा उत्पन्न अलौकिक दार्शनिक सुख था। सांसारिक सुख दुःखानिवृत्ति के लिये होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति दुःख और भय से निवृत्ति चाहता है और इसलिये सुख की ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु असली सुख वह है जहाँ दुःख की आत्यन्तिक-निवृत्ति हो। अतः असली सुख आन्तरिक दार्शनिक शान्ति है जो सांसारिक सुख-दुख के द्वन्द्व से ऊपर है। यदि मनुष्य सार्वभौम सम्राट् भी बन जाय, तो भी क्या वह दुःखों से छूट सकता है? इच्छाओं और कामनाओं का त्याग ही असली सुख है। साधारण सांसारिक सुखों का निर्लिप्त होकर अनुभव करते हुए

इच्छाओं को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि इच्छा ही दुःख की जननी है। धार्मिक अन्ध-विश्वास दुःख को भयंकर रूप से बढ़ाते है। ईश्वर की मानवरूप में कल्पना, विविध देवी देवताओं की कल्पना, उनका मानव-जीवन में पक्षपात-पूर्ण हस्त-क्षेप करना और इसी प्रकार के अन्य कई बेहूदे अन्ध-विश्वास संसार को पीड़ित करते हैं। अत एपिक्यूरस ने भौतिक विज्ञान के अध्ययन को निष्पक्ष विचारों के लिए बहुत आवश्यक माना है। इसके लिए उन्होंने डिमॉक्रिटस की शरण ली। विश्व में भौतिक परमाणुओं के अतिरिक्त और कुछ नित्य नहीं है। ईश्वर और देवी-देवता, आदि कोरी कल्पनायें हैं। मानवता की आत्मा भी भौतिक परमाणुओं के संयोग से बनती है और मृत्यु के बाद नष्ट हो जाती है; क्योंकि यह संयोग नष्ट हो जाता है। मृत्यु से भय करना बेकार है। यह सत्य है कि मृत्यु के बाद सांसारिक सुख नही रहते; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मृत्यु के बाद कोई दुःख भी नहीं रहते।

स्वयं एपिक्यूरस और उसके प्रारम्भिक शिष्यों के लिये आदर्श सुख द्वन्द्वातीत शान्ति ही थी, किन्तु बाद में इन्द्रिय सुखों को ही आदर्श मानकर लोग अपने आपको एपिक्यूरस के अनुयायी कहने लगे। एपिक्यूरस के लिए सुख और नैतिक बल एक ही बात थी। यह सत्य है कि उन्होंने सांसारिक सुखों की अवहेलना नहीं की; किन्तु उनका लक्ष्य इच्छाओं से छुटकारा पाना ही था। बाद में यह सम्प्रदाय शुद्ध चालक बन गया और इन्द्रियों द्वारा लभ्य सुख ही जीवन का आदर्श माना गया।

स्टोइक मत (The Stoics)—इस मत की प्रतिष्ठा जीनो (Zeno) ने (जो पार्मेनाइडीज के प्रसिद्ध शिष्य ईलिया के जीनो से भिन्न हैं) जिनका समय ३३६ ई० पू० से २६४ ई० पू० है, एथेन्स में आकर की। इन पर पूर्वी विचारधारा की छाप है। एपिक्यूरस ने एरिस्टिपस (Aristippus) और उनके अनुयायी सिरेना-इक्स (Cyrcnaics) अनुकरण करके सुख को जीवन का लक्ष्य बनाया था। जीनों सॉक्रेटीज़ और एन्टिस्थेनीज़ (Antistienes) तथा उनके अनुयायी सिनिक्स (Cynics) का अनुकरण करके चरित्र बल को जीवन का लक्ष्य बताया। दोनों में इस बात का साम्य है कि दोनों ही इच्छाओं और कामनाओं के दमन की लक्ष्य प्राप्ति का साधन मानते हैं। एपिक्यूरस के लिए सुख और चरित्र बल एक ही वस्तु थे, किन्तु उनके अनुयायी आगे चलकर इन्द्रिय-सुख के ही उपासक बन गये। अतः स्टोइक मत ने नैतिक जीवन के प्रेमियों को शीघ्र ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सिनिक (जिससे शायद 'सनकी' शब्द बना है) लोगों का आदर्श भी चरित्रबल था, किन्तु उनमें इन्द्रिय-दमन का और संसार के सुखों को छोड़कर तपस्वी जीवन बिताने का निवृत्ति-मार्ग प्रधान था। स्टोइक लोगों ने निवृत्ति-मार्ग के साथ प्रवृत्ति मार्ग का भी सामंजस्य किया। एपिक्यूरस के लिए भौतिक परमाणु ही एकमात्र तत्व थे। स्टोइक

१. गीता का निष्काम कर्म।

लोगों के लिए तत्व विशिष्टाद्वैत स्वरूप वैश्वरूप्य है। इस वैश्वरूप्य को चाहे ईश्वर कहा जाय, चाहे प्रकृति, बात एक ही हैं। तत्व विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं। स्टोइक लोगों ने, एरिस्टॉटलके अनुसार, संसार को द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण माना है। एरिस्टॉटल के अनुसार ईश्वर को विशुद्ध स्वरूप और प्रकृति को विशुद्ध द्रव्य माना था, किन्तु स्टोइक लोगों ने द्रव्य और स्वरूप के परिमार्थिक द्वैत को मिटाकर इनको एक ही तत्व के दो रूप माने। अतः एक ही तत्व को स्वरूप की दृष्टि से ईश्वर और द्रव्य की दृष्टि से प्रकृति कहा जा सकता है। यह जगत् ईश्वर का शरीर है। ईश्वर इस जगत् में अन्तर्यामी है, इससे भिन्न नही। ईश्वर परमात्मा और जगदात्मा (Logos, the Universal Pneume or Soul) है। जीवात्मा उनका अंश है और संसार उनके ज्ञान का सीमित उपभोग करता है। मुक्तिके समय जीवात्मा और परमात्मा का तादात्य हो जाता है और उनमें कोई भेद नही रहता है। जगत् में प्रत्येक व्यक्ति अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, वह ईश्वर का अंग है और उसका लक्ष्य ईश्वर की ओर अभिमुख होना ही है। मानव-जीवन का लक्ष्य परमात्मा-स्वरूप होना अर्थात् आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है और चरित्र-बल इनका साधन है। जगत् के अन्तर्यामी समस्त द्वन्द्वों से रहित हैं। मानव को अपने पैरों पर खड़े होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है। निष्काम भाव से निर्लिप्त होकर संसार में अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने हुए ईश्वरा-भिमुख होना चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता है। मानव विश्व का निवासी है, क्योंकि मानव ईश्वर का अंश है ईश्वर जगदन्तर्यामी हैं। स्टोइक मत और ईसाई धर्म में ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भेद होने पर भी, स्टोइक मत का आगे चलकर, ईसाई धर्म पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उत्तरकालीन स्टोइन विद्वानों में सम्राट् नीरो के शिक्षक सेनेका (Seneca) (मृत्यु ६५) एपिक्टेटस (Epictetus) (५०–१३८) और सम्राट् औरीलियस (Aurelius) (१६१–१८०) प्रसिद्ध हैं।

संन्देहवाद (Scepticism)—इसके प्रतिष्ठापक पाइरो (Pyrrho) (३६५–२७५ ई० पू०) हैं, जो एरिस्टॉटल के समसामयिक थे। विविध दार्शनिक मतों के पारस्परिक भेदों को देखकर पाइरो ने कहा कि मानवी बुद्धि के लिए निश्चात्मक ज्ञान असम्भव है। न निर्विकल्प स्वानुभूति, न सविकल्प बुद्धि और न इन्द्रियानुभूति ही निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न कर सकती हैं। ज्ञान के क्षेत्र में सन्देह का साम्राज्य अखण्ड है। प्रत्येक मत के खण्डन में और मण्डन में सबल युक्तियाँ दी जा सकती हैं। अतः निश्चयात्मक ज्ञान भ्रम है।। सन्देहवादियों में कारनेडीज् (Carneades) (२१५-१३०) ई० पू० और सेक्सटस एम्पिरिकस (Sextus Empiricus) (२५० ई० के लगभग) जिन्होंने कार्यकारणभाव का खण्डन किया और जिनका डेविड ह्यूम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा, मुख्य हैं।

संग्रहवाद (Eclecticism)—रोमन लोगों के आधिपत्य के कारण संग्रहवाद

का प्रचार हुआ। रोमन लोग व्यावहारिक थे और उनको दार्शनिक मतमतान्तरों के कलहों में रुचि नही थी। सभी ग्रीक दार्शनिकों से अच्छी-अच्छी बातें लेकर उनका संग्रह किया जाने लगा। सिसेरो (Cicero) इस कार्य मे सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

एलेक्जेन्ड्रिया के फाइलो (Philo) (२५) ई० पू०—४० ई०) ने जो रोम में यहूदियों के दूत थे, प्लेटो के विचारों का यहूदी विचारो से समन्वय किया। प्लूटार्क (Plutarch) (४५ ई० के लगभग) ने पाइथेगोरस और प्लेटो के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

प्लेटो के मत का पुनरुद्धार (Neo-Platonism)—**प्लोटाइनस** (Plotinus) (२०४–२७०) ने प्लेटो से अत्यधिक प्रभावित होकर अपने दर्शन की स्थापना की। प्लोटाइनस का जन्म मिस्र (Egypt) में हुआ था और वे एमोनियस सेकस (Ammonius Saccus) के शिष्य थे जिनको प्लेटो के नवीन मत का संस्थापक माना जाता है। प्लोटाइनस महान् दार्शनिक और रहस्यवादी सन्त थे। उन पर मिस्र और पर्शिया के विचारो का और उनके द्वारा शायद भारतीय विचारो का भी प्रभाव पड़ा है।

प्लोटाइनस प्लेटो के अनन्य भक्त हैं। प्लेटो के साथ-साथ प्लेटो के पूर्ववर्ती ग्रीक दार्शनिकों का पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस, पार्मेनाइडीज और सॉक्रेटीज् का, प्रभाव भी उनमें स्पष्ट प्रतीत होता है। कुछ प्रभाव एरिस्टॉटल का भी पड़ा है। प्लोटाइनस की विचारधारा ग्रीक दर्शन की अन्तिम विचारधारा है। ईसाई धर्म का वेग से प्रचार होने के कारण और राजकीय सत्ताका आश्रम मिलने के कारण कालान्तर में प्लेटो का नवीन मत टिक नहीं सका। किन्तु इस मत का प्रभाव स्वयं ईसाई धर्म पर भी अत्यधिक पड़ा। वस्तुतः प्लोटाइन के प्रभाव को ईसाई धर्म से अलग नही किया जा सकता। स्वयं सन्त आगस्टाइन के अनुसार "समस्त दर्शन में प्लेटो का दर्शन अत्यन्त पुनीत और ज्वलन्त है।" प्लोटाइनस ग्रीक दर्शन के अन्त और ईसाई दर्शन के आदि हैं। सन्त ऑगस्टाइन के विचार से "प्लोटाइनस में प्लेटो का पुनर्जन्म हुआ।" किन्तु बर्ट्रेण्ड रसेल के अनुसार "प्लोटाइनस के प्लेटो उतने जीवित नहीं, जितने असली प्लेटो थे।" रसेल के विचार से प्लोटाइस ने प्लेटो के केवल प्रारम्भिक विचारों को ही अपनाया। किन्तु यह कथन सत्य नहीं है। प्लेटो की बाद की रचनाओं के विचारों की छाया भी प्लोटाइनस में स्पष्ट झलकती है। हाँ, जिस विकृत रूप में रसेल प्लेटो को देखते हैं उस रूप में प्लोटाइनस ने नहीं देखा। प्लोटाइनस ने प्लेटो केअसली भावों को अपनाकर अपने दर्शन में व्यक्त किया है। यह तो अनिवार्य है कि प्लोटाइनस के अपने व्यक्तित्व और विचारों का सम्मिश्रण भी उनमें हो।

व्यवहार और परमार्थ का भेद प्रायः सभी दर्शनों और धर्मों में किसी न किसी

रूप में आ ही गया है—किसी में स्पष्ट है, किसी में गुप्त। पार्मेनाइडीज् में व्यवहार (Opinion) और सत्व (Truth) का भेद है। हेरेक्लाइटस में अवनत मार्ग (Way Down) और उन्नत मार्ग (Way Up) का भेद है। प्लेटो में इण्द्रियानुभूति (Sencse) और विज्ञान (Idea) का; छाया (Shadow) और प्रकाश (Light) का भेद है। स्पिनोजा में अनित्य (Temporis) और नित्य (Aeternitatis) का भेद है। कान्ट में व्यवहार (Phenomenon) और परमार्थ (Noumenon) का भेद है। हेगल में भ्रम (Illusion) और तत्व (Reality) का भेद है। ब्रेडले में व्यवहार (Appearance) और परमार्थ का (Reality) का भेद है। भारतीय दर्शनों में, वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का, बौद्ध दर्शन के शून्यवाद में संवृत्ति और परमार्थ का तथा विज्ञानवाद में परतन्त्र और परिनिष्पन्न का जैन दर्शन में पर्याय और द्रव्य का या स्याद्वाद और केवल ज्ञान का भेद प्रसिद्ध है। धर्मों में भी, वैदिक धर्म में सुर और असुर का बौद्ध धर्म में बुद्ध और मार का, जैन धर्म में जीव और पुद्गल का; फारसी धर्म में ओर्मुज्द (ormuzd) और अह्रिमान (Ahriman) का, ईसाई धर्म में ईश्वर (God) और शतान (Satan) का तथा इस्लाम में अल्लाह और शैतान का भेद प्रसिद्ध है।

पाश्चात्य दर्शन में इस व्यवहार और परमार्थ के भेद का सर्वप्रथम अत्यन्त सुस्पष्ट और युक्तिमुक्त प्रतिपादन करने का श्रेय प्लेटो को है। प्लोटाइनस ने भी अपने दर्शन का आधार इसे ही बनाया है।

प्लोटाइनस के अनुसार परम तत्व "एकमेवाऽद्वितीय" (The One the Alone) है। यह शुद्ध 'सत्' है जो निर्गुण, निर्विकार और निराकार है। यह अन्तर्यामी (Immanent) भी है और परात्पर (Transcendent) भी है। यह प्लेटो का विज्ञानस्वरूप शिवतत्व (Idea of the Good) है। सृष्टि इसका शरीर है और यह सृष्टि की आत्मा है। इसके बाहर कुछ नहीं है, अतः यह भी सब कुछ है, यह 'सर्वं खलु इदं' (The All) है। यह सब जगह (Everywherc) है। यह सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्यामी है। किन्तु विश्व इसको सीमित नहीं सकता। विश्व इसका शरीर है, अतः यह विश्वरूप है। विश्व की आत्मा होने से यह अन्तर्यामी विश्वात्मा है। और स्वतः यह परात्पर है, अनिर्वचनीय है। इसे इन्द्रियां और बुद्धि नहीं पकड़ सकतीं। शुद्ध सत् (Pure Ens), शुद्ध चित् (Pure Nous) और शुद्ध आनन्द (Pure Bliss) होते हुए भी यह निर्गुण और अनिर्वचनीय (Indeterminate) है। यह स्वानुभूति के निर्विकल्प साक्षात्कार का विषय है यह मौन (Silencc) अपरोक्षानुभूति द्वारा प्राप्य है। विज्ञान (Idea) भी इसे पूर्णरूप में ग्रहण नही कर सकते, क्योंकि यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। इसका सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति नेति' (Negative) है। यह पूर्ण अद्वैत स्वरूप है।

सृष्टि में और परमतत्व में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः सृष्टि भी अनिर्वचनीय

(Inexplicable) है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि सृष्टि तत्व का 'स्वभाव' है, स्वाभाविक अभिव्यक्ति (Emanation) है। सृष्टि तत्व में से वह निकली है। तत्व उस प्याले के समान है जिसका अनन्त जल उसमें न समाकर निरन्त बह निकलता है। जैसे जल-प्रपात से निरन्तर जल गिरता रहता है, वैसे ही तत्वकी पूर्णता से यह सृष्टि गिरती रहती है। किन्तु इन उपमाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि सृष्टि तत्व से अलग हो जाती है या तत्व से भिन्न भी उसकी सत्ता हो सकती है। तत्व एक, पूर्ण और अविभाज्य है। सृष्टि के रूप मे वह वस्तुतः खण्डशः होकर नही बिखरता।

प्लोटाइनस का परमतत्व प्लेटो के विज्ञानस्वरूप शिवतत्व के समान और वेदान्त के परब्रह्म के समान है। सृष्टि में इस परमतत्व की अभिव्यक्ति चार रूपों में होती है। ये रूप हैं—ईश्वर (Nous), विश्वात्मा (World Soul), जीवात्मा (Soul) और जड़ जगत् (Body)। इनमें से प्रत्येक अपनी ज्योति ऊपर ले लेता है और नीचे भेजता है। ज्योति ज्यों-ज्यो नीचे उतरती है उतनी ही क्षीण होती जाती है। इस तारतम्य में प्रत्येक रूप अपने ऊपर रूप का अनुकरण (Imitation) करता है और नीचे के रूप द्वारा अनुकरण किया जाता है। ब्रह्मरूप अनिर्वचनीय रमतत्व विशुद्ध विज्ञान स्वरूप (Pure consciousness) है। जब यह स्वयं अपना बोध करता है (Self conscious) तो ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर परतत्व की सृष्टि (Vision) है। प्लोटाइनस ने ईश्वर (Nous) को परमत्व का दिव्यदृष्टि, दिव्य विज्ञान (Divine Intellect) या दिव्य प्रकाश बताया है। यह परमतत्व का प्रतिबिम्ब (Image) है। विश्वात्मा इस दिव्य विज्ञान रूप ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। यह सूर्य के समान है। इसकी किरणें जीवात्माओं के रूप फूट पड़ती हैं। विश्वात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति होती है। परमतत्व की ज्योति इसमें अत्यन्त मन्द हो गई है। जब तक जीव की अविद्या है, तब तक संसार है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से जगत् को ठुकराना अनुचित है। "जगत का निराकरण करना अच्छे व्यक्ति का लक्षण नहीं है।" आत्मा ईश्वर की पुत्री हैं।" विज्ञान-स्वरूप होने से आत्मा नित्य है। किन्तु अविद्या के कारण जीवात्माओं में भेद प्रतीत होता है। मृत्यु के उपरान्त जीव का पुनर्जन्म मानना उपयुक्त है, क्योंकि अपने कर्मों के फल तो जीव को भोगने ही होंगे। जीवात्मा इस जगत् में आकर जगत् के पदार्थों के मोह में फँस जाता है। अतः शरीर के मोह को, सांसारिक अनित्य पदार्थों के मोह को छोड़े बिना छुटकारा नहीं हो सकता। जीवात्मायें उन बालकों के समान है जिनको जन्म लेते ही उनके माता-पिता से दूर रखकर पाला-पोसा गया हो और जो अपने तथा अपने माता-पिता के स्वरूप को भूल गये हों।[1] अतः जीव को तुरन्त ही परमतत्व का

१. वेदान्त में भी व्याध द्वारा संबधित राजपुत्र का दृष्टान्त इस अर्थ में दिया गया है।

ज्ञान नहीं हो पाता। इसके लिए साधना करनी पड़ती है। जब दिव्य ज्योति उतरती है तो उसको ग्रहण करके जीव अपने बन्धन से छुटकारा पा सकता है। जीवात्मा का स्वरूप भी परम तत्व का ही स्वरूप है। दोनों अद्वितीय हैं। जीव और परमतत्व का आकर्षण सहज है यह आकर्षण "अद्वितीय की, अद्वितीय की ओर उड़ान" (The Flight of the Alone to the Alone) है। स्वरूप-ज्ञान होने पर आत्मा और परमतत्व का पूर्ण तादात्म्य (Absolute Identity) हो जाता है। यह दिव्य आनन्द की अवस्था स्वानुभूति का विषय है, वाणी और बुद्धि का नहीं।

प्लोटाइनस के बाद भी उनके अनुयायी एथेन्स में एकेडमी को अपना केन्द्र बनाकर दार्शनिक विचार-प्रस्तुत करते रहे, किन्तु ईसाई धर्म के विपरीत होने के कारण रोमन सम्राट् जस्टीनियन (Justinian) ने सन् ५२६ में एकेडमी को बन्द कर दिया और उसके दार्शनिक विचारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार ग्रीक दर्शन की स्वतन्त्र विचारधारा का यूरोप में अन्त हुआ।

ईसाई पादरियों के दार्शनिकविचार—ईसाई धर्म के प्रारम्भ काल में उसके अनुयायी ईसामसीह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही दिव्य बचन मानकर अपने जीवन को उसके उपदेशों के अनुरूप बनाने के प्रयत्न में लगे रहे। धार्मिक विश्वास ही उनकी मान्यता थी और उन्होंने तर्क की शरण लेना उचित नहीं समझा। किन्तु कालान्तर में जब ईसाई धर्म का वेग से प्रचार होने लगा और यूरोप के विद्वान और दार्शनिक भी उस धर्म को स्वीकार करने लगे, तो ईसाई धर्म की मान्यताओं को तर्क से सिद्ध करने का कार्य भी होने लगा। इसके लिये एरिस्टॉटल की प्रधानरूप से शरण ली गई। ग्रीक दर्शन के अन्य विचार भी, विशेषत: प्लेटो और प्लोटाइनस के वे विचार, जो ईसाई धर्म के विपरीत नहीं पड़ते थे, स्वीकार कर लिये। प्लोटाइनस का ईसाई धर्म पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा; क्योंकि दोनों ही, विचारों में भेद होने पर भी ईश्वराभिमुख थे और ईश्वर तथा जगत् के सम्बन्ध की, पाप की स्थति और उसके कारण की एवं दुःख से मुक्ति पाकर दिव्य जीवन बिताने की समस्याओं पर विशेषरूप से विचार करते थे। ईसाई धर्म के अनुसार यह जगत् ईश्वर की सत्य सृष्टि है। ईसा मसीह उनके पुत्र हैं। ईसा मसीह के उपदेशों के अनुरूप चलकर जीव इस दुःख से छूटकर परमपिता के पास जा सकते हैं। जीवात्मा अमर और शाश्वत हैं; क्योंकि ईश्वर की प्रतिकृति है। इन सिद्धान्तों की पुष्टि तर्क से होने लगी इन्होंने धीरे-धीरे ईसाई धर्म के दर्शन का रूपले लिया। चर्च की मान्यताओं का स्वरूप बनने लगा। इस कार्य में शताब्दियों लग गई। मध्ययुग के पहले जिन पादरियों ने इस कार्य में योग दिया उनमें सबसे अन्तिम और सबसे महान् सन्त आँगस्टाइन थे।

सन्त आँगस्टाइन (Saint Augustine) (३५४-४३०)—आँगस्टाइन का जन्म अफ्रीका मे हुआ था । माता ईसाई थीं । युवावस्था मे विलासी जीवन बिताने के बाद वे रोम चले गये और वहाँ अध्यापक हो गये । मिलान नगर मे सन्त एम्ब्रोस (Ambrose) का उन पर काफी प्रभाव पड़ा । प्लेटो और प्लोटाइनस का भी अध्ययन उन्होंने किया । बाद में वे इसाई बन गये । अपने पुराने जीवन से उन्हे विरक्ति हो गई और उन्होंने धार्मिक जीवन प्रारम्भ किया । प्रतिभा उनकी प्रखर थी वे हिप्पो के पादरी (Bishop of Hippo) बने और मृत्यु पर्यन्त उन्होंने ईसाई धर्म और चर्च की पूर्ण सेवा की । उनके बाद में होनेवाले दार्शनिक पादरियो पर उनका भारी प्रभाव पड़ा है ।

सन्त आँगस्टाइन में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—दार्शनिक और धार्मिक । दर्शन में उन्होंने जगत् को हटाकर आत्मा को केन्द्र बनाया और आत्मा के अमरत्व, स्वतः सिद्धत्व, ज्ञानस्वरूपत्व और संकल्प-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया । आत्मा ज्ञाता है और उसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है । उसका निराकरण नही हो सकता; क्योकि जो निराकर्ता है वही आत्मा का स्वरूप है । यदि मै अपना निषेध भी करूँ तो भी मेरी सत्ताअनिवार्य है" (Si Fallor Sum) । आधुनिक युग के संस्थापक देकार्त के 'मै ज्ञात हूँ, अतः मेरी सत्ता अविार्य है' (Cogito Ergo Sum) इस सूत्र पर सन्त आँगस्टाइन का प्रभाव स्पष्ट है । ईश्वर की सत्ता के लिये भी उन्होंने प्रमाण दिये हैं । आत्मा संकल्प और कर्म करने मे स्वतन्त्र है । पादरी बन जाने पर उनकी धार्मिक प्रवृत्ति बलवती हो गई और वे चर्च की प्रतिष्ठा करने मे लग गये । ईश्वर और आत्मा को मिलानेवाली शृंखला चर्च ही है । चर्च की प्रभुता सार्वभौम होनी चाहिये । प्रथम मानव 'आदम' (Adam) को ईश्वर ने संकल्प और कर्म का स्वातत्र्य दिया था । किंतु शैतान के बहकाने में आकर उसने निसिद्ध फल खा लिया । तभी से पाप और दुःख संसार में छा गये । आदम के पाप से उनकी सन्तति-सारी मानव-जाति—कलुषित हो गई । उसका संकल्प-स्वातन्त्र्य छिन गया । पाप में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई । इस पाप और दुःख से बचने का एक मात्र उपाय ईश्वर की करुणा है । ईश्वर की करुणा या प्रसाद का वितरण चर्च बपतिस्मा (Baptism) द्वारा ईसाई बनाकर करती है । चर्च को ही इस का एकाधिकार है । चर्च 'ईश्वर का नगर' (City of God) है । सांसारिक नगर से इस दिव्य नगर का संघर्ष होता है, किन्तु अन्त में विजय दिव्य नगर की होती है—पाप पर धर्म की विजय निश्चित है ।

पंचम अध्याय

मध्ययुग का दर्शन

आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का दीर्घ काल मध्ययुग कहलाता है। ऑगस्टाइन के बाद से लेकर एरिजेना के पहले तक का समय, अर्थात् ४३० से लेकर ८१० तक का समय, अन्धकार युग कहलाता है। एरिजना मध्ययुग के प्रथम गणनीय दार्शनिक है। इसके बाद फिर लगभग दो शताब्दियों तक अन्धकार छाया रहा जिसे सन्त एन्सेलम ने अपनी ज्ञान-ज्योति से दूर किया। मध्ययुग को शास्त्रीय युग (Scholastism) भी कहते हैं। अन्धकारमय युग में प्राचीन विचार-धारा बचाये रखकर उसे मध्ययुग की ओर बहा देने के कार्य में डायोनिसियस (Dionysius) और बोथियस (Boethius) ने पर्याप्त योग दिया।

ऑगस्टाइन की मृत्यु के कुछ वर्षों के बाद ही रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। रोम का अन्तिम सम्राज्य गद्दी से उतार दिया गया और "बार्बर" जर्मन विजेताओं का राज्य स्थापित हो गया। रोम के पतन के बाद अराजकता को रोकने के लिए और अनुशासन एवं न्याय की स्थापना के लिए चर्च ही एकमात्र साधन थी। प्राचीन विचारधारा, सभ्यता तथा ईसाई परम्परा का केन्द्र चर्च ही थी। ज्ञान के विकास और प्रसार का कार्य भी मुख्यतया वही करती थी। तर्कशास्त्र के अध्ययन का प्रचार भी उसीने किया। शिक्षा के नियम भी उसी ने बनाये और शिक्षा-संस्थाओ की स्थापना तथा विकास में योग दिया। धर्म संस्था होने के कारण राज्य भी उनका आदर करता था। "बर्बर" जर्मन विजेताओं ने भी चर्च को नहीं छोड़ा। अराजकता को रोककर अनुशासन स्थापित करना, शिक्षा का प्रचार करना ज्ञान और धर्म की ज्योति फैलाना, व्यक्ति की मर्यादा का रक्षा करना और सभ्यता को अक्षुण्ण रखना ये सब कार्य चर्च के ही थे ओर उसने उन्हें निभाया भी। शीघ्र ही चर्च जर्मन विजेताओं को जीतने के कार्य में जुट गई और अल्प काल में ही उसने उनपर सांस्कृतिक और धार्मिक विजय प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी चर्च की प्रभुता फैलने लगी। चर्च का केन्द्र रोम में था, किन्तु शाखायें लगभग सारे यूरोप में फैल रही थीं। चर्च का संगठन उत्तम था और पोप का अनुशासन निर्विवाद स्वीकार किया जाता था। धीरे-धीरे चर्च ने सारे यूरोप को अपनी छत्रछाया में ले लिया और राजनीति के क्षेत्र में भी प्राचीन रोमन साम्राज्य का स्थान ग्रहण कर लिया। पोप सम्राटों के भी सम्राट् हो गये और राजाओं तथा सामन्तों पर एकच्छत्र शासन करने लगे। चर्च में रूढ़ियाँ बन गई जिनका अतिक्रमण दण्डनीय था। न्याय और दण्ड का अन्तिम अधिकार भी चर्च ने ले लिया और उसकी सत्ता

सार्वभौम हो गयी। सन्त ऑगस्टाइन का 'दिव्य नगर' का स्वप्न मध्ययुग के साकार युग में साकार हुआ।

मध्ययुग में दर्शन को भी धर्म का दास बनना पड़ा। चर्च की मान्यताओं के आगे दर्शन को भी धर्म का दास बनना पड़ा। मध्ययुग के दार्शनिक प्रायः केथोलिक पादरी ही थे और उनका मुख्य उद्देश्य धार्मिक सिद्धान्तो को तर्क द्वारा पुष्ट करना था। धार्मिक विश्वास या श्रद्धा मुख्य थी, तर्क गौण था। तत्व की प्राप्ति तर्क द्वारा नहीं हो सकती सत्य दिव्य धार्मिक अनुभूति द्वारा प्रकट होता है (Divine Revelation)। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के रूप मे ईश्वर ने इसे प्रगट कर दिया है। अतः सत्य ज्ञान के लिये ईसाई धर्म की श्रुति 'बाइबल' में श्रद्धा अनिवार्य है। तर्क इसको पुष्टि करने के लिये हैं, विरोध करने के लिए नहीं। दर्शन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा। स्वतन्त्र विचारो का गला घोटने के लिये चर्च का सुदृढ़ पंजा सदा जागरूक था। मध्ययुग के दार्शनिक विचार उन परकटे कबूतरों के समान थे जिनके ज्ञान पंख धर्म ने काट दिये थे और चर्च की चहारदीवारों मे छोड़ रक्खा था, वे चर्च के भीतर फड़फडा सकते थे किंतु उन्मुक्त आकाश में उड़ना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। प्रत्येक दार्शनिक को अपने विचारों को चर्च के साँचे में बैठाना पड़ता था। ग्रीक भाषा के जानकार बहुत कम रह गये थे। प्रायः लेटिन अनुवाद ही पढ़े जाते थे। ग्रीक दर्शन के वे ही विचार जीवित रह गये जो पादरियों के दर्शन में छनकर आ गये थे। चर्च के अन्धविश्वासों से जरा भी इधर-उधर होना दण्डनीय अपराध था। एक पादरी को जो व्याकरण पढ़ाने लग गये थे, पोप ने तुरन्त पत्र लिखा—"एक सूचना हमें मिली है जिसको कहते हुए, भी हमें लज्जा आती है कि तुम अपने मित्र को व्याकरण समझाते हो। इस से हमें बड़ा क्षोभ और बड़ी ग्लानि हुई है तथा तुम्हारे विषय में जो हमारी पहले राय थी वह अब सिर धुन रही है। तुम्हारा वह मुख अब ईश्वर और ईसा मसीह का गुणगान नही करता।"

स्पष्ट है कि मध्ययुग का दर्शन ईसाई-धर्म का दर्शन है। धार्मिक अन्धविश्वासों का विवेचन इस ग्रन्थ के क्षेत्र के बाहर है। हम मुख्य रूप से दार्शनिक विचारों की ही चर्चा करेंगे।

जॉन स्कॉटस ऐरिजेना (John Scotus Erigena) (८१९-८८०) एरिजेना मध्युग के प्रथम गणनीय दार्शनिक हैं। वे आयरलैंड के निवासी थे और बड़े प्रतिभाशाली थे। लेटिन के अतिरिक्त वे ग्रीक भाषा भी जानते थे। उनपर प्लेटो और प्लोटाइनस का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। उन्होंने प्लोटाइनस के विचारों का ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के साथ सामजस्य करने का प्रयास किया है। प्लोटाइनस के ज्वलन्त अद्वैतवाद पर उन्होंने ईसाई धर्म के द्वैतवाद का पतला-सा आवरह डाला है।

प्लोटाइनस का अद्वैत का परमतत्व, विश्वात्मा, जीवात्मा और जड़-जगत् के रूपों में अभिव्यक्त होता हैं। इस अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को एरिजेना ने स्वीकार

किया। भेद इतना ही है कि प्लोटाइनस के अनुसार अभिव्यक्ति विवर्तमात्र है, किन्तु एरिजेना के अनुसार वह परिणाम-रूप है। एरिजेना का मत इस प्रकार है : ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों है—मुक्त जीवों के लिये निर्गुण और बद्ध जीवो के किये सगुण ईश्वर (God) वस्तुतः निर्गुण और अनिर्वचनीय है। मानवी बुद्धि उनका पूर्ण ग्रहण नहीं कर सकती। वे पर हैं। वे न स्रष्टा हैं न सृष्ट (Neither Creator nor Created) किन्तु उनके इस रूप का अनुभव मुक्त जीवों को ही होता है, हमे नहीं। हमारे लिये तो वे परमकारुणिक परमपिता (Father) है। अशेषकल्याण गुणसम्पन्न हैं। वे स्वयम्भू और स्रष्टा (Uncreated Creator) है। किन्तु पिता के साथ पुत्र की सत्ता आवश्यक है। पुत्र के कारण ही 'पिता' यह नाम सार्थक होता है। यह 'पुत्र' (Son) नित्यज्ञानस्वरूप (Eternal Logos) है और पिता के भीतर स्थित है। जब पिता अपने पुत्र को बाहर उत्पन्न कर देते हैं तब सृष्टि का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यह उत्पन्न पुत्र ही शुद्ध आत्मा है। यह विश्वात्मा (World-Soul) और और अन्य जीवात्मायें तथा जड जगत् इसी के द्वारा उत्पन्न होता है। यह पुत्र पिता द्वारा सृष्ट है और स्वयं चित् एवं अचित्-जगत् का स्रष्टा है। अतः यह सृष्ट और स्रष्टा (Both Created and Creator) दोनों है। जीवात्माओं और जड़ पदार्थों का यह जगत् केवल सृष्ट (Created Only) है। विश्वात्मा का इस दिक्कालात्मक जगत् में प्राकट्य ईसा मसीह (Christ) के रूप में होता है। वे जीवात्माओं को परमपिता से मिलाने के लिए अवतरित होते हैं। चर्च उनका शरीर है। अतः चर्च मानव को ईश्वर से मिलाने की शृङ्खला है। ईश्वर ही सब कुछ है और सबमें उन्हीं की सत्ता है। केथोलिक मत की त्रयी या त्रिपुटी (Trinity) का, जिसके पिता (Father), पुत्र (Son) और जीव (Holy Ghost) ये तीन अंग हैं, पूर्वोक्त वर्णन एरिजेना ने प्लोटाइनस से प्रभावित होकर किया है।

एरिजेना में ग्रीक दर्शन की सामान्य (Uuiversal) और व्यक्ति (Particular) की समस्या पुनः प्रकट हुई। असली ज्वलन्त सत्ता विज्ञानस्वरूप सामान्य की है और व्यक्तियों का यह जड़चेतनरूप विश्व इस ज्वतन्त सत्ता का क्षीण प्रकाश है। एरिजेना ने; प्लेटो और प्लोटाइनस का अनुसरण करके, सामान्यों की वास्तविक सत्ता स्वीकार की। अतः उनका मत 'सामान्यवाद' या 'अति-वस्तुवाद' (Transcendental Realism) कहलाता है। इसके विपरीत अन्य लोगों ने सामान्यों का वास्तविकता सत्ता स्वीकार न करके उनको केवल बुद्धि की कल्पना माना। वे नाम मात्र हैं, वास्तविक पदार्थ नही। अतः इस मत का नाम 'युक्तिवाद' या 'नामवाद' (Nominalism) पड़ा। आगे चलकर कुछ विद्वानों ने इन दोनों का समन्वय ऐरिस्टॉटल से प्रभावित होकर किया। सामान्य वस्तु-सत् तो हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति व्यक्तियो में ही होती है। व्यक्तियों से भिन्न सामान्यों की सत्ता नहीं। यह

मत 'सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद' या 'अन्तर्वस्तुवाद' (Immanent Realism) कहलाता है।

एरिजेना के बाद लगभग दो शताब्दियों तक फिर अन्धकार छाया रहा जिसको दूर करने का श्रेय सन्त एन्सेलम को है।

सन्त एन्सेलम (Saint Anselm) (१०३५—११०६)—केन्टरबरी के बड़े पादरी (Archbishop of Canterbury) सन्त एन्सेलम बहुत प्रतिभावान् और चरित्रवान् व्यक्ति थे। धार्मिक मान्यताओं में उनका कट्टर विश्वास था। श्रद्धा ही ज्ञान की जननी है। हम ज्ञान इसलिए नहीं प्राप्त करते कि उसको पाकर फिर श्रद्धालु बनें, ज्ञानी बनने के लिए पहले श्रद्धालु बनना आवश्यक है। जिस अन्धे व्यक्ति ने कभी प्रकाश नहीं देखा हो, उसे प्रकाश का ज्ञान कैसे हो सकता है? श्रद्धालु बनकर धार्मिक मान्यताओं पर विचार करना चाहिये यदि उनका अर्थ समझ में आ जाए तो ईश्वर की कृपा समझनी चाहिए। यदि नहीं समझ में आये, तो ईश्वर की इच्छा समझकर सन्तोष करना चाहिये। मानवी बुद्धि की समझ में न आने से ही श्रुति के दिव्य ज्ञान की अवहेलना करना उचित नही।

एरिजेना के समान एन्सेलम भी सामान्यवादी हैं। उन्होंने नामवादी रोसेलिनस (Roscellinus) का प्रबल खण्डन किया है। सामान्यों या विज्ञानों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है (Transcendental Realism) और चिदचिद्रूप विश्व की सत्ता इसीलिए है कि यह विश्व इन विज्ञानों की अभिव्यक्ति है। ये सामान्य या विज्ञान जीवों और जड़ पदार्थों की सृष्टि से पूर्व, परमपिता के दिव्य रूप में रहते है। हमारे विज्ञान ईश्वर के 'उच्चरित शब्द' (Spoken Word) हैं, दिव्य विज्ञान ईश्वर के 'अनुच्चरित शब्द' (Unspoken Word) है। उच्चारण के पूर्व भी जैसे शब्द की सत्ता वक्ता में अन्तर्निहित होती है, वैसे ही सृष्टि के पूर्व भी ये दिव्य विज्ञान ईश्वर में अन्तर्निहित हैं। ये दिव्य 'पुत्र' हैं, जो 'पिता' में विद्यमान हैं। यह नित्यविज्ञान-स्वरूप 'पुत्र' ही सृष्टि का कारण और हमारे विज्ञानों का मूलरूप (Archetype) है। इस प्रकार पिता, पुत्र और जीव की त्रिपुटी में एक ही ईश्वर का अस्तित्व और ज्ञान विद्यमान है। पिता, पुत्र और जीव, अपने स्वरूप का भेद (Individuality) रखते हुए भी, ईश्वरीय सत्ता और ज्ञान के उपभोक्ता हैं।

सामान्यवाद, व्यक्तिवाद और सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद की ग्रीक समस्या, जिसको एरिजेना ने ईसाई धर्म में ला पटका, मध्ययुग की दार्शनिक विचारधारा का महत्वपूर्ण अंग बन गई। इसका महत्व दो कारणों से बढ़ गया। एक तो ईसाई धर्म की पुनीत त्रिपुटी का अर्थ समझाने के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा और दूसरे, चर्च की प्रभुता की अभिवृद्धि पर इसका प्रभाव पड़ने लगा। इन दोनों कारणों

को समझ लेना चाहिये। ईसाई धर्म के अनुसार पिता, पुत्र और जीवात्मा की त्रिपुटी में एक ही ईश्वर की दिव्य सत्ता और दिव्य ज्ञान है। तीनों अपना अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हुए भी, एक ही ज्योति से आलोकित है। सामान्य नित्य है और पुत्र के रूप में पिता में विद्यमान हैं। पिता पुत्र की सहायता से ही सृष्टि करता है। हमारे सामान्य इन दिव्य और नित्य सामान्यों के प्रतिरूप हैं। अतः सामान्यों को नित्य और वास्तविक मानना चर्च के लिए आवश्यक हो गया। पुनश्च, त्रिपुटी के तीन अंगों में ईश्वरत्व रूपी सामान्य विद्यमान है। यदि सामान्य बुद्धि की कल्पनामात्र हो, तो ईश्वरत्व भी कल्पनामात्र हो जायगा और तब, या तो त्रिपुटी के तीनों अंगों में से कोई भी ईश्वर नहीं हो सकेगा या तीनों भिन्न-भिन्न तीन ईश्वर बन जायेंगे। अतः चर्च के लिए सामान्यवाद का समर्थन और शक्तिवाद का विरोध करना अनिवार्य हो गया। इसका दूसरा कारण यह था—रोम के पोप की केन्द्रीय चर्च अन्य सब स्थानों में फैली हुई चर्च की शाखाओं का नियन्त्रण करती थी। अन्य चर्च-समुदाय व्यक्ति-समुदाय था और उन व्यक्ति-रूप विभिन्न चर्चों में पोप की केन्द्रीय चर्च, सामान्य के समान, अनुस्यूत थी। यदि सामान्य को बुद्धि की कोरी कल्पना मानी जाय, तो केन्द्रीय चर्च की अन्य चर्चों पर सत्ता भी काल्पनिक हो जायेगी। इस कारण से भी चर्च को सामान्यवाद का समर्थन और नामवाद का खण्डन करना आवश्यक हो गया। किन्तु इस सामान्यवाद की एक ध्वनि निकलती थी जो चर्च को मान्य नहीं हो सकती थी। एरिजेना पर प्लेटो और प्लोटाइनस का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। एन्सेलम पर भी कुछ पड़ा है। इस प्रभाव के कारण सामान्यवाद का झुकाव विवर्त-वाद की ओर प्रतीत होता है। सामान्य ही वास्तविक सत्य बन जाता है और व्यक्तियाँ उस सामान्य का आभास मात्र सिद्ध होती है। चर्च का द्वैतवाद इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था। अतः कालान्तर में प्लेटो के स्थान पर एरिस्टॉटल की शरण लेकर इस सामान्यवाद को सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद का रूप दिया गया।

सन्त एन्सेलम ने, धार्मिक मान्यताओं में कट्टर विश्वास होने के कारण नाम-वाद का खण्डन करके सामान्यवाद की पुष्टि की, एरिजेना के समान उन्होंने भी सामान्यवाद की सहायता से त्रिपुटी के तीनों अंगों का प्रतिपादन किया।

सन्त एन्सेलम का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना था। उनका ईश्वर की सिद्धि के लिए 'सत्तामूलक तर्क (Ontological Argument), जिसे आगे चलकर आधुनिक युग के संस्थापक देकार्त ने अपनाया प्रसिद्ध है। एन्सेलम के सत्तामूल तर्क का आशय यह है। हमारी आत्मा में पूर्ण ईश्वर का विचार उत्पन्न होता है और इस विचारमात्र से ईश्वर की सत्ता सिद्ध है; क्योंकि यदि ईश्वर की सत्ता न हो तो सत्ता की कमी के कारण वे पूर्ण नहीं हो सकेंगे। अतः ईश्वर विषयक विचार-मात्र से उनकी वास्तविक सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस

तर्क का खण्डन एन्सेलम के समकालीन गौनिलो (Gaunilo) ने कर दिया था, जिसे कान्ट ने, देकार्त का खण्डन करते समय अपनाया। गौनिलो का खण्डन इस प्रकार है। ईश्वर की पूर्णता का विचार ईश्वर की सत्ता के विचार को ही सिद्ध करता है, ईश्वर की वास्तविक सत्ता को नही। हमे यह विचार होता है कि ईश्वर पूर्ण है। जो पूर्ण है उसकी सत्ता अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा वह अपूर्ण हो जाएगा। इस सत्तामूलक तर्क से केवल सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसकी सत्ता भी होनी चाहिए इससे यह सिद्ध नही होता कि पूर्ण ईश्वर की वस्तुत. सत्ता है।

एबेलार्ड (Abelard) (१०७१–११४२)—सामान्य विशिष्ट व्यक्तिवाद का सूत्रपात एबेलार्ड ने किया, जिसको आगे चलकर टॉमस एक्विनस ने विकसित करके स्थिर रुप दिया। वस्तुतः एबेलार्ड का सिद्धान्त सामान्यवाद और व्यक्तिवाद का समिश्रण है। उनके अनुसार सामान्य की तात्विक सत्ता व्यक्तियों से भिन्न नही हो सकती। किन्तु इसका यह अर्थ भी नही कि सामान्य केवल काल्पनिक नाम है। सामान्य उन साधारण गुणो को कहते हैं जिनकी सत्ता एक जाति के सब व्यक्तियो मे समान रुप से हो। ये गुण हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं है ये वास्तविक गुण है जो वस्तुओ में वस्तुतः रहते है। इनकी प्राकृतिक हमारी बुद्धि मे भी रहती है। इन गुणो के मूलरुप ईश्वर के विज्ञान में रहते हैं। अतः एबेलार्ड के अनुसार सामान्यो की सत्ता तीन प्रकार की है—(१) सांसारिक वस्तुओ के यथार्थ गुणों के मूलरुप मे ईश्वर के विज्ञान में इसकी सत्ता हैं (Ante Res), (२) संसारिक वस्तुओ में इनके यथार्थ गुणो के रूप में इनकी सत्ता है (In Rebus), और (३) इन गुणों की प्रतिकृति के रूप मे हमारी बुद्धि में इनकी सत्ता है (Post Res)। इस मत को Conceptuolism कहा जाता है।

दूसरा कार्य जो एबेलार्ड ने किया यह था तर्क का महत्व बतलाना। धर्म के सिद्धान्तों को तर्क से सिद्ध करके मानना चाहिये। अन्धविश्वास ठीक नही। सन्देह पाप नही है, वह सच्चे दर्शन का जनक है। हाँ, सन्देह साधनमात्र है, साध्य नहीं। साध्य तो सत्य है जो सन्देह करने पर ही प्राप्त होता है, अन्धविश्वास से नहीं। इन सिद्धान्तों का प्रभाव देकार्त के 'सन्देहवाद' पर पडा है। एबेलार्ड में धार्मिक सहिष्णुता और उदारता थी। ये अन्य धर्मो के विद्वानो और सन्तो और दार्शनिको का भी आदर करते थे। ईसाई त्रिपुटी के तीनो अंगो को उन्होने तीन तत्व न मानकर एक ही तत्व तीन गुणो के रुप में स्वीकार किया, जिसका पादरियो ने बडा विरोध किया। उनकी धार्मिक उदारता से भी वे क्षुब्ध हैं।

कालान्तर में जब लोगो को तर्क का खून मुँह लग गया और धर्म के अन्धविश्वास तर्क के प्रहारो के आगे गिरने लगे तो चर्च ने, उनका सन्तोष-जनक समाधान न कर सकने के कारण, राज्यों की सहायता से एक धार्मिक न्यायालय

(Inquisition) स्थापित किया और ईसाई धर्म के ईश्वर के प्रति विद्रोह राजद्रोह ठहराया गया। इस विद्रोह का दण्ड मृत्यु दण्ड था—विरोधियों को जीवित जला देना। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में यह संस्था सुदृढ़ हो गयी थी।

यूरोप में उस समय ग्रीक भाषा के जानकार खोजने पर भी नहीं मिलते थे। प्लेटो और एरिस्टॉटल की कृतियों के जो कुछ अंश लेटिन मे अनूदित हो चुके थे उन तक ही ग्रीक दर्शन का ज्ञान सीमित था। किन्तु पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक प्लेटो और एरिस्टॉटल की बहुत-सी कृतियाँ आर्मेनियन और फारसी भाषाओं में अनूदित हो चुकी थी और आठवीं शताब्दी में बगदाद पहुँचकर अरबी भाषा में अनुवाद स्पेन पहुँचे। ग्रीक दर्शन का प्रभाव इस्लाम पर भी काफी पड़ा और कई मुसलमानविद्वान ने प्लेटो और एरिस्टॉटल के विचारों का कुरान के विचारो से सामजस्य करने का भी प्रयत्न किया। ईसाईयो और मुसलमनों में लम्बे धर्मयुद्ध (Crusades) हुए, उनके कारण दोनों में सम्पर्क होने से एवं बाइजेन्टाइन साम्राज्य (Byzantin Empire) के सम्पर्क होने से यूरोप में ग्रीक दर्शन और ग्रीक भाषा का फिर से प्रचार हुआ और अब ग्रीक भाषा मे मौलिक ग्रन्थो से ही उनके अनुवाद किये जाने लगे। इस प्रकार प्लेटो और एरिस्टॉटल के शुद्ध विचारों का फिर प्रचार हुआ और ईसाई धर्म ने प्लेटो के बजाय एरिस्टॉटल को अधिक आदर दिया। सन्त टॉमस एक्विनस पर एरिस्टॉटल का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने जिस दर्शन की प्रतिष्ठा की वह वर्षो तक चर्च का मान्य दर्शन बना रहा।

सन्त टॉमस एक्विनस (Saint Thomas Aquinas) (१२२५-१२७४)—एक्विस का जन्म नेपल्स के पास एक उच्च कुल में हुआ था। वे केथोलिक सम्प्रदाय की डोमिनिकन शाखा के पादरी थे। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी और उन्होंने अपना जीवन मुख्यतया अध्ययन और अध्यापन में ही बिताया उन्होंने एरिस्टॉटल की कृतियों पर विस्तृत भाष्य लिखे हैं और स्वातन्त्र ग्रंथों की भी रचना की है।

एक्विनस के अनुसार दर्शन और धर्म का विभाग तर्क और श्रुति के विभाग पर निर्भर है। दर्शन का साधन है तर्क और धर्म का श्रुति। तर्क की सीमाये हैं। वह परमार्थ का ज्ञान नही करता। इसके लिए श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। किन्तु फिर भी दोनों का क्षेत्र बहुधा मिल जाता है। दोनों एक दूसरे के सहायक और पूरक हो जाते हैं। ईश्वर ज्ञानस्वरूप है, अतः तर्क उनकी ओर संकेत तो करता ही है, श्रुति के सिद्धांत भी; युक्तियुक्त होने के कारण, तर्क द्वारा प्रमाणित किये जा सकते हैं। यह सत्य हैं कि तर्क की गति सीमित होने के कारण प्रधान्य श्रुति का ही है।

सन्त एक्विनस ने ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रमाण भी दिये हैं। सन्त एन्सेल्म का 'सत्तामूलक तर्क' उन्हें नहीं जँचा। गौनिलो का मत कि इससे ईश्वर की सत्ता

सिद्ध नहीं होती, किन्तु 'सत्ता का विचार' ही सिद्ध होता है, ठीक है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमारी सविकल्प बुद्धि ईश्वर की पूर्णता का ग्रहण ही नहीं कर सकती। एक्विनस के अनुसार, ईश्वर की सत्ता के लिए सर्वोत्तम प्रमाण एरिस्टॉटल ने दिया है। वह यह कि जगत् की गति और परिणाम के लिए एक स्वयंभू और अपरिणामी चेतन कारण आवश्यक है। ईश्वर 'सिद्ध स्वरूप' (Actualized Form) हैं। वे समस्त जगत् में अन्तर्निहित है और सबके लक्ष्य हैं। समस्त जगत् उनकी ओर आकर्षित होकर विकसित हो रहा है। वे विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। विश्व जड़ है। अतः जड़ता के अभाव और विशुद्ध चैतन्य के भाव के रूप में ईश्वरकी सत्ता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त, प्लेटो, प्लोटाइनस और एरिजेना के तर्कों का आश्रय लेकर एक्विनस ने यह भी स्वीकार किया है कि ईश्वर का विज्ञान नित्य सामान्यरूप है जो सृष्टि का कारण और हमारे विज्ञानों का मौलिक रूप है। अतः हमारे विज्ञानों से ईश्वर के दिव्य और विज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि कार्य कारण की ओर संकेत करता है। अपूर्ण और अनित्य विश्व का अपने पूर्ण नित्य कारण की ओर संकेत करना अनिवार्य है।

एक्विनस ने एवेलार्ड के सामान्य विशिष्टव्यक्तिवाद को अपनाया। विज्ञानों की असली सत्ता ईश्वर के नित्य विज्ञानों में है। ईश्वर के नित्य विज्ञान, एक ओर तो जड़ पदार्थों के स्वरूप के रूप में उतरते हैं और दूसरी ओर हमारे विज्ञानों के रूप में, विज्ञानों के ये तीनों रूप, ईश्वर, जीव और जगत् के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। इनके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् में अन्तर्यामी है और अपने स्वरूप में पर है। संसार के समस्त व्यक्ति, चेतन जीव और जड़पदार्थ दोनों, इन समान्य विज्ञानों से विशिष्ट होकर ही सत्तावान् है। अतः इस मत को सामान्य विशिष्टव्यक्तिवाद कहते हैं।

एक्विनस के अनुसार आत्मा अमर है। हमारे जीवन का प्रधान लक्ष्य ईश्वर के नित्य विज्ञान और नित्य आनन्द की अनुभूति है। ईश्वर का संकल्प सदा शिव और मंगलमय होता है; क्योंकि संकल्प ज्ञान का ही दूसरा रूप है। ज्ञान और संकल्प दोनों शक्तिरूप है। यह शक्ति 'स्वतन्त्र' होने में है, 'परतन्त्र' या 'अन्तन्त्र' होने में नहीं। जैसे-जैसे हमारा ज्ञान ईश्वराभिमुख होगा, वैसे-वैसे ही हमारे संकल्प भी मंगलमय होंगे; क्योकि ईश्वराभिमुख होना ही 'स्वतन्त्र' होना है।

मिस्टर एखार्ट (Meister Eckhart) (१२६०-१३२७)—ये रहस्यवादी थे और प्लोटाइनस और एरिजेना के भक्त थे। इन्होंने एरिस्टॉटल और एक्विनस की तीव्र आलोचना की। विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति मात्र है और जीवात्मा का लक्ष्य रहस्यमयी साधना द्वारा ईश्वर में पूर्णतया विलीन हो जाना है।

डन्स स्कॉटस (Duns Scotus) (१२६६ (?)—१३०८)—स्कॉटस का जन्म

स्काटलैंड में हुआ था। वे आक्सफोर्ड में पढ़े थे और कुछ समय तक वहीं अध्यापक भी रहे। वे फ्रेन्सिस्कन शाखा के अनुयायी थे और सन्त एक्विनस के विरोधी थे। स्कॉटस ने तर्क और श्रुति के क्षेत्रों को अलग रखना ही उचित समझा। तर्क अतीन्द्रिय पदार्थों का कभी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं कर सकता। ईश्वर की सत्ता के लिये जो प्रमाण एक्विनस ने दिये वे निश्चयात्मक नहीं हैं। ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, परमपिता की करुणा आदि सिद्धान्त धर्म के सिद्धान्त हैं और श्रुति के कारण मान्य हैं। फिर भी स्कॉटस ने स्वयं ईश्वर की सत्ता के लिये प्रमाण दिये। सन्त एन्सेल्म के 'सत्तामूलक तर्क' को उन्होंने मान्य समझा। ईश्वर के विचारमात्र से उनकी सत्ता सिद्ध होती है। यदि पूर्ण ईश्वर की सत्ता न हो, तो पूर्ण ईश्वर का विचार' एक साथ संभव और असंभव दोनों हो जाता है जो असंगत है। अतः ईश्वर की सत्ता-शून्यता असंगत है अर्थात् ईश्वर की सत्ता है।

स्कॉटस के अनुसार ऐक्विन्स का यह कथन कि ईश्वर का स्वरूप नित्य विज्ञानात्मक है और नित्य विज्ञान हमारे विज्ञानों और जड़ पदार्थों के वास्तविक धर्मों के मूलरूप हैं, अनुचित है। ईश्वर का स्वरूप उनकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति या कृतिशक्ति (Will or Volition) है। यदि ईश्वर अपने नित्य विज्ञानों के अनुरूप सृष्टि का निर्माण करते हों, तो ये नित्य विज्ञान ईश्वर के आदर्श बनकर उनको परतन्त्र बना देंगे। सामान्यों की सत्ता व्यक्तियों या विशेषों से भिन्न या श्रेष्ठ नहीं है। ईश्वर अपनी संकल्प-शक्ति के व्यक्तियों को उनके सामान्यों के साथ उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक स्वरूप धर्म सामान्यरूप और व्यक्तिरूप दोनों है। ईश्वर के विज्ञान में और हमारे विज्ञान में वह सामान्य है और विशेषों में व्यक्तिरूप है। विशेष सामान्य के "संकुचित रूप" (Contraction of Essence) हैं।

ईश्वर के समान जीव का स्वरूप भी उसकी संकल्प-शक्ति है। हमारी स्वतन्त्रता हमारे संकल्पों के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुए भी पाप के पथ पर चल सकता है यही उसकी स्वतन्त्रता है। हमारा ज्ञान भी संकल्पों के कारण बनता है। अतः हम अपने ज्ञान के लिये भी उतने ही उत्तरदायी हैं जितने अपने कर्मों के लिए।

बिलियम ओखम (William of Occam) (१२६० (?)–१३४६)— ओखम अँगरेज थे और आक्सफोर्ड के विद्यार्थी तथा अध्यापक रहे थे। ओखम नामवाद और व्यक्तिवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार दर्शन का क्षेत्र तर्क तक ही सीमित है। तर्क की गति अतीन्द्रिय विषयों तक नहीं है। अतः ईश्वर, आत्मा, अमरता, नित्य विज्ञान या सामान्य आदि को दर्शन के क्षेत्र से अलग कर देना चाहिये। जहाँ तक इन्द्रियानुभव और तर्क की गति है वहाँ तक ही दर्शन का क्षेत्र है। ईश्वर, नित्य

सामान्य आदि की सत्ता तर्क के प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकती। सामान्यों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। वे हमारी बुद्धि की कल्पनामात्र हैं। वे केवल नाम हैं जिनका प्रयोग हम सुविधा के लिए करते है। ओखम का यह खण्डन साहित्यिक भाषा में 'ओखम का उस्तरा' (Occam's Razor) कहलाता है जिससे उन्होंने सामान्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की जड़ ही काट दी। ओखम से पहले रोजर बेकन (Roger Bacon) भी दर्शन को इन्द्रियानुभव और तर्क तक ही सीमित रखने का और वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा दर्शन के विचारों को सिद्ध करने का समर्थ कर चुके थे। आधुनिक युग की पृष्ठभूमि तैयार की जा रही थी।

द्वितीय खण्ड : आधुनिक युग

षष्ठ अध्याय

देकार्त के पूर्व का दर्शन

भूत, वर्तमान और भविष्यत्—ये तीनो अनन्त काल के मानव कल्पित विभाग हैं। तीनो पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर सम्बन्ध है। वर्तमान भूत में प्रतिष्ठित है और भविष्यत् को जन्म देता है। नये युग के बीच प्राचीन युग मे विद्यमान रहते हैं और उन्ही मे से नया युग पनपता है। कोई भी नया युग अकस्मात् ही नहीं टपक पड़ता; उसके और प्राचीन युग के बीच में एक लम्बा सन्धि-काल रहता है।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक रेने देकार्त को पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का प्रवर्तक माना जाता है। आधुनिक युगकी सभी विशेषताएँ देकार्त के दर्शन मे पूर्णतया विकसित हुई हैं। देकार्त का समय १५९६—१६५० है। किन्तु आधुनिक युग की विशेषताओ का सूत्रपात कुसा-निवासी निकोलस (Nicholas of Cusa) के ग्रन्थ 'आइडिओटा' (Indiota) में, जो १४५० मे प्रकाश मे आया, हो गया था। सन् १४५० से १६४४ तक का समय दर्शन के आधुनिक युग का सन्धिकाल है। इस संधि-काल मे आधुनिक युग का अरुणोदय हुआ जो देकार्त में सूर्य बनकर चमक उठा।

पाश्चात्य दर्शन का आदि युग–ग्रीकयुग–सौन्दर्य और कला का युग है। ग्रीक दार्शनिक सौन्दर्य और कलाके उपासक तथा सामंजस्यके प्रेमी थे। उनका लक्ष्य था 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समन्वय की अनुभूति और पद्धति थी संश्लेषणात्मक। मध्ययुग में दर्शन ईसाई धर्म का दास बन गया और एरिस्टाटल के तर्क को तोड़-मरोड़कर ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करने के काम में लाया। मध्ययुग है ईसाई धर्म के कैथोलिक सम्प्रदाय के प्रभुत्व का युग; धर्मसंस्था चर्च और उसके धर्मगुरुपोप के सार्वभौम निरंकुश शासन का युग; एरिस्टॉटल के तर्क को काट-छाँटकर धार्मिक मान्यताओं को पुष्ट करने के लिए किये जानेवाले शास्त्रार्थ का युग। इसकी पद्धति है धार्मिक अन्ध-विश्वास की और उसकी सिद्धिके लिए किये जाने वाले तथाकथित शास्त्रीय निगमनात्म तर्क की आधुनिक युग है स्वातन्त्र्य का युग—व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का युग, धार्मिक परम्परा और प्रभुत्व के प्रति विद्रोह का युग, दर्शन को धर्म की दासता से मुक्त करने का युग, विचार स्वतन्त्र्य, भावना-स्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्य का युग, निष्पक्ष और स्वातन्त्र्य, आलोचना का युग, भौतिक विज्ञान के प्रबल अभ्युदय का युग एवं समाज

संस्कृति और कला के पुनरुत्थान का तथा प्रगतिशील जन-जागरण का युग। इसकी पद्धति है वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक जिसकी प्रतिष्ठा है आगमनात्मक तर्क में। यद्यपि वाणी और वीणा, कला और सौन्दर्य, सुरुचि और समन्वय की उपासिका ग्रीक-विचारधारा के आगे चीरफाड़, विष्लेषण और नग्न सत्यकी पूजारिन आधुनिक विचार धारा वैसी ही लगती है जैसे भव्य वस्त्रों से सुसज्जित कलावती सुन्दरी के आगे साधारण चिथड़ो में लिपटी हुई छेनी हथौडीवाली मजदूरिन, तथापि आधुनिक विचारधारा का विरोध और संघर्ष हुआ मध्ययुग की विचारधारा से, जो सुन्दरी और मजदूरिन दोनों को हेय समझकर साध्वी या भिक्षुणी बन गई थी और जिसने मजदूरिन को गिरजाघरकी चारदीवारी में बन्द करके उसे अपनी दासी बना रखा था। इस मजदूरिन ने अपनी दासता की बेड़ियाँ काट फेंकने के लिए कलावती सुन्दरी की शरण ली। बच्चों और बूढ़ों में मित्रता होते देर नहीं लगती।

मध्ययुग और आधुनिक युग के सन्धिकाल का इतिहास धार्मिक और प्रभुत्व के क्रमिक ह्रास का तथा व्यक्ति और समाज की स्वतन्त्रता एवं भौतिक विज्ञान के क्रमिक अभ्युदय का इतिहास है यह सांस्कृति पुनर्जन्म (Renasisance) और धर्म सुधार (Reformation) का इतिहास है। जिन कारणों से यह जनजागरण हुआ उन पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना असंगत न होगा।

मध्ययुग यूरोप में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों पर पोप का सार्वभौम अधिकार था। जब यह रूढ़िवाद और निरंकुश धर्म-शासन उत्तरोत्तर कठोरता और हीनतर होने लगा तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, तीनों ने ही अपने आपको इस धार्मिक कुचक्र से मुक्त करने को ठान ली। अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह होने लगा। विचारों की दासता असह्य हो उठी। सांस्कृतिक पुनर्जन्म का यह पहला कारण था।

मध्ययुग में सत्य का मानदण्ड था पोप का आदेश। किन्तु इन धर्मगुरुओं ने अपने आदेशों का सिक्का जमाने के लिए उनका तर्क द्वारा समर्थन करना शुरू किया। यह घातक सिद्ध हुआ, क्योंकि एकबार जब तर्क का खून जनता के मुँह लग गया तो बुद्धिवाद-और उसके साथ-साथ स्वातन्त्र्यवाद का प्रबल अभ्युदय हुआ जिसके आगे धार्मिक आदेश नहीं टिक पाये। यह था दूसरा कारण।

तीसरा कारण था रहस्यवादी साधना का उदय। अनेक रहस्यवादी सन्तों ने यह बताना शुरू किया कि ईश्वरी प्रेम और निर्विकल्प ज्ञान की साधना द्वारा मनुष्य ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति और प्रभु का साक्षात्कार कर सकता है। इसके लिए धर्मध्वज पोप के प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं है। इसका परिणाम हुआ चर्च की ठेकेदारी और पोप की दलाली का अन्त। इसी रहस्यवाद में से व्यक्तिवाद की तीव्र लहर उठी जो आधुनिक युग की विशेषता है।

चौथा कारण था भौतिक विज्ञान का प्रबल विकास और उसके कई महत्वपूर्ण अन्वेषण। ईसाई धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टि का केन्द्र है पृथ्वी और पृथ्वी-निवासी मानव का सृष्टि में सर्वाधिक महत्व है। सृष्टिकर्ता ईश्वर स्वर्ग स्थित है और वहीं से सृष्टि-साम्राज्य का संचालन करता है, शैतान के उकसाने पर आदि मानव 'आदम' ने निषिद्ध फल खा लिया और तभी से संसार में दुःख और पाप का साम्राज्य फैला। ईसाई मत को मानने से और धर्मगुरु पोप के आदेशों पर चलने से मनुष्य इस दु.खमय ओर पापमय संसार से छुटकारा पाकर परमपिता के स्वर्ग में जाकर ईश्वरीय आनन्द का उपभोग कर सकता है। ईसाई धर्मकी इन मान्यताओं को भौतिक विज्ञान के विकास से गहरा धक्का लगा। रोजर बेकन (१२१४—९४) और लियोनार्दो द विन्सी (१४५२-१५१९) ने इन मान्यताओं की जड़ें हिला तो दी थीं, किन्तु इन्हें उखाड देने का श्रेय है प्रसिद्ध वैज्ञानिक कॉपरनिकस (१४७४—१५४३) को। कॉपर-निकस ने सिद्ध किया कि पृथ्वी न तो सृष्टि का केन्द्र है और न सूर्य पृथ्वी की ओर घूमता है- अपितु, सृष्टि का केन्द्र है सूर्य और यह पृथ्वी ही, जो गोल है, सूर्य चारों ओर घूमती है। गेलिलियो (१५६४—१६४२) और केपलर (१५७१—१६३०) के गणित ओर ज्योतिष के अनुसन्धानों से कापरनिकस के मत की पुष्टि हुई। पृथ्वी इस विशाल सृष्टि का लघु खण्ड मात्र है और मानव एक साधारण प्राणी। ईश्वर और उसके स्वर्ग की कल्पना धार्मिक कल्पना मात्र है। पार-लौकिक सुख की कल्पना के कारण इहलौकिक सुख को दुःख और पाप समझ कर छोड़ देना युक्तिसंगत नहीं। मानव-जीवन जीने के लिए हैं, मरने के लिए नहीं। इस जीवन को सुखमय बनाने के साधनों की खोज करना भौतिक विज्ञान का लक्ष्य है। मानव-जीवन को समझना ही सत्य के स्वरुप को समझना है और इसका एकमात्र साधन है इन्द्रियानुभूति न कि कोरी धार्मिक बौद्धिक कल्पनायें। इन सैद्धान्तिक अनु-सन्धानों के साथ-साथ ही विज्ञान ने जिन वस्तुओं का अन्वेषण किया उसके उपयोग ने भी मानवबुद्धि के क्षेत्र को व्यापक बनाया, व्यक्तिवाद को बल दिया, स्वतन्त्रता की पुष्टि की और धार्मिक अन्धविश्वासों को उखाड़ फेका। बारूद की खोज ने युद्ध-कला में भारी परिवर्तन ला दिया। छापे की मशीन ने ज्ञान के प्रकाश को चर्च की चार दीवारी से निकालकर चारों ओर फैलाया। दूरबीन के आविष्कार से गणित-ज्योतिष और सौरमण्डल के ज्ञान में क्रान्ति हुई। कुतुबनुमा के आविष्कार से नये-नये देशों को खोजने में सहायता मिली। अब मानवधर्म के संकुचित क्षेत्र से निकलकर भौतिक विज्ञान क्षेत्र में आ उतरा; पारलौकिक सुख की कल्पना छोड़कर इस लोक में ही सुख स्थापित करने के लिए उसने कमर कसी।

संस्कृतिक पुनर्जन्म का पांचवां कारण हैं वे ऐतिहासिक घटनायें जिनसे इस जन-जागरण को बल मिला। सर्वप्रथम इस जागृति का उदय इटली में हुआ और

वहीं से इसका प्रकाश यूरोप के अन्य देशों में फैला। धार्मिक बन्धनों के विरुद्ध व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का आन्दोलन हुआ। व्यक्तिवाद और स्वातन्त्र्य की लहर दौड़ी। प्राचीन ग्रीक विचारधारा का पुनरुत्थान हुआ। ग्रीक कला के प्रतीकों का और ग्रीक साहित्य के ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का प्रबल अन्वेषण होने लगा। लोग धार्मिक आदेशों की अपेक्षा ग्रीक कला-कृतियों को, फूलदान या मूर्ति को, और ग्रीक साहित्य के ग्रंथों को अधिक आदर देने लगे। प्लेटो एरिस्टाटल और अन्यग्रीक दार्शनिक एवं साहित्यिकों की कृतियों का अध्ययन होने लगा। इनके लेटिन भाषा में अनुवाद होने लगे। प्लेटो और एरिस्टाटल के अध्ययन के लिए अलग अलग विशेष संस्थाएँ स्थापित हुई। कई राजाओं ने, सामन्तों ने और कुछ धर्मगुरुओं ने भी, जो अपने चरित्र-पतन के लिए प्रसिद्ध हैं, इस साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान में पूर्ण सहयोग दिया। इसी समय सन् १६५३ में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना हुई—वह थी पूर्वीय यूरोपीय साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों का अधिकार हो जाना। इस घटना के कारण कई ग्रीक विद्वान् कुस्तुनतुनियाँ से भाग कर शेष योरप में, और विशेषतः इटली में, फैल गये और वहाँ पर अपने पांडित्य का प्रकाश फैलाने लगे। दूसरी ऐतिहासिक घटना हुई सन १४६२ में कोलम्बस द्वारा हिन्दुस्तान के धोखे में अमेरिका की खोज और तीसरी घटना हुई सन् १४१८ में वास्को द गामो द्वारा यूरोप से हिन्दुस्तान आनेके समुद्र पथ की खोज। इनके कारण यूरोपके व्यापार और उपनिवेश-बाद का प्रबल उत्थान हुआ और साथ ही व्यापारी जहाजों में लदकर पूर्व के माल के साथ-साथ विचार भी यूरोप में जाने लगे। इटली में यह जागरण साहित्यक, कलात्मक और सांस्कृतिक हुआ, किन्तु जर्मनी में इसने धर्म-सुधार का रूप लिया। सन् १६१७ में जर्मनी में मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) के धर्म-सुधार आंदोलन का श्रीगणेश हुआ और १५२१ में वह काफी जोर पकड़ गया। पोप के केथोलिक सम्प्रदाय के विरूद्ध ईसाई मत के ही प्रोटेस्टेट सम्प्रदाय का उदय हुआ और फिर यह जर्मनी के बाहर अन्य यूरोपीय देशों ने स्वयं को चर्च की प्रभुसत्ता से मुक्त कर लिया। चर्च ने इस आंदोलन को दबाने की भरसक चेष्टा की। विरोधियों को कारावास में डाला गया विविध यंत्रणायें दी गई, जीवित जलाया गया, किंतु फिर भी धर्मसुधार-आंदोलन पनपता ही गया और अंत में इसने पोप की प्रभु-सत्ता को समाप्त करके ही दम लिया

अब कुसा के निकोलस से लेकर देकांत के पहले तक के दार्शनिक संधि-काल के मुख्य मुख्य विचारों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

कुसा-निवासी निकोलस (१४०१-१४६४)—निकोलस (Nicholas of Cusa) का दर्शन मध्ययुग और आधुनिक युग के विचारों की संधि है। मध्ययुग के धार्मिक और शास्त्रीय विचारों में सुधार करके उनको अपनाना निकोलस का अभीष्ट

था। वे स्वयं पादरी थे। पोप और चर्च की प्रभुता उन्हें मान्य थी, किन्तु वे निरंकुश सत्ता के उपासक नहीं थे। उनके मत में राजा की सत्ता प्रजा की और पोप की सत्ता धर्म की देन है। अतः निरकुशता को रोकने के लिए राजा की सत्ता प्रजा के प्रतिनिधियों की समिति द्वारा और पोप की सत्ता धार्मिक पादरियों की समिति द्वारा नियन्त्रित रहनी चाहिए। आधुनिक युग की सभी विशेषताएँ—ग्रीक दर्शन का प्रेम, गणित और भौतिक विज्ञान का अनुराग, व्यक्ति की महत्ता और स्वतन्त्रता, सुन्दर भविष्य की आशा, बुद्धिवाद की प्रधानता, निरंकुशता का विरोध, आलोचनात्मक प्रणाली आदि उनमें विद्यमान है, किन्तु इन विशेषताओं को उनकी धार्मिक श्रद्धा और रहस्यवाद के प्रेम ने नियंत्रित रक्खा है, उच्छड्खल नहीं बनने दिया। निकोलस निःसंदेह एक महान दार्शनिक थे। उनके विचारों का प्रभाव ब्रूनो, स्पिनोजा, लाइबनित्ज, शेलिंग और हेगल के विचारों में स्पष्ट प्रतीत होता है। उनकी दार्शनिक महत्ता अभी तक पूर्ण रूप में स्वीकृत नहीं हो पायी है। कारण यह है कि अपनी धर्म भीरुता के कारण वे अपने उन विचारो को जो ईसाई धर्म के प्रतिकूल पड़ते थे पूर्ण विकसित नहीं कर सके और इसके लिए यूरोप को लगभग १२५ वर्ष और प्रतीक्षा करनी पड़ी जब ब्रूनों ने साहसपूर्वक उनका उद्घोष किया और अपने विचारों को छोड़ देने की अपेक्षा धर्म के ठेकेदारों के हाथों कारावास की यन्त्रणा सहकर और आग में जीवन जलाया जाकर अपने नश्वर शरीर को छोड़ देना अधिक पसन्द किया। अपने प्राणों को हँसते-हँसते बलिदान करने वाले प्रातः स्मरणीय महान ब्रूनो की ख्याति से निकोलस की ख्याति ढ़क गई है।

निकोलस के दर्शन में विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का विलक्षण समन्वय है। वे इन दोनों को विरुद्ध न मानकर विशिष्टाद्वैत को अद्वैत का पूर्वरूप ही मानते थे। मानवी बुद्धि के लिए विशिष्टाद्वैत सर्वोच्च सिद्धान्त हैं, क्योंकि बुद्धि तत्व के पूर्ण रहस्य को नहीं समझ सकती; किन्तु तत्व का वास्तविक स्वरूप अनिवर्चनीय अद्वैत ही है, जहाँ वाणी और बुद्धि की गति नहीं रहती। निकोलस के ये और कुछ अन्य सिद्धान्त (जैसे पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र नहीं है; पृथ्वी घूमती है आदि) स्पष्ट ही ईसाइयों के द्वैतवाद के प्रतिकूल है। फिर भी इसाई पादरी और श्रद्धालु जन निकोलस को समान की दृष्टि से ही देखते रहे; क्योंकि निकोलस स्वयं धर्मात्मा, ईसा के कट्टर भक्त और श्रद्धालु पादरी थे, पोप और चर्च के उपासक थे; और यद्यपि कई पादरी उनके इन सिद्धान्तों से असन्तुष्ट थे, तथापि उनके अद्वैतवाद को भुलाकर और विशिष्टाद्वैत को तोड़-मरोड़कर द्वैत के रूप में गले के नीचे कुछ कडुवी घूँट के समान उतार देना धर्म भक्तों के लिए विशेष कठिन न था।

निकोलस ने ज्ञान के चार स्तर बताये हैं—प्रथम, इन्द्रिय-संवेदन (Imagi nation) जिसमें ब्राह्य और अन्तर दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान आता है; द्वितीय,

सविकल्प या विश्लेषणात्मक बुद्धि (Ratio); तृतीय, संश्लेषणात्मक प्रज्ञा (Intellectus) और चतुर्थ निर्विकल्प ज्ञान या अपरोक्षानुभूति (Intuitio)। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का संवेदन होता है। यह विधानात्मक है, निषेधात्मक नहीं।[1] इसमें ज्ञान धुँधला और क्षीण होता है। इन अस्तव्यस्त संवेदनों में एकता नहीं होती, अनेकता ही होती है यह द्वैत का स्तर हैं। इसके ऊपर का स्तर सविकल्प तर्क या अनुमान का स्तर है। इसमें विधि और निषेध दोनो का प्रयोग होता है। तर्क के विकल्पों में एकता और अनेकता दोनों का आभास मिलता है, किन्तु अलग-अलग। द्वैत और अद्वैत की पृथक पृथक कल्पना उपलब्ध होती है। दोनों में विरोध प्रतीत होता है, सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता। तर्क का काम विश्लेषण और विभाग करना है। यह स्तर द्वैताद्वैत का है। इसके ऊपर उठने पर संश्लेषणात्मक प्रज्ञा का स्तर आता है। जो अनेकत्व में साधारणभूत एकत्व को जान लेती है। यह स्तर विशिष्टाद्वैत का है। इसमें अद्वैतद्वैत से विशिष्ट रहता है। प्रधानता अद्वैत का ही है, किंतु बिना द्वैत के अद्वैत नहीं रह सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बिना अद्वैत के आधार के द्वैत नही टिक सकता। इस स्तर पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी बनी रहती है। विशेषणरूप और गौण द्वैत में अनुस्यूत आधारभूत तात्विक अद्वैत का साक्षात् करना मानवी सविकल्प बुद्धि की पराकाष्ठा है। किन्तु इसके द्वारा भी वस्तुत: परमार्थ का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि परमार्थ बुद्धि के किसी भी विकल्प द्वारा भले, ही वह विशिष्टाद्वैतरूपी सर्वोच्च विकल्प ही क्यों न हो ग्राह्य नहीं है। अत: तत्व का साक्षात्कार निर्विकल्प ज्ञान या अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हो सकता है, जहाँ वाणी और बुद्धि का प्रपंच, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी नही रहती। यह स्तर अद्वैत का है। बुद्धि तत्व की ओर संकेत मात्र कर सकती है, उसका ग्रहण नहीं। सविकल्प बुद्धिका अपनी सीमा को जान लेना बड़ी भारी बात है। तत्व की अज्ञेयता और अनिर्वचनीयता का ज्ञान मानवी बुद्धि की चरम सीमा है। तत्व अज्ञेयता और अनिर्वचनीयता तत्व का निषेध नहीं करतीं। यह तो तत्व की बुद्धिगम्यता और निर्वचनीयता का ही निषेध करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि तत्व का निर्विकल्प अनुभूति द्वारा ही साक्षात्कार हो सकता है। सविकल्प बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। तत्व के विषय में सविकल्प बुद्धि के इस अज्ञान को निकोलस ने बड़ा सुन्दर नाम दिया है—'ज्ञानोत्पन्न अज्ञान' (Docta Ignorantia)। यह अज्ञान, जो बुद्धि की चरम सीमा है, विद्वानों को ही सौभाग्य से प्राप्त होता है। यह मूर्खों का अज्ञान नहीं, विद्वानों का अज्ञान है। यह 'अज्ञान' तत्व की अज्ञेयता और अनिर्वचनियता का ज्ञान है; यह 'नेति-नेति' का ज्ञान है। इन चारों स्तरो में आत्यन्तिक पार्थक्य नहीं है। नीचे का स्तर ऊपर उठने का प्रयत्न करता है और ऊपर का स्तर नीचे के स्तर को अनुप्राणित करता है।

१. आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।

निकोलस के इन विचारों का ज्ञान के इन विविध स्तरों का स्पिनोजा पर भारी प्रभाव पड़ा है और स्पिनोजा ने अपने दर्शन में इस सिद्धान्तों को अपनाया है।

यह तो स्पष्ट हो ही गया कि निकोलस के अनुसार सत्य के विभिन्न स्तर हैं और तत्व का साक्षात्कार सविकल्प बुद्धि द्वारा न होकर अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि के विकल्प न सर्वथा सत् हैं और न सर्वथा असत्। सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार इस सदसद्-विलक्षण बुद्धि का कार्य है। व्यवहार में इसकी सत्यता अनिवार्य है। किन्तु इस व्यवहार को परमार्थ समझ लेना अज्ञान है। यह मानव की सबसे बड़ी भूल है।[1]

बुद्धि के लिए ईश्वर या परमार्थ विशिष्टाद्वैत तत्व (Coincidentia Oppositorum) है। इस सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च में अन्तर्यामी अद्वैव है। भेद में अनुस्यूत अभेद है।[2] यहाँ द्वैत और अद्वैत में विरोध नहीं रहता उसमें अङ्गङीभाव स्थापित हो जाता है। द्वैत-प्रपञ्च, अद्वैत से अनुप्राणित होकर और उसका अंग या विशेषण बनकर, एक विलक्षण समन्वय बन जाता है। जड़ उन दोनों की आत्मा है; उन दोनों में अन्तर्यामी रूप मे विराजमान हैं ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि जो कुछ है वह ईश्वर के आधार पर टिका हुआ है। सब कुछ ईश्वर के अन्तर्गत है, उसके बाहर नहीं है। अद्वैत ईश्वर की आत्मा है (Omnia Complicans); द्वैत ईश्वर का शरीर है (Omnia Explicans)। ईश्वर की महिमा और शक्ति अनिर्वचनीय और अचिन्त्य हैं। ईश्वर में 'सत्' (Existence) और चित् (Essence) का तादात्म्य है। ईश्वर इस सृष्टिके केन्द्र और परिधि दोनों है। वे बड़े से बड़े (Maximum) और छोटे से छोटे (Minimum) हैं। वे अणू से भी महान् है।[3] ईश्वर सृष्टि में अन्तर्यामी है और सृष्टि ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर एक होते हुए भी अपनी विभिन्न और अचिन्त्य शक्ति (Posse Ipsum) के कारण अनेक वद् प्रतीत् होते हैं।[4] जैसे एक मुख का प्रतिबिम्ब यदि अनेक शीशों में पड़े, तो अनेक मुख दिखाई देने लगते हैं, किन्तु वस्तुतः मुख तो एक ही है, भेद केवल प्रतिबिम्बों में है, उसी प्रकार ईश्वर भी, अपनी अचिन्त्य शक्ति के कारण; जड़ और चेतन जगत् के

---

१. बौद्ध और वेदान्त दर्शन की सदसदनिर्वचनीया या अविद्या।

२. रामानुज दर्शन।

३. अणोरणीयान् महतो महीयान्।

४. इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप इयते। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

विभिन्न रूपों मे अभिव्यक्ति होते है।[1] जड़ है 'नश्वर ईश्वर' (Deus Creatus) और चेतन 'म नव ईश्वर' (Deus Humanus)। व्यष्टि समष्टि का ही छोटा रूप है। अणु विराट का ही प्रतिबिम्ब है प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्ण विश्व को और अपने आप मे प्रतिबिम्बित करता है किन्तु विभिन्न मात्राओ मे। जड़, प्राण, सवेदन, बृद्धि-इन चारो मे विविध अ ो मे ईश्वर का प्रतिबिम्ब झलकता है। (उपनिषद् की भाषा मे इनको अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश कह सकते है।) प्रत्येक मे ईश्वरीय चितशक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो जाता है। अनन्त आनन्द के अनुभव के लिए ईश्वर का साक्षात्कार अावश्यक है ईश्वर केवल 'अन्तर्यामी' (Immanent) ही नही, अपितु 'पर' (Transcendent) भी है। वे अनन्त, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। वाणी आर बुद्धि की पहुँच उन तक नही। उनका सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति-नेति' (Via-Negativa) है।

स्पष्ट है कि विचारो का प्रभाव ब्रूनो, स्पिनोजा लाईबनित्ज शेलिग और हेगल पर अलग-अलग रूप मे पडा है और अपने अपने अशो मे वे सब निकोलस के ऋणि हैं।

निकोलस के पश्चात् अब ब्रूनो के विचारो पर दृष्टिपात करना उचित है। बीच मे मार्सिलियस फिसिनस (१४३३-१४९९) ने प्लेटो और प्लोटाइनस के ग्रन्थो का लेटिन मे अनुवाद किया और इनके विचारों का प्रतिपादन किया; पिको देला मिरान्दोला (१४६३ १४९४) ने पाइथेगोरस, प्लेटो, प्लोटाइनस और यहूदी दार्शनिको की विचार धाराओ को ईसाई विचारधारा मे मिलकर एक विचित्र रहस्यवाद की पुष्टि की; पोम्पोनाजा, (१४६२-१५२५) ने एरिस्टॉटल के अध्ययन पर बल दिया और बताया कि एरिस्टाँटल के अनुसार आत्मा की अमरता आदि ईसाई सिद्धान्तो की पुष्टि नहीं होती; और पेरासेल्सस (१४९३-१५४१) ने प्रकृति को ईश्वर का शरीर बतलाकर प्रत्येक वस्तु मे ईश्वरीय चैतन्य के न्यूनाधिक मात्रा मे विद्यमान होने का समर्थन किया और मानव मे यह चैतन्य सर्वाधिक मात्रा मे होने से मानव के लिए ईश्वरीय ज्योति का साक्षात् करने और योगसिद्धि तथा रासायनिक विद्या द्वारा विश्व-कल्याण करने की प्रसशा की।

गिओर्दानो ब्रूनो (१५४८-१६००) (Giordano Bruno)—ब्रूनो इटली के नीला नगर मे उत्पन्न हुए थे। पहले वे केथोलिक पादरी बने, किन्तु बाद में अपने विचारों के कारण केथोलिक मत से असंतुष्ट होकर उन्होने उसे छोड़ दिया। प्रोटेस्टेंट मत भी उन्हें आकर्षित नहीं कर सका। ईसाई धर्म के दोनों सम्प्रदायों से असंतोष होने के कारण वे दोनों के ही कोपभाजन बनकर फ्रांस, इंग्लैड और जर्मनी में घूमते रहे। इटली लौटने पर धर्मान्ध पादरियों ने उन्हें रोम में सात वर्ष तक बन्दी रक्खा

१. अद्वैत वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद।

और तब भी अपने विचारों पर दृढ़ रहने के कारण १७ फरवरी सन् १६०० के दिन उसको जीवित जला दिया।

ब्रूनो एक महान् दार्शनिक और भावुक कवि थे। पाइथेगोरस, प्लेटो, प्लोटाइनस, निकोलस और कॉपरनिकस के सिद्धान्तों का उन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक वे निकोलस के ऋणी है। निकोलस के विशिष्टाद्वैत और अद्वैत विचारधारा धाराओं को उन्होंने और अधिक स्पष्ट करके पुष्ट किया। उनकी अद्वैत विचारधारा स्पिनोजा में और विशिष्टाद्वैत विचारधारा लाईवनिटज में विकसित हुई।

ब्रूनो के अनुसार यह सम्पूर्ण चिदचिद्रूप्र विश्व ईश्वर का ही स्वरूप है। स्वयं ईश्वर ही जड़-चेतनमय विश्व के रूप में भासित होते हैं। ईश्वर और विश्व एक ही हैं। इनका अर्थ यह है कि विश्व की ईश्वर से भिन्न अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। विश्व ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर भी विश्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विश्व ईश्वर को सीमित नही कर सकता। ईश्बर विश्व में अन्तर्यामी (Immanent) रहते हुए विश्व के पार (Transcendent) भी हैं। वे अन्तर्यामी और पर दोनों हैं। विश्व उनका शरीर हैं। विश्व की आत्मा हैं। और वे विश्व के परगामी अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य भी है। अनिर्वचनीय और अचिन्त्य ईश्वर का साक्षात्कार निर्विकल्प अनुभूति द्वारा हो सकता है, मानवी सविकल्प बुद्धि द्वारा नहीं। बुद्धि अद्वैत का साक्षात् नही कर सकती। उसके लिये सर्वोच्च तत्व विशिष्टाद्वैत ही है। एक ही तत्व, भेद की दृष्टि से विश्व प्रतीत होता है, और अभेद की दृष्टि से ईश्वर। वस्तुतः बुद्धि भेद और अभेद को अलग-अलग नहीं कर सकती। भेद गौण है। वह अभेद का विशेषण मात्र है। बिना अभेद के आधार के वह टिक नहीं सकता। अभेदमुख्य है, किन्तु वह भेदको अनुप्राणित करता रहता रहता है और उसी में अभिव्यक्त होता है,। अत: तत्वभेद वशिष्ट अभेद या द्वैतविशिष्ट अद्वैत है, जिसे संक्षेप में विशिष्टाद्वैत कहते हैं। विश्व ईश्वर का 'स्वभाव' है स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, क्योंकि विश्व ईश्वर में से अपने आप निकल पड़ा किन्तु इसका यह अर्थ नहीं विश्व निकल कर ईश्वर के बाहर आ गया है; निकलने पर भी वह ईश्वर के अन्दर ही स्थित है, क्योंकि जो कुछ है ईश्वर ही ईश्वर के बाहर कुछ नहीं है। विश्व और ईश्वर में अचिन्त्य तादात्म्य है। ईश्वर ही विश्व है, ईश्वर ही विश्वात्मा हैं और ईश्वर ही परात्पर है। ब्रूनो ने इस चिदचिद्रूप संसार को जो ईश्वर का शरीर है, 'विराट' या 'विश्व' (Natura Naturata) का नाम दिया है। 'विराट' की अन्तर्यामी आत्मा को इस शरीर के शरीरी को; उन्होंने 'विश्वात्मा' (Natura Naturans) कहा है। शरीर और आत्मा के सगुण रूप में प्रतीत होने वाले इस निर्गुण तत्व को उन्होंने 'अचिन्त्य परात्पर तत्व' (Ens Absoultum Indeterminatum) कहकर पुकारा है। आगे चलकर स्पिोजा ने इन तीनों नामों

का इसी अर्थ में प्रयोग है और इस सिद्धान्त को अपनाया है। ब्रूनों के अनुसार विश्व, विश्वात्मा और पर ये तीनों अनन्त हैं; क्योंकि एक ही तत्व के विभिन्न रूप हैं। वस्तुतः अनन्त तो केवल 'पर' ही है। इसको उन्होंने 'पूर्ण अनन्त' (Absoluto Infinito) कहा है क्योंकि यह निर्गुण और अचिन्त्य है 'विश्वात्मा' को उन्होंने 'अनवच्छिन्न और व्यापक अनन्त' (Totalmente Infinito) कहा है, क्योंकि यह अन्तर्यामी ईश्वर का स्वरूप है। अन्तर्यामी होने के कारण ईश्वर विश्व के अंगप्रत्यंग में व्याप्त हैं। अतः वे व्यापक रूप से अनन्त हैं। उनकी कोई सीमा नहीं हैं, अतः वे असीमित या अनवच्छिन्न होने के कारण भी अनन्त हैं। 'विश्व' को ब्रूनो ने केवल 'अनवच्छिन्न अनन्त' (Tutto Infinito) कहा है, क्योंकि ईश्वर का शरीर होने के कारण यह विश्व भी असीमित या अनवच्छिन्न है। किन्तु विश्व अपने अंग-प्रत्यंगों का समूह मात्र है, वह उनमें व्याप्त नहीं है। अतः उसे व्यापक अनन्त नहीं कहा जा सकता। आत्मा ही शरीर के अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त हो सकती है, शरीर स्वयं अपने अपने अंगों में व्याप्त नहीं हो सकता। 'विश्व' और 'अन्तर्यामी विश्वात्मा' का यह भेद शरीर और आत्मा का भेद है। इन सब विचारों का स्पिनोजा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जैसे स्पिनोजा को 'ईश्वरप्रेमोन्त' (God-intoxicated) कहा जाता है, वैसे ही ब्रूनों को 'ईश्वर-प्रेमी (God-loving)।

अब ब्रूनो के उन विचारों पर भी दृष्टिपात कर लें जिनको आगे चलकर लाइब नित्ज ने अपनाया। ब्रूनो के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है और ईश्वर का स्वरूप चैतन्य है। अतः चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं हैं। चैतन्य और तत्व; बोध और सत्ता एक ही हैं। अतः जड़ और चेतन का अचित् और चित् का विभाग काल्पनिक है। जिसको हम जड़ समझते हैं, वास्तव में वह भी चेतन ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जड में चैतन्य सुप्तावस्था में है और चेतन में जाग्रत अवस्था में। जड़ में चैतन्य गुप्त है और चेतन में प्रकट। सृष्टि का अर्थ है चैतन्य का क्रमिक विकास। यह चैतन्य जड़ में अन्न (Matter) रूप में, वनस्पति, पशुओं और मनुष्यों में प्राण (Life) रूप में, पशुओं और मनुष्यों में मन(Mind) रूप में तथा मनुष्यों में बुद्धि या विज्ञान (Reason) रूप में विकसित होता है।[१] चैतन्य रूप ईश्वर से ही सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है और उसी में सृष्टि का तिरोधान होता है।[२] सृष्टि में जो चैतन्य सत्ता व्याप्त है उसको ब्रूनो ने चेतन अणु, चिदणु, या जीवाणु (Monad) का नाम दिया है। ईश्वर को वे 'जीवाणुओं का जीव' (Monad of Monads) कहते हैं। लाईबनितज ने इन नामों को और इन सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपने दार्शनिक सिद्धान्त का विकास किया है। अन्तर यह है कि ब्रूनो के लिए

---

१. पंचकोश, २. जन्माद्यस्य यतः।

ये जीवाणु ईश्वर के आभासमात्र हैं, उनके विवर्त हैं, और लाइबनित्ज को इन जीवाणुओं की स्वतन्त्र सत्ता मान्य है।

यह ब्रूनो के दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा है। ब्रूनो का आत्म-बलिदान दर्शन-साहित्य मे अमर रहेगा। पाश्चात्य दर्शन में मध्ययुगीन धार्मिक शृंखलाओं को सर्वप्रथम ब्रूनों ने ही तोड़कर फेक दिया है। ब्रूनों के पहले मध्युगीन पाश्चात्य-दर्शन ईसाई धर्म का दास बनकर रह रहा था। दर्शन को धर्म की इस हजार बर्ष की दासता से मुक्त करके उसको स्वतन्त्र बनाने का श्रेय ब्रूनो को है।

टोमस केम्पानेला (१५६८-१६३९)—केम्पानेला (Tommaso Campanella) पर प्लेटो और सन्त आगस्टाइन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा हैं प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक 'दार्शनिक प्रजातन्त्र' ('Republic') के आधार पर केम्पानेला ने अपनी पुस्तक 'सूर्यनगर' (City of the sun) की रचना की। केम्पानेला को, अपने दार्शनिक विचारों के कारण और स्पेन के राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के झूठे अभियोग के कारण, जीवन के २७ बहुमूल्य वर्ष कारावास में व्यतीत करने पड़े। केम्पानेला ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के पिता कहे जानेवाले फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त के जीव और ईश्वर सम्बन्धी विचारों को अभिव्यक्त कर दिया था। ये विचार केम्पानेला के मौलिक विचार नहीं थे; इनके बीज सन्त आगस्टाइन के दर्शन में विद्यमान थे; जहाँ से केम्पानेला ने उन्हें लिया। अतः केम्पानेला को सन्त आगस्टाइन और देकार्त के बीच की शृंखला मानना उचित है।

केम्पानेला ने धर्म को आगम पर और दर्शन को तर्क पर आश्रित बतलाकर दोनों के अलग-अलग क्षेत्रों को ब्रूनों के समान समर्थन किया। दर्शन का क्षेत्र स्वतन्त्र है और उसका साधन ज्ञान है। इस ज्ञान के, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान और समन्वय—ये तीन उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भेद हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष निकृष्ट और धुंधुला ज्ञान है। इन्द्रियों से हम जिस बाह्य-जगत् का जिस रूप में अनुभव करते हैं, उसे उसी रूप में सत्य नहीं माना जा सकता। इन्द्रियाँ धोखा देने में निपुण हैं। और इसीलिए इन्द्रियानुभूति के आधार पर किया गया तर्क भी सत्य को पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं कर सकता। यदि किसी भी ज्ञान को पूर्णतः सत्य कहा जा सकता है तो वह है आत्म-ज्ञान आत्मा का कभी निराकरण नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को "मैं हूं" इस प्रकार का आबाधिय और निश्चयात्मक ज्ञान सदा होता है। आत्मा के आस्तित्व के विषय में सन्देह को तनिक भी स्थान नहीं। विधि और निषेध, मण्डन और खण्डन, समर्थन और निराकरण, सिद्ध और अपलाप—ये धर्म आत्मा द्वारा ही किये जाते हैं, अतः ये आत्मा पर लागू नहीं। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता; क्योंकि जो निराकरण करता है वह स्वयं ही आत्म स्वरूप है।[1] सन्देह और निराकरण में भी

१. य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्—शंकराचार्य।

संदेह-कर्ता और निराकर्ता आत्मा की सत्ता स्पष्ट सिद्ध है। अतः आत्मा स्वतः सिद्ध तत्व है। दर्शन और ज्ञान में द्रष्टा और ज्ञाता की सत्ता सदा सिद्ध है। सन्त आगस्टाइन ने इस विचार को इस सूत्र में प्रकट किया था—"यदि मैं अपने अस्तित्व का निराकरण भी करूँ तो भी मेरी (निराकर्त्ता की) सत्ता अनिवार्य है" (Si Fallor Sum) और आगे चलकर देकार्त ने इसी के लिए यह सूत्र बनाया—'मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Cogito Ergo Sum)।

किन्तु केम्पानेला ने इस विशुद्ध द्रष्टा या ज्ञाता की विशुद्धता भूलकर इसे केवल व्यावहारिक जीवात्मा मानकर सन्तोष कर लिया। देकार्त ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया। केम्पानेला के अनुसार यह स्वतः सिद्ध ज्ञाता जीवात्मा है जो चेतन है, सीमित है, परिच्छिन्न है और स्वतस्वेदन का विषय है। इस परिच्छिन्न जीव को अन्य परिच्छिन्न जीवों का, जड़ जगत् का और अपरिच्छिन्न ईश्वर का ज्ञान होता है। इस प्रकार चित्, अचित् और ईश्वर रूपी तत्वत्रय की सिद्धि होती है।[1] परिच्छिन्न जीव को अपरिच्छिन्न ईश्वर का ज्ञान होता है। किन्तु परिच्छिन्न को अपरिच्छिन्न का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वय अपरिच्छिन्न तत्व अपने ज्ञान को परिच्छिन्न जीव में उत्पन्न न करे। अतः अपरिच्छिन्न के ज्ञान से ही अपरिच्छिन्न की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। अनन्त ईश्वर के ज्ञान मात्र से ही उनका अस्तित्व सिद्ध है। क्योंकि, यदि ईश्वर न होते तो हमें 'ईश्वर है'—ऐसा ज्ञान भी नहीं हो सकता था। सन्त एन्सेल्म और केम्पानेला के इस विचार की पुष्टि आगे चलकर देकार्त ने की।

केम्पानेला के अनुसार ईश्वर स्रष्टा और नियन्ता है। सृष्टि सत् और असत् के, सत्य और अनृत के मिथुन से उत्पन्न होती है।[2] ईश्वर से हम ज्यों ज्यों सृष्टि की ओर उतरते जाते हैं, आनन्द से ज्यों-ज्यों विज्ञान, मन, प्राण और अन्न की ओर उतरते जाते है, त्यों-त्यों सत् का तिरोभाव और असत् का आविर्भाव बढ़ता जाता है। सृष्टि से ईश्वर की ओर चढ़ने पर क्रमशः सत् का आविर्भाव बढ़ता है और असत् का तिरोभाव होने लगता है। मानव का चरम लक्ष्य ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द की अनुभूति ही है।

फ्रांसिस बेकन (१५६१—१६२६)—शेक्सपीयर के समसामयिक फान्सिस बेकन (Francis Bacon) इंग्लैण्ड में आधुनिक युग के प्रथम महत्वपूर्ण दार्शनिक हैं। उनके पिता सर निकोलस बेकन सम्राज्ञी एलिजाबेथ प्रथम के 'लार्ड कीपर ऑव द सील' थे माता लेडी एन ग्रीक और लैटिन साहित्य की विदुषी थी, चाचा सर विलियम सिसिल प्रधान मत्री थे अर्ल आव एसेक्स उनके मित्र थे। इतने सम्पन्न, शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न होने पर भी बेकन को जीवन में आर्थिक चिन्तायें बहुत

१. रामानुज दर्शन।

२. सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्ततेऽयं लोकव्यवहारः —शंकराचार्य।

सताती रही; क्योंकि उनके पिता अपने इस छठे पुत्र के लिए विशेष सम्पत्ति न छोड़ सके। लेकिन वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक थे। शिक्षा के बाद सर पर चढ़े कर्ज को उतारने के लिए उन्होंने वकालत शुरू की। बेकन को पिता ने राजनीतिक क्षेत्र में उच्चपदप्राप्ति की महत्वाकांक्षा और माता से ज्ञान का उत्कट प्रेम उत्तराधिकार में मिले थे और बेकन ने यथाशक्ति दोनों का ही निर्वाह किया। अर्ल एसेक्स की कृपा से बेकन को समय-समय पर आर्थिक सहायता मिलती रही जिसके कारण वे कर्जदारों की खींचातानी से मुक्ति पाते रहे। अपनी विद्वता और योग्यता एवं अपने सम्बन्धियों यथा मित्रों की कृपा से वे पार्लियामेंट के सदस्य, एटर्नी जनरल, लार्ड कीपर आँव द सील लार्ड चांसलर, बेरन और वाइकाउन्ट के पदों तक पहुँचे। किन्तु बेकन का चरित्र ऊँचा नहीं था। नैतिक बल की उनमे कमी थी। धन के वे दास थे। स्वार्थ-पूर्ति उनका एकमात्र उद्देश्य था। पदलोलुपता उनकी विशेषता थी। जब साम्राज्ञी एलिजाबेथ अपने परम कृपापात्र अर्ल आँव एसेक्स से रुष्ट हो गई तो उन्होने बेकनको अर्ल एसेक्स के विरुद्ध लगाये गये राजद्रोह के अभियोग का समर्थन करने का आदेश दिया और बेकन स्वार्थसिद्धि के लिए अपने परम कृपालु दानी मित्र और हितैषी अर्ल एसेक्स के विरुद्ध राजद्रोह और षडयन्त्र के अभियोग का पूर्ण समर्थन किया। उन्होने धन के लिए एक सम्पन्न महिला से विवाह किया। लार्ड चांसलर के पद पर वे खूब घूस लेते रहे। उन पर मुकदमा चला और अपराध स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि उन 'भेटों' से उनके न्याय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हें भारी जुर्माना और कैद की सजा हुई, किन्तु सम्राट् जेम्स प्रथम ने जुर्माना माफ कर दिया और कैद सिर्फ चार ही दिन के लिए हुई। तत्पश्चात् बेकन राजनीतिक क्षेत्र से निबृत होकर एकान्त में अपने वैज्ञानिक प्रयोग करने लगे। एक बार शीत पर प्रयोग करते समय एक मुर्गी को मारकर उसमें बर्फ भरने के लिए बर्फ लेने आप बाहर पधारें, वहीं आपको सर्दी लगकर न्यूमोनिया हो गया और आप अपने प्रयोग की सफलता की प्रसन्नता साथ लेकर इस संसार को छोड़कर चल बसे।

फ्रान्सिस बेकन महान्, विद्वान्, उत्कृष्ट साहित्यिक, कुशल राजनीतिज्ञ, अत्यन्त चतुर धीर, सहिष्णु और इन्द्रियानुभववादी तथा प्रयोग विज्ञान प्रेमी दार्शनिक थे। उनका 'निबन्ध-संग्रह' (Essays) अंगरेजी साहित्य की निधि है। 'ज्ञान का विकास' (Advancement of Learning) और 'नूतन तर्कपद्धति' (Novum Organnm) उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तकें हैं। कुछ विद्वान् तो बेकन को आधुनिक युग का जनक मानने लगे थे, किन्तु भारी बहुमत से यह श्रेय देकार्त को ही मिलता है। बेकन को इन्द्रियानुभव और प्रयोग-विज्ञान की दुन्दुभि बजानेवाला माना जाना है। तर्क की आगमन-प्रणाली का शंखनाद उन्होंने किया। वे अपने शिक्षाकाल में ही एरिस्टाँटल की निगमन-प्रणाली के शत्रु बन गये और उन्होंने दर्शन को एरिस्टाँटल के कुप्रभाव

से बचाने का संकल्प कर लिया था। निगमन तर्क केवल शब्दजाल है जिसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। विज्ञान के युग मे तर्कपद्धति सर्वथा व्यर्थ और अनुपयुक्त है। आधुनिक युग की सभी विशेषतायें—धर्मप्रभुत्व के प्रति विद्रोह, दर्शन को धर्म की दासता से मुक्त करना, व्यक्तिवाद, विचार-स्वातन्त्र्य, भौतिक विज्ञान का प्रभाव, प्रयोगों का महत्व और आगमनात्मक प्रणाली आदि, बेकन मे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हैं।

बेकन के अनुसार दर्शन से लोगो ने जो आशा लगाई थी वह पूरी नहीं हुई; क्योंकि अब तक का दर्शन असहिष्णुता, अन्धविश्वास, पारस्परिक विवाद और शब्दजाल में ही फँसा रहा। सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि दर्शन और धर्म के क्षेत्र स्वतन्त्र और भिन्न है। दर्शन का आधार है इन्द्रिय-विज्ञान और आगमात्मक तर्क; धर्म का आधार है अतीन्द्रिय विज्ञाद और श्रद्धा। दर्शन का लक्ष्य है मानव-समाज का कल्याण। इसका साधन है भौमिक विज्ञान के आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर विजय। इसकी पद्धति है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और आगमनात्मक तर्क की। दर्शन व्यावहारिक है। यह जावन के लिए है—सामाजिक जीवन की उन्नति और विकास के लिए। दर्शन धर्म का वाहन बनकर नही रह सकता। दर्शन ज्ञान है और ज्ञान शक्ति। इस शक्ति से प्रकृति पर विजय प्राप्त करके वैज्ञानिक आविष्कारो द्वारा जीवन को सुखी बनाया जाता है। प्रकृति पर विजय प्रकृति की आज्ञा मे चलने से होती है। प्रकृति की प्रत्येक घटना मे कोई न कोई नियम अन्तर्निहित होता है। घटनाओ का इन्द्रियों और यन्त्रादि की सहायता से पर्यवेक्षण करना और आगमन-प्रणाली द्वारा मूल नियम को जानना तथा उसके आधार पर वैज्ञानिक आविषकारों द्वारा मानव-जीवन को सुखी बनाना दर्शन का कार्य है। यही सत्य की खोज है और यही उसका उपयोग है। जो दर्शन इन्द्रियानुभव और आगमनात्मक तर्क पर प्रतिष्ठित नही है, उसे 'दर्शन' ही नही कहा जा सकता। अब तक दर्शन इन्द्रियानुभव को धुँधला और भ्रामक-ज्ञान मानता था और अतीन्द्रिय परमार्थ को पूर्ण ज्ञान। किन्तु बेकन ने अतीन्द्रिय परमार्थ को असत्य और काल्पनिक 'कहकर ठुकरा दिया और इन्द्रियानुभव में ही सत्य की प्रतिष्ठा स्वीकार की। जो इन्द्रियानुभूत नही वह यथार्थ नही। जो इन्द्रिगोचर नही, वह सत्य नहीं। जो प्रत्यक्ष नही, वह तत्व नही। अब तक दर्शन धर्म का दास था, बेकन ने उसे भौतिक विज्ञान का दास बना दिया। अब तक दर्शन परमार्थ से बँधा था; बेकन ने परमार्थ को ठुकरा कर दर्शन को व्यवहार की शृंखला मे जकड़ दिया। अब तक दर्शन का लक्ष्य था ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द का अनुभव; बेकन ने दर्शन का लक्ष्य बनाया इन्द्रियों ज्ञान और आनन्द का अनुभव; अब तक लोककल्याण का अर्थ था आध्यात्मिक जीवन और साधन था त्याग; बेकन के अनुसार लोककल्याण का अर्थ हुआ आधि-भौतिक जीवन और साधन हुआ वैज्ञानिक आविष्कारों का विकास।

बेकन के अनुसार दर्शन का लक्ष्य है प्रत्यक्ष और आगमन के द्वारा प्रकृति का

पर्यवेक्षण करके मूल नियमों की खोज। किन्तु या तो हम प्रकृति का निरीक्षण करते ही नहीं, और यदि करते भी हैं तो ठीक तरह नहीं। ज्ञान की खोज में हम अपने साथ अंधविश्वास, पक्षपात और इच्छायें भी ले चलते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रकृति के गुणों का निरीक्षण करते समय हम अपने विश्वास उन पर लाद देते हैं। अतः दार्शनिक का प्रथम कर्तव्य है अन्धविश्वास से मुक्ति। बेकन ने ये अन्धविश्वास (Idola) अपनी आलंकारिक भाषा में चार प्रकार के बताये हैं। 'प्रथम है 'जातीय अन्धविश्वास' (Idola Tribus) जो मानव मात्र में सहज संस्कारों के रूप में विद्यमान रहते हैं। इनके कारण वस्तुस्थिति पर पक्षपात का पर्दा पड़ जाता है। सत्य की खोज से पहले ही सत्य के स्वरूप का निश्चय कर लेते है और सत्य को न देखकर उसे ही देखते हैं जिसे हम सत्य के रूप में देखना चाहते है। उदाहरणार्थ हम प्रकृति के प्रत्येक कार्य में किसी-न-किसी उद्देश्य की झलक देखना चाहते है; हम प्रकृति को मानवस्वरूप दे देते हैं; हम अपने विचार और भावनाएँ प्रकृति पर लाद देते हैं; जो हमें अच्छा लगता है उसी को देखना चाहते हैं और अन्य की ओर आँख मूँद लेते हैं, बिना आगमन तर्क का सहारा लिये केवल इन्द्रियानुभव को ही सच मान लेते हैं, जैसे पृथ्वी को चपटी और स्थिर समझने लगते हैं, आदि। द्वितीय हैं 'गुहा (अर्थात् व्यक्तिगत) अन्धविश्वास' (Idola Specus) जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता है। जातीय अन्धविश्वास मनुष्यजाति मात्र में सामान्यतया विद्यमान होते हैं किंतु गुहा के अन्धविश्वास प्रत्येक व्यक्ति के अपने होते हैं प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये एक संकुचित क्षेत्र का निर्माण कर लेता है, अपनी एक सीमा बना लेता है। अपनी इस काल्पनिक गुफा या कन्दरा में ही रहना चाहता है जिसमें प्रकृति का प्रकाश पूर्णरूप से नहीं पहुँच पाता। इन व्यक्तिगत पक्षपातों, सनकों, अन्धविश्वासों को, जो संस्कार, शिक्षा और वातावरण के कारण पनपते है, बेकन ने 'गुहा के अन्धविश्वासों' का नाम दिया है। प्लेटो को 'प्रजातन्त्र (Republic) में दर्शित 'गुहा की कथा (Parable of the Cave) को दृष्टि में रखकर ही बेकन ने यह नामकरण किया है। तृतीय हैं 'बजारू (अर्थात् भाषा के) अन्धविश्वास' (Idola Fori)। ये भाषा के, शब्दों और उनके अर्थों के अन्धविश्वास हैं। ये भयंकर दार्शनिक मतमतान्तरों के पारस्परिक कलह के मूल में प्रायः ये ही अन्धविश्वास होते है। एक मत कुछ शब्दों को किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता है, किन्तु विरोधी मत उस विशेष अर्थ को न जानकर या न मानकर उन शब्दों को उनके प्रचलित अर्थ में या अन्य किसी अर्थ में समझता है और दोनों में व्यर्थ का सघर्ष होने लगता है। शब्दार्थ की परम्परा भाषा में रूढ़ हो जाती है। शब्दों के प्रचलित अर्थ होते हैं और उनसे लोक-व्यवहार चलता है। यह शब्दों और अर्थों के लेन-देन की बाजारू अर्थात् व्यावहारिक परम्परा है। विज्ञान या दर्शन बहुधा शब्दों की इस बाजारू परम्परा से असन्तुष्ट होकर उन शब्दों का प्रयोग अपने

विशिष्ट या पारिभाषिक अर्थ में करता है। अतः विज्ञान या दर्शन के किसी मत को समझने के लिये उसमें प्रयुक्त शब्दों के पारिभाषिक अर्थो को जान लेना आवश्यक है। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए मानव के पास भाषा ही एकमात्र साधन है और भाषा के शब्द प्रायः अनुभूत सत्य की ठीक-ठीक अभिव्यक्ती नहीं कर पाते। बहुत से शब्दों का तो 'यथार्थ' से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहुत से शब्द अर्थ को अपूर्ण या भ्रान्त ढंग से व्यक्त करते हैं। बहुत से शब्दों का व्यर्थ ही प्रयोग किया जाता है। बहुत से शब्दों के अनेक अर्थ निकलते हैं। ये सब भाषा के अन्धविश्वास हैं। चतुर्थ है नाटक के (अर्थात् आगमों के) अन्धविश्वास" (Idola Theatri) ये आगमन के, शास्त्र के धर्म और दर्शन के, सम्प्रदायों के, शब्द प्रणाम के अन्धविश्वास है। इनके कारण हम बहुत-बातों को बिना प्रकृति-निरीक्षण किये, बिना आगमन तर्क की कसौटी पर कसे, केवल इसीलिये सत्य मान लेते हैं कि अमुक आगमों में, अमुक शास्त्रों में या अमुक सम्प्रदायों में उनकी मान्यता है। बेकन इनको 'नाटक के अन्धविश्वास' कहते हैं क्योंकि यह सब नाटक है, यथार्थ नहीं। जैसे नाटक का संसार कल्पित होता है, यथार्थ नहीं, नाटक में कल्पित पात्र रंगमंच पर अपने स्वाभाविक रूप में न आकर नाटक के चरित्रों के रूप में आकर उनकी भूमिका का चित्रण करते हैं, वैसे ही आगमों और सम्प्रदायों में वर्णित बहुत से तत्व कल्पनामात्र-यथार्थ से बहुत दूर। इन कोरी कल्पनाओं को अपने इन्द्रियानुभव और तर्क को ताक में रखकर, केवल आगमों के आधार पर ही सत्य मान लेना अन्ध विश्वास है। दर्शन को इन चारों प्रकाश के अन्धविश्वासों से बचना चाहिए।

दर्शन के लिए केवल इन्द्रियानुभव या प्रत्यक्ष ही पर्याप्त नहीं है, आगमनात्मक तर्क भी अत्यावश्यक है। पहले, प्रकृति की घटनाओं का इन्द्रियों से निरीक्षण करना चाहिए। इन्द्रियाँ सदा ही और प्रत्येक वस्तु ठीक रूप में नहीं देखती। इनसे धोखा भी हो जाता है। अतः इस धोखे से बचना चाहिए। इन्द्रियों को सबल बनाने के लिए यन्त्रादि की सहायता लेनी चाहिए। यह हुआ इन्द्रियानुभव द्वारा घटनाओं को और तथ्यों का संग्रह जिसमें भावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार के तथ्य और घटनायें आ जाती हैं। तत्पश्चात् इन तथ्यों और घटनाओं का विश्लेषण करना चाहिए। इस विश्लेषण में उनकी परस्पर तुलना और विरोध का प्रदर्शन होना चाहिए। इसके द्वारा सामान्य नियम या हेतु की खोज करनी चाहिए। हेतु निर्भर होता है व्याप्ति पर अतः धैर्य पूर्वक सावधानी के साथ अन्वय और व्यतिरेक द्वारा हेत्वाभासों का निराकरण करते हुए व्याप्ति का ज्ञान करना चाहिये। यह आगमन तर्क की पद्धति है। एरिस्टाटल का निगमन तर्क व्यर्थ का शब्द-जाल है। सत्य की अभिव्यक्ति आगमन तर्क से हो जाती है। इसके लिए प्रयोग पद्धति को अपनाना चाहिये। आगमन तर्क व्याप्ति पर निर्भर है। यह केवल गणनात्मक आगमन नहीं है। केवल तथ्यों और घटनाओं को

गिनने से ही काम नहीं चलता। उनमें आधारभूत व्याप्ति को खोजना आवश्यक है। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष द्वारा केवल तथ्यों और घटनाओं का संग्रह मात्र करते हैं वे चोटियों के समान हैं जो केवल सामान इकट्ठा करती हैं। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष का महत्व भूलकर तथ्यों और घटनाओं को ठुकरा देते हैं और कोरी कल्पनाओं के ही जाल बुनते रहते हैं वे बुद्धिवादी मकडी के समान है जो अपने ही अन्दर तन्तु निकालकर जाला बुनती रहती हैं। दार्शनिक को मधुमक्खियों के समान होना चाहिए। जैसे मधुमक्खियाँ विविध फूलों से रस एकत्रित करती है और फिर रस को मधु मे परिणत करती हैं, वैसे ही दार्शनिक को प्रत्यक्ष के द्वारा तथ्यों और घटनाओं का संग्रह करना चाहिए और फिर उनके विश्लेषण द्वारा उनमे अन्तर्निहित और उनके आधारभूत मौलिक नियम को उपस्थित करना चाहिए। दार्शनिक मे प्रत्यक्षवाद और बुद्धिवाद समन्वय होना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि बेकन का यह महत्वपूर्ण आलंकारिक कथन कान्ट के प्रसिद्ध सिद्धान्त का पूर्वरूप है। कान्ट के प्रत्यक्षवाद और बुद्धिवाद के लम्बे सघर्ष को मिटाकर उन दोनों में सन्धि करवा दी है। कान्ट से अनुसार ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष और बुद्धि दोनों आवश्यक है। प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादन और बुद्धि ज्ञान का निमित्त है। प्रत्यक्ष ज्ञान के इद्रिय-संवेदन ज्ञान के अवयव हैं और बुद्धि के विकल्प ज्ञान को रूप दते हैं। दोनों अपृथक सिद्ध है—इनको अलग-अलग नही किया जा सकता।

बेकन ने मानव की तीन शक्तियाँ मानी है—स्मृति, कल्पना और ज्ञान। स्मृति से इतिहास की कल्पना से काव्य की और ज्ञान से दर्शन की सृष्टि होती है। ज्ञान ही असली शक्ति है। इसीलिए दर्शन का महत्व है।

बेकन ने प्रतिज्ञायें और संकल्प तो बड़े-बड़े किये हैं, वे स्वयं उनको पूर्ण नहीं कर सके। उनका दृष्टिकोण विशाल नहीं था। वे स्वयं वैज्ञानिक होते हुए भी दर्शन को विज्ञान का दास बनाने के लिए उत्सुक थे। कॉपरनिकस जैसे वैज्ञानिकों के खोजों की बेकन उपेक्षा करते रहे। केपलर और गोलिलियो जैसे विद्वान् वैज्ञानिकों की भी बेकन ने उपेक्षा की। एरिस्टाल के निगमन तर्क के प्रति बेकन ने जो विष-वमन किया है, उससे यह सिद्ध होता है कि निगमन तर्क का बेकन को पूर्ण ज्ञान नहीं था। वस्तुत: निगमन और आगमन एक ही तर्क के दो रूप हैं। इनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता। बेकन की 'व्याप्ति' में निगमन स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। बेकन की प्रसिद्धि दर्शन-क्षेत्र में केवल उनकी आगमन पद्धति के कारण है। किन्तु यह पद्धति एकांगी है और बिना निगमनात्मक समन्वय के अधूरी और भ्रामक है। और फिर इस पद्धति के आविष्कार का सारा श्रेय भी बेकन को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि बेकन के देश में ही, उन्हीं के समसामयिक वैज्ञानिक विलियम गिलबर्ट, बेकन की रचना के प्रकाशन से पूर्व ही अपने अन्वेषणों में आगमन प्रणाली का प्रयोग कर रहे थे। बेकन

का महत्व इतना ही है कि उन्होने अपने समय मे दर्शन-क्षेत्र में विज्ञान, प्रयोग, और आगमन तर्कपद्धिति का प्रबल समर्थन किया।

टॉमस हॉब्स (१५८८–१६७९)—हॉब्स (Thomas Hobbes) ऑक्स-फोर्ड के स्नातक थे। अर्ल केवेन्डिश के शिक्षक के रूप के उनके निजी पुस्तकालय मे उन्हे पढने की बडी सुविधा मिली। यूनानी साहित्य और दर्शन, गणित और विज्ञान, राजनीति और नीतिशास्त्र का उन्होने अच्छा अध्ययन किया। राजनीतिक दर्शन पर उनका ग्रन्थ 'लेवियाथन' काफी प्रसिद्ध है। हॉब्स स्वतन्त्र विचारों के, किन्तु भीरू प्रकृति के पुरुष थे।

बेकन के समान हॉब्स भी दर्शन को धर्म से पृथक् मानकर चलते है। धर्म श्रद्धा पर निर्भर है; दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान पर। सत्य इन्द्रियानुभव पर आधारित है। जो इन्द्रियगोचर नही, वह काल्पनिक है। किन्तु बेकन ने जहाँ केवल आगमन प्रणाली को ही मान्यता दी, हॉब्स ने आगमन और निगमन दोनों को मान्य ठहराया है। दूसरे, हॉब्स के अनुसार ज्ञान भी जड है वह मस्तिष्क या स्नायुजाल की क्रियामात्र है। तीसरे, हॉब्स के अनुसार दर्शन, राजनीति, आचारशास्त्र, भौतिक विज्ञान मनोविज्ञान आदि सब क्षेत्रो मे यांत्रिकवाद का अखण्ड साम्राज्य है हॉब्स प्रत्यक्षवाद और जडवाद के एक बिशिष्ट प्रतिनिधि है।

हॉब्स के अनुसार दर्शन का अर्थ है अभ्रान्त प्रतीति जो इन्द्रिय-संवेदन पर निर्भर है। अत: जो इन्द्रिगोचर है, वही सत्य है। तर्क का कार्य इन्द्रिय-संवेदनों का विभाजन या समन्वय करना है। दर्शन कार्य से कारण का और कारण से कार्य का ज्ञान कराता है। इसकी पद्धति आगमन और निगमन दोनों प्रकार के तर्क कीं है। इन्द्रिय-संवेदन और उनके जनक बाह्य पदार्थ—ये दो वस्तुएँ ही सत्य है। ये सब पृथक्-पृथक् 'विशेष' है। 'सामान्य' कोरी कल्पना है। 'सामान्य' नाममात्र है। इसका प्रयोग व्यवहार की सुविधा के लिए किया जाता है। व्यक्ति ही सत्य हैं। पृथक्-पृथक् विशेष मनुष्य सत्य हैं। मनुष्य का सामान्य'मनुष्यत्व' केवल नाम है। यह मत हॉब्स का 'नामवाद' (Nominalism) कहलाता है।[1]

हॉब्स के अनुसार ज्ञान इन्द्रियानुभव—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—से उत्पन्न होता है। किन्तु जगत् का जो चित्र हमें प्रत्यक्षज्ञान से मिलता है, वह पूर्ण सत्य नही है, क्योंकि इन्द्रियसंवेदन गतिशील बाह्य पदार्थों के कारण मस्तिष्क में होने वाले परिवर्तन हैं। वास्तव में बाह्य पदार्थों का स्वरूप क्या है, यह हम नही जानते। जड़ ही एकमात्र तत्व है। ईश्वर आत्मा, आदि अमूर्त चेतन पदार्थ कल्पना मात्र हैं। ईश्वर और आत्मा की सिद्धि तर्क द्वारा मूर्त सत्ता के रूप में की जा सकती है, किन्तु वह क्या है ?—यह हम नहीं जान सकते।

---

१. बौद्धों का 'सामान्य' का खण्डन इससे बहुत कुछ मिलता है।

प्रकृति ने मनुष्य को सब वस्तुयें दी हैं। अतः जिसका चाहे उसका उपयोग करना मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है। प्रारम्भ में, मनुष्य मनुष्य के लिए भेड़िया था। मानव जीवन क्षुद्र, पशु-तुल्य और अल्प था। प्रत्येक व्यक्ति अपना ही अधिकार चाहता था। अतएव जीवन युद्धमय था। न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित का कोई प्रश्न नहीं था। राज्य के विकास के साथ जब मनुष्य सभ्य हुआ, तब युद्ध बन्द होकर शांति स्थापित होने लगी। मनुष्य के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा का भार राज्य ने ले लिया और इसके बदले में मनुष्यों ने शासित होकर राज्य की अधीनता स्वीकार की। मनुष्य युद्ध आदि के दुष्परिणामों के भय से, जीवन और सम्पत्ति की अरक्षा के भय से, राज-तन्त्र स्थापित करने को बाध्य हुआ, बुद्धि के विकास के कारण नहीं। यह हॉब्स का "सामाजिक समझौता" नामक सिद्धान्त (Social Contract Theory) है।

स्पष्ट है कि हॉब्स जड़वाद (Materialism), इन्द्रियसवेदनवाद (Sensationism), प्रत्यक्षवाद (Empiricism) और यान्त्रिकवाद (Mechanical Determinism) के पोषक हैं दर्शन के लिए उनकी कोई विशेष देन नहीं है।

●

सप्तम अध्याय

बुद्धिवाद : देकार्त

रेने डेकार्त (१५९६-१६५०)—रेने देकार्त (Rene Descartes) का जन्म फ्रास के तुरेन नगर में हुआ। उनका शरीर निर्बल, किन्तु बुद्धि प्रबल थी। केथोलिक मत जेसुइट पादरियो की शिक्षासंख्या में वे पढ़े थे। पेरिस का विलासी जीवन अप्रिय लगने के कारण, उन्होने सैनिक जीवन अपनाया। वे यूरोप में खूब घूमे थे। फिर वे दार्शनिक जीवन की और आकृष्ट हुए। वे बीस वर्ष तक हालैड़ में रहे। एकान्त प्रिय होने के कारण, लोगों से बचने के लिए, उन्होंने चालीस बार अपना मकान बदला। स्वीडन की रानी ने उनसे दर्शन का अध्ययन करने के लिए उन्हें स्वीडन आमन्त्रित किया। वहीं उनकी मृत्यु हुई।

देकार्त प्रसिद्ध गणितज्ञ, वैज्ञानिक और दार्शनिक थे। गणित और ज्योतिविद्या में उन्होने कुछ महत्वपूर्ण अन्वेषण किये है। दर्शन के आधुनिक युग के तो वे पिता ही कहे जाते हैं। उनके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है—'दार्शनिक पद्धति पर विचार' (Discours de ra Methode), 'प्राथमिक दर्शन की साधना' (Meditationes de Prima Philosophia) और दर्शन के सिद्धान्त' (Principia Philosophia)। आधुनिक युग की सभी विशेषतायें उनमे प्रस्फुट हुई है। उन्होंने दर्शन को एक नई पद्धति दी, जिसके कारण उन्हें आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है। उनके बहुत से सिद्धान्त अमान्य हो चुके हैं, किन्तु उनकी पद्धति आज भी मान्य है। देकार्त का महत्व उनकी पद्धति और उसके मौलिक सिद्धान्तों के कारण है, उनके दार्शनिक मत के कारण नहीं। दर्शन के लिए उन्होंने सुदृढ़ नींव बनाई। उस नींव पर उन्होने जो प्रसाद खड़ा किया, वह तो ढह चुका, किन्तु वह नींव आज भी वैसी ही सुदृढ़ है और विविध दार्शनिक प्रसाद उसी पर बनते-बिगड़ते हैं।

देकार्त गणित के अत्यन्त भक्त थे। उनको गणित-प्रेमी दार्शनिक कहने के बजाय यदि दर्शन-प्रेमी गणितज्ञ कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। गणित में निश्चयात्मकता है—उसके सिद्धान्त निर्विवाद और निःसंदेह सत्य है। दर्शन में विवाद और अराजकता है। इस कारण देकार्त ने बताया कि गणित की नींव सुदृढ़ है और दर्शन की नींव बालू की बनी है। अतः देकार्त ने निश्चय किया कि दर्शन को भी गणित की सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। गणित केवल बुद्धि पर निर्भर है और दर्शन अनुभव पर। किन्तु यदि अनुभव को गणित की सुदृढ़नींव पर खड़ा किया जाय तो दर्शन की भी अचल प्रतिष्ठा हो सकती है।

दर्शन का लक्ष्य है सत्य की खोज। सत्य के दो रूप हैं—स्वतः सिद्ध और प्रमाणजन्य। स्वतः सिद्ध सत्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। यह सत्य प्रमाणों से सिद्ध नही होता ! प्रत्युत स्वयं प्रमाणों की सत्ता इस स्वतः सिद्ध सत्य से सिद्ध होती है। यदि स्वतः सिद्ध सत्य न हो, तो प्रमाणों का अस्तित्व ही न हो। प्रमाणों से हम किसी वस्तु के सत्यत्व की सिद्धि या उसके सत्यत्व का निराकरण करते हैं। प्रमाणों का कार्य है सिद्धि या असिद्धि, मण्डन या खण्डन, विधान या निषेध, स्वीकरण या निराकरण। सिद्ध या असिद्ध रूपी कार्य सविकल्प बुद्धि के आधारभूत मौलिक नियमों के अनुसार किया जाता है। ये मौलिक नियम स्वतः सिद्ध है। इन नियमों के कारण ही प्रमाणों मे प्रमाणत्व आता है। ये प्रमाणों के प्राण है। इन नियमों के द्वारा ही प्रमाण किसी वस्तु को सिद्ध या असिद्ध करते है। यदि नियमों को भी किसी अन्य नियम से सिद्ध करने की आवश्यकता मानी जाय, तो अनवस्था दोष आता है। अतः बुद्धि के आधारभूत इन मौलिक नियमों का स्वतः सिद्ध सत्य मानना पड़ता है। स्वतः सिद्ध सत्य का साधन है निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति। प्रमाणजन्य सत्य का साधन हैं सविकल्प बुद्धि। स्वतःसिद्ध सत्य के आधार पर ही सविकल्प बुद्धि प्रमाण-जन्य सत्य की प्रतिष्ठा करती है। जैसे गणित में कुछ मौलिक नियमों के आधार पर अन्य नियम सिद्ध किये जाते है, वैसे ही स्वतःसिद्ध सत्य के आधार पर बुद्धि अपने सत्य को प्रमाणित करती है। इस प्रकार देकार्त की दर्शन-पद्धति के दो अग है—एक तो निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति, जिसके द्वारा सत्य का स्वरूप अनायास इतने सुस्पष्ट रूप में प्रकाशित हो जाता है कि उनमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं रह पाता और इसीलिए उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती: ठीक वैसे ही जैमे सूर्य को देखने के लिऐ दीपक के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती, और दूसरा सविकल्प तर्क, जो निर्विकल्प अनुभूति की ज्योति से ही जगमगाता है। इस सविकल्प तर्क की मुख्य प्रणाली है निगमन; क्योंकि तर्क का कार्य निर्विकल्प अनुभूति के स्वतः-सिद्ध नियमों के आधार अन्य नियमों को प्रमाणित करना है। इसका यह अर्थ नहीं कि देकार्त आगमन प्रणाली को नहीं मानते या उसका कोई उपयोग नहीं समझते। उनका तात्पर्य यह है कि आगम अपने सत्यत्व के लिए निगमन पर निर्भर है। निःसन्देह आगमन तर्क का आवश्यक अंग है, किन्तु बिना निगमन के आगमन व्यर्थ हैं। निगमन प्रधान है; आगमन उसका सहायक हैं। बहुत से लोगों की यह धारणा कि देकार्त के दर्शन में आगमन का कोई उपयीग नहीं, गलत है। देकार्त ने आगमन के महत्व को खूब समझा है। उन्होंने मन के और बाह्य पदार्थों के विश्लेषणात्मक अध्ययन को आवश्यक समझा। 'प्रकृति की खुली हुई विशाल पुस्तक' के अध्ययन में उनकी पर्याप्त रुचि रही है। स्वसंवेदन उसके दर्शन का केन्द्रीय अनुभव है ; किन्तु उन्होंने यह कहा है—और ठीक कहा है—कि आगमन अपनी सत्यता के लिए निगमन पर निर्भर है। आगमन तथ्यों या घटनाओं की गणना

पर तो निर्भर है नहीं ; वह निर्भर है व्याप्ति पर। और व्याप्ति बिना निगम के बन नहीं सकती। व्याप्ति का अर्थ है-दो वस्तुओं में कार्यकारण भाव की सिद्धि। यह सिद्धि होती है निगमनात्मक तर्क से और इसकी निश्चयात्मकता, सहजता, सार्वभौमता और अबाधिता आती है स्वतःसिद्ध अनुभूति से। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से केवल विशेषों का प्रत्यक्ष होता है, सामान्य की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष में कभी सामन्य की निश्चयात्मकता और सार्वभौमता नही आ सकती। इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है, किन्तु जब तक वह बुद्धि द्वारा पुष्ट न हो, उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रथम तो, बुद्धि द्वारा बिना 'सविकल्प' बने, प्रत्यक्ष 'इन्द्रिय संवेदन' मात्र रहता है, 'ज्ञान' नहीं बनता। दूसरे, प्रत्यक्ष-ज्ञान का अनुमान से बोध भी हो जाता है। पृथ्वी हमको चपटी और स्थिर दिखाई देती है, परन्तु है गोल और सूर्य के चारों ओर घूमती है। इन्द्रियाँ प्रायः धोखा देती है। अतः युक्तियुक्त होने पर ही प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जा सकता है। यह दशा 'आगम-प्रमाण' की है। उसे भी युक्तियुक्त होने पर ही प्रमाण मान सकते हैं। दर्शन का साधन है निगमनात्मक सविकल्प तर्क और इसकी ज्योति आती है स्वतःसिद्ध निर्विकल्प अनुभूति से।

देकार्त की दार्शनिक पद्धति है सन्देह की। किन्तु देकार्त संदेहवादी (Sceptic) नहीं है: वे है कट्टर बुद्धिवादी (Rationalist)। संदेह उनके लिए साधन मात्र है, साध्य नहीं। सत्य निश्चयात्मक है। किन्तु निश्चय पर पहुँचने के लिए संदेह आवश्यक है यदि संशय न हो, तो निश्चय कैसा ? संशय ज्ञान का स्रोत है। दार्शनिक के लिए आवश्यक है कि वह किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के पूर्व हर प्रकार की पूर्व मान्यताओं पूर्व धारणाओं या पक्षपातो से रहित होकर विचार करे। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या आगम से अमुक बात प्रमाणित होती है, अतः वह सत्य है—इस प्रकार का विचार ठीक नहीं यह रूढ़िवाद है, पक्षपात है, अन्धविश्वास है। यह दार्शनिक को शोभा नहीं देता। दर्शन का उद्गम संशय मे है। ग्रीक युग में प्लेटो ने कहा था कि "ज्ञान का उद्गम आश्चर्य है" (Philosophy begins in wonder) मध्ययुग में शास्त्रीय विचारक कहते थे कि "ज्ञान का उद्गम विश्वास है" (Credo ut Intelligam)। आधुनिक युग में देकार्त ने कहा कि "ज्ञान का उद्गम है" (Dubito ut Intelligam)। देकार्त के पहले पाइरो सेक्सटस आदि संदेहवादी हो चुके हैं। किन्तु उन्होंने 'संदेह' का महत्व ठीक न समझा और उसी को भूल से अपना लक्ष्य बना लिया। देकार्त इस परम्परा में नहीं हैं। उनकी परम्परा है सन्त आगस्टाइन और केम्पानेला की। इन दोनों के विचारों का, जैसा हम पहले कह चुके हैं, देकार्त पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मोन्टेन और बेकन ने भी संदेह को अपनाया था, किन्तु वे उसे दार्शनिक पद्धति का रूप नहीं दे सके। देकार्त इस विषय में उनसे आगे हैं। यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि देकार्त की पद्धति संदेह की होने पर भी वे संदेहवादी नहीं है। संदेहवादी

'संशयात्मा' होती है; सशय ही उसका प्राण, उसका लक्ष्य, उसका साध्य होता है। वह निश्चित सत्य को नहीं मानता। देकार्त के अनुसार सत्य स्वतःसिद्ध और निश्चयात्मक हैं। सत्य की सार्वभौमता, सहजता, अबाधिता और निश्चयात्मकता देकार्त को सर्वथा मान्य है। किन्तु इस मत्य की प्राप्ति का साधन है सन्देह। निश्चयात्मक सत्य साध्य है, सन्देह साधन है। सत्य उपेय है, सन्देह उपाय है। सत्य लक्ष्य है, सन्देह लक्षण है। सत्य गन्तव्य स्थल है, सन्देह मार्ग है। जो सन्देह को साधन के रूप में अपनाता है वह बुद्धिवादी सत्य तक पहुँच जाता है, किन्तु जो सन्देहवादी सन्देह को ही साध्य मान लेता है, उसका विनाश निश्चित है। सन्देह अन्धविश्वास और पक्षपात को मिटाने के लिए है, सत्य को मिटाने के लिए नहीं। प्रसिद्ध कथन हैं—'संशयात्मा विनश्यति'। देकार्त का तात्पर्य है—'संशयेन विजानाति संशयात्मा विनश्यति।' अतः सन्देह देकार्त के दर्शन का आदि है, अन्त नहीं। देकार्त के सन्देह का यही अर्थ है कि बिना किसी अन्धविश्वास या पक्षपात या पूर्व-मान्यता के निष्पक्ष विचार किया जाय और जब तक कोई भी वस्तु अपनी सत्ता को इतना सुस्पष्ट प्रकाशित न कर दे कि उसके विषय में सन्देह को कोई स्थान न रहे, तब तक उसे सत्य न माना जाय।

अपनी इस सन्देह-पद्धति से देकार्त ने इस प्रकार विचार करना प्रारम्भ किया :—'अभी तक मैं जिसे सर्वथा सत्य और निश्चयात्मक मानता आया हूँ, वह ज्ञान मुझे या तो इन्द्रियों से साक्षात् मिला है या इन्द्रियों के द्वारा किन्तु मुझे इन्द्रियों ने कई बार धोखा दिया है, और बुद्धिमानी इसी में है कि जो एक बार धोखा दे जाय उसका पूरा विश्वास कभी न किया जाय। कुछ बातों में इन्द्रियाँ भले ही धोखा दे जायँ, किन्तु बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनमें इन्द्रियाँ धोखा नहीं देती। उदाहरणार्थ मैं कैसे सन्देह करूँ कि मैं यहाँ आग के पास, रात के कपड़े पहने और हाथ में यह कागज लिए बैठा हूँ? यह मैं कैसे कहूँ कि ये हाथ और यह शरीर मेरा नहीं है? यह कथन पागलपन होगा। किन्तु स्वप्न मे मैं कई बार ऐसा पागलपन कर देता हूँ जो पागल लोग जाग्रत् में करते है। स्वप्न और जाग्रत् में कोई निश्चित भेद नहीं प्रतीत होता। अस्तु यदि मान लें कि हम सो रहे हैं और हमारी क्रियायें, जैसे आँखें खोलना, सर हिलाना, हाथ फैलाना आदि सब मिथ्या भ्रम हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि स्वप्न में हम जिन पदार्थों को देखते हैं कि वे चित्रो के समान है और ये चित्र पदार्थ और सत्य वस्तुओं के आधार पर ही बनाये जा सकते हैं। अतः जाग्रत के पदार्थों को सत्य और सत् मानना पड़ेगा और गणित के सिद्धान्तों का, जैसे दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं, कैसे मिथ्या माना जा सकेगा?

मेरा यह पुराना विश्वास रहा है कि ईश्वर है, उन्होंने यह सृष्टि बनाई है, उन्होंने मुझे उत्पन्न किया हे। ईश्वर मंगलमय और सत्य-स्वरूप हैं। मैं यह कैसे मानूँ कि उन्होंने यह सृष्टि मुझे धोखा देने के लिए बनाई है? तब क्या मैं यह समझूँ कि यह कार्य शैतान का है? या यह सब मेरी ही कल्पना है?

'अस्तु, यदि इन सब दृश्य पदार्थों को असत् मान लिया जाय, इनको निरा भ्रम कहा जाय, तो भी एक बात में सन्देह का तनिक भी अवकाश नहीं और वह है मेरी सत्ता। ज्यों ही मैं कोई विचार करता हूँ, त्यो ही मेरी सत्ता सामने आती है। मैं कुछ भी कहूँ, सोचूँ, विचारूँ, उन सबमे मेरा अस्तित्व अन्तर्निहित है। इस विषय में मुझे कोई धोखा नहीं हो सकता। अत: भली भाँति सोच लेने के बाद और प्रत्येक बात की सावधानी से परीक्षा कर लेने के बाद, मैं इस परिणाम पर पहुँचने और इस सत्य को मान लेने के लिए बाध्य हूँ कि मैं हूँ, मेरा अस्तित्व है।" मैं ज्ञाता हूँ। ज्ञान मेरा स्वरूप है। यदि मैं अपने अस्तित्व का निराकरण भी करूँ तो निराकरण में भी मेरा अस्तित्व प्रकट होकर सामने आता है; क्यो मै ही तो निराकर्ता हूँ। मेरी सत्ता का अपलाप नही हो सकता। ज्ञाता का ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त अत्यन्त सुस्पष्ट और नि:सन्देह स्वत.सिद्ध है कि 'मैं ज्ञाता हूँ, अत: मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Cogito Ergo Sum)।

इस प्रकार देकार्त आत्मा की स्वत:सिद्धता और स्वप्रकाशता का प्रतिपादन करते है। उनकी सन्देह-पद्धति आत्मा के आगे समाप्त हो जाती है। यहाँ सन्देह को अवकास नही' यह आत्मतत्व स्वत:सिद्ध सत्य है। सन्त आगस्टाइन ने भी यही कहा थ।—"यदि मै अपना निराकरण करूँ; तो भी मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Si Fallor Sum)। केम्पानेल्ल ने भी यही कहा था—"मैं ज्ञाता हूँ अत: मै स्वत.सिद्ध हूँ।" देकार्त ने इसे अत्यन्त सुस्पष्ट कर दिया है। स्वसंवेदन का निषेध नही हो सकता। ज्ञाता के ज्ञान का निराकरण नही हो सकता। द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नही हो सकता। आत्मा की सत्ता सर्वप्रथम, असदिग्ध और स्वत:सिद्ध सत्य है। यह ध्यान देने की बात है कि यह सत्य निगमनात्मक तर्क से उपलब्ध नही होता। यह अनुमान नहीं है। इसको निगमन तर्क कि देन समझना भारी भूल होगी। 'जो ज्ञाता है उसका सत्ता अनिवार्य है' 'मैं ज्ञाता हूँ' 'अत: मेरी सत्ता अनिवार्य है'—इस प्रकार इस सत्य को निगमन तर्क-पद्धति का निष्कर्ष मानना भ्रम है। यह अनुमान नहीं, निर्विकल्प अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (Sum Cogitans) है। यह स्वत:सिद्ध अनुभूति है। इसकी सत्ता से ही प्रमाण कार्य करते हैं। यह स्वयं प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। इस स्वत:सिद्ध सत्य को देकार्त ने अपने दर्शन का आधार बनाया और इसीको सत्य का मापदण्ड बनाया। जो वस्तु आत्मा के समान स्वय:सिद्ध और सन्देहातीत हो, वही सत्य है।

देकार्त का महत्व उनकी सन्देह-पद्धति और स्वत:सिद्ध ज्ञाता के साधन-साध्य-भाव के प्रतिपादन मे है। स्वत:सिद्ध और स्वप्रकाश आत्मतत्व की महिमा देकार्त ने गायी है। यह आत्मतत्व निर्विकल्प अतीन्द्रिय स्वानुभूति है; यह बुद्धि का विषय नहीं।

---

१. नहि द्रष्टुर्दृष्टेविपरिलोपो विद्यते।
य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।

सविकल्प बुद्धि में इसी की ज्योति चमकती है। ये देकार्त के दर्शन के महत्वपूर्ण विचार हैं और अभी तक अमर हैं। इनके ही कारण देकार्त को आधुनिक युग का संस्थापक माना जाता है। जिस आत्मतत्व की महिमा उपनिषदों और वेदान्त ने गायी, उसी का यशोगान देकार्त ने किया। किन्तु इसके आगे देकार्त ने आत्मा को ठीक-ठीक नहीं समझा। वे स्वयं स्वतः सिद्धि और स्वप्रकाशता के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण नहीं जान सके। आत्मा को वे केवल परिमित जीवात्मा के अर्थ में ही समझते रहे। स्वतः सिद्ध आत्मा परमात्मा है। वह अद्वैत-स्वरूप है। वही एकमात्र सत् है। अन्य सब कुछ उसी की सत्ता का आभास है, इन तत्वों तक देकार्त नहीं पहुँच सके वे इसी भ्रान्ति में रहे कि यह परिछिन्न जीव ही शुद्ध आत्मा है। इसीलिए वे कट्टर द्वैतवादी है। यह उनके दर्शन का भारी दोष है।

देकार्त के दर्शन को हम बुद्धिवाद, रूढ़िवाद, ईश्वरवाद, द्वैतवाद और चिदचित्संयोगवाद कह सकते हैं, और ये सभी विचार किसी-न-किसी अंश में दोषपूर्ण हैं। देकार्त बुद्धिवादी हैं, क्योंकि वे ज्ञान का साधन, प्रत्यक्ष या आगमन को न मानकर बुद्धि को मानते हैं और बुद्धि की तत्व-ग्रहण की क्षमता में अटल विश्वास रखते हैं, क्योंकि गणित के ज्ञान को वे आदर्श मानते हैं और क्योंकि वे ज्ञान का उदगम इन्द्रियानुभव में न मानकर सहज बुद्धि में मानते है। इन दोनों अर्थों में वे बुद्धिवादी हैं। वे रूढ़िवादी हैं। क्योंकि चर्च की बहुत-सी परम्परायें उन्हें मान्य हैं। वे ईश्वरवादी हैं, क्योंकि वे ईश्वर में विश्वास करते है तथा ईश्वर को जगत का निमित्तकारण मानते हैं, वे द्वैतवादी है, क्योंकि वे चित् अचित रूप में दो परस्पर-स्वतन्त्र, किन्तु ईश्वर-परतन्त्र तत्वों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। वे चिदचित संयोगवादी हैं, क्योंकि उनके अनुसार इन दोनों तत्वों का एक दूसरे से संयोग होता है और एक की क्रिया के कारण दूसरे में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है।

देकार्त ने पदार्थ के तीन विभाजन किये हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। द्रव्य (Substance) वह है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए अन्य की अपेक्षा न हो। द्रव्य के अपृथक्सिद्ध (Inseperable) और स्वरूप (Essential) धर्मों को गुण (Attributes) कहते हैं। अन्य आगन्तुक (Accidental) धर्म पर्याय कहलाते हैं।[1]

द्रव्य तत्व है; क्योंकि उसकी वास्तविक और स्वतन्त्र सत्ता है। देकार्त ने तीन तत्व माने हैं—ईश्वर, चित् और अचित् और उनके दर्शन में इस तत्वत्रय का ही प्रमुख विचार किया गया है।[2] सबसे पहले, सन्देश पद्धति द्वारा, चित की सत्ता स्वतः सिद्ध रूप में उपस्थित होती है। इसका विचार ऊपर किया जा चुका है। चैतन्यरूप

१. भारतीय दर्शन में जैन, सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि की भी यही मान्यता है।

२. रामानुज वेदान्त।

आत्मतत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है"—यह निर्विकल्प सहानुभूति अबाधित है। देकार्त के अनुसार यह आत्मा जीव ही है। जीव परिमित और परिच्छिन्न है। उसका ज्ञान दर्शन और आनन्द परिमित है। जीव अनेक हैं, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान निर्विकल्प अनुभूति से होता है और अन्य आत्माओं का निगमनात्मक अनुमान से। इस प्रकार देकार्त ने अनेक जीववाद सिद्ध किया। उनका चित्-तत्व विशुद्ध आत्मा नहीं है। वह विशुद्ध-चैतन्य और अन्तःकरण का मिश्रण है। वह जीवात्मा है।

चित् की सिद्धि होते ही अचित् की भी सिद्धि हो जाती है। चित् अचित् का अनुभव करने के लिए ही है। चिदात्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। अतः उसे ज्ञेय, कार्य और भोग्य की अपेक्षा है, यही अचित या जड़ तत्व है। ईश्वर ने इसकी सृष्टि की हैं अतः यह अचित् धोखा या भ्रम नहीं हो सकता। ईश्वर परम-कृपालु प्रभु है। वे हमें धोखा देने के लिए सृष्टि नही रचते। सृष्टि को भ्रान्ति समझना ईश्वर का अपमान करना है।

इस प्रकार चित और अचित—इन दो तत्वों की सिद्धि होती है। दोनों द्रव्य हैं; क्योंकि दोनों की एक दूसरे से स्वतन्त्रसत्ता हैं दोनों परस्पर निरपेक्ष और विरुद्ध हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। दोनों की पृथक् और समान सत्ता हैं। अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर नहीं रहता।

चित की स्वतः सिद्धि का ज्ञान होते ही, जैसे एक ओर उसके ज्ञेय-कार्य-भोग्य अचित की सिद्धि होती है, वैसे ही दूसरी ओर उसके नियन्ता और सृष्टि-कर्ता ईश्वर की सत्ता भी साथ ही सिद्ध हो जाती है। ईश्वर चित और अचित दोनों के स्वामी और नियन्ता हैं। वे दयालु हैं। वे सत्य और शिव हैं। उन्हीं से सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है। वे सृष्टि के निमित्तकारण मात्र है, उपादान-कारण नहीं[१]। सृष्टि का उपादानकारण अचित-तत्व है, ईश्वर सृष्टि के पार दिव्यलोक के निवासी है। ईसा मसीह उनके सुपुत्र है। उनके धर्म पर चलने से मनुष्य दिव्य ज्ञान और आनन्द के अनुभव में भाग ले सकता है।

देकार्त ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए ये प्रमुख प्रमाण दिये हैं[२] :— प्रथम हैं, निगमन तर्क। मुझे अपने स्वतःसिद्ध आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति होती है। जिस पदार्थ को इतनी सुस्पष्ट और प्रकाशमय अनुभूति हो; वह पदार्थ भी, आत्मा के समान ही, सत्य होना चाहिए। मुझे ईश्वर की भी सुस्पष्ट अनुभूति हो रही है। अतः निष्कर्ष निकला कि आत्मा के समान ईश्वर का भी सत्य अस्तित्व है। आत्मा के और

१. यहाँ देकार्त का मत रामानुज से न मिलकर न्याय, मध्व आदि से मिलता है।

२. नैयायिकों ने, विशेषतः उदयन ने ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में इतना भेद है कि आत्मा की सिद्धि होती है निर्विकल्प प्रत्यक्ष से और ईश्वर की सिद्धि होती है निगमनात्मक अनुमान से।

द्वितीय है, सत्तामूलक अनुभूति का तर्क। ईश्वर के विषय में ज्ञानमात्र से उनकी सत्ता सिद्ध होती है। हमें ईश्वर का ज्ञान होता है, अत: ईश्वर का अस्तित्व है। ईश्वर पूर्ण है। यदि उनकी सत्ता' न होती, तो वे अपूर्ण होते। अत: उनकी पूर्णता में उनकी सत्ता भी अन्तर्निहित है। सन्त एनसेल्म और सन्त आगस्टाइन ने भी यह तर्क दिया था। देका ने इसको विशद रूप दिया है। ईश्वर-विषयक ज्ञान से उनकी अनिवार्य सत्ता पृथक नहीं की जा सकती। पूर्ण और अनन्त की कल्पना में अस्तित्व का भी समावेश हो जाता है। यदि ईश्वर में अस्तित्व की कमी हो तो उस अंश में वे अपूर्ण होंगे और 'अपूर्ण ईश्वर' वदतोव्याघात है। संसार के सब पदार्थ अपूर्ण हैं। अत: उनके विचार-मात्र से उनकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती। किन्तु ईश्वर पूर्ण हैं अत: उनके विषय में विचारमात्र से उनकी सत्ता सिद्धहो जाती है। यह अनुमान नहीं है। 'मैं हूं' के समान यह भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष है।

तृतीय है, कार्य-कारण-भाव मूलक तर्क। कार्य-कारण-भाव एक स्वत: सिद्ध मौलिक अनुभव है। प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कार्य नहीं होता। असत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मेरी बुद्धिमें 'ईश्वर है' ऐसा विचार उत्पन्न होता है। इस विचार का भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। यह विचार पूर्ण और अनन्त ईश्वर का विचार है। अत: इसका कारण भी पूर्ण और अनन्त होना चाहिए, क्योंकि कारण कार्य से न्यून नहीं हो सकता। अत: ईश्वर को ही इस विचार का कारण मानना पड़ता है। यदि ईश्वर नहीं होते तो हमारी बुद्धि में पूर्ण और अनन्त ईश्वर का विचार भी नहीं उत्पन्न होता। यह विचार इन्द्रियानुभव से उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियाँ कभी पूर्ण और अनन्त का ज्ञान नही कर सकतीं। वे केवल परिमित और अस्त-व्यस्त विशेषों का ही संवेदन कर सकती हैं। इस संवेदन में ज्ञान का अंश क्षीण और धुंधला रहता है। इसीलिए इन्द्रियानुभव को बुद्धि द्वारा पुष्ट करना पड़ता है। यह विचार मेरी बुद्धि की कल्पना भी नहीं हो सकता, क्योंकि मेरी बुद्धि परिमित, अल्पज्ञ और अपूर्ण है और यह विचार पूर्ण और अनन्त ईश्वर विषयक विचार है। अत: स्वयं ईश्वर को ही इस विकार का कारण मानना पड़ता है। इसलिए ईश्वर की सत्ता सिद्ध है। सत्ता मूलक अनुभूति के तर्क द्वारा ईश्वर की सत्ता ईश्वर-विषयक विचारमात्र से सिद्ध की गई है। 'ईश्वर की पूर्णता में सत्ता का भी समावेश है' इस प्रकार का निर्विकल्प अनुभूति के आधार पर यह तर्क उपस्थित किया गया है कि यदि ईश्वर की सत्ता नहीं होती तो वे पूर्ण नहीं होते और चूंकि ईश्वर की पूर्णता निर्विकल्प अनुभूति से सिद्ध है, अत: ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध है। कार्यकारणभावमूलक तर्क द्वारा ईश्वर को

मानवी बुद्धि में उत्पन्न ईश्वरविषयक विचार का कारण मानकर उनकी सत्ता सिद्ध की गई है। यही इन दोनों तर्कों में भेद है।

चतुर्थ है, निमित्त-कारण-मलक तर्क। यह तर्क कार्य-कारण-भाव मूलक तर्क का ही रूपान्तर है। भेद इतना ही है कि कार्य-कारण-भाव-मूलक तर्क ईश्वर को मानवी बुद्धि में उत्पन्न ईश्वरविषयक विचार का कारण मानकर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करता है, और निमित्त-कारण मूलक तर्क ईश्वर को इस सम्पूर्ण सृष्टि का निमित्त-कारण मानकर उनकी सत्ता सिद्ध करता हैं। इन दोनों तर्कों में हम कार्य से कारण की ओर जाते है, कार्य के आधार पर कारण की सत्ता सिद्ध करते है। यह सम्पूर्ण सृष्टि परिमित और सान्त है। यह जड़ है और कार्यरूप है अचित् य। जड़ तत्व स्वयं सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है। वह केवल उपादानकारण बन सकता है। और चेतन निमित्तकारण की अपेक्षा रखता है। बिना चेतन निमित्तकारण के सृष्टि की रचना नही हो सकती। यह निमित्तकारण ईश्वर है। यदि परिमित्त और सान्त की सत्ता है तो अपरिमित्त और अनन्त भी होना चाहिए। यदि कार्य है, तो कारण भी होना चाहिए। और ईश्वर ही यह अपरिमित और अनन्तकारण है ईश्वर कारण-रूप ही है (Causa Sui) वे स्वयं कार्यरूप नहीं है। यदि उनको भी कार्य मानाजाय, तो फिर ईश्वर का कोई अन्य कारण खोजना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा।

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए देकार्त बहुत प्रयत्नशील और उत्सक है। वे ईश्वर सिद्धि को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते हैं; क्योंकि ईश्वर को सिद्ध किये बिना उनका दर्शन 'मैं हूं' से आगे नही बढ़ता। ज्ञाता की अनिवार्य सत्ता सिद्ध करने के बाद बाह्य जगत् की सत्ता सिद्ध करने के लिए ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। ईश्वर की सत्ता सिद्ध होते ही बाह्य जगत् की सिद्धि भी ईश्वर की सृष्टि के रूप में हो जाती है। बाह्य जगत् प्रवञ्चना नही हो सकता; क्योंकि वह ईश्वर-सृष्ट है और ईश्वर प्रवञ्चक नहीं हैं।

यहाँ पर देकार्त के सामने दो कठिन समस्याएँ उपस्थित है। प्रथम यह कि ईश्वर की सिद्धि जगत् के निमित्तकरण के रूप में की जा रही है और जगत् की सिद्धि ईश्वर की सत्य सृष्टि के रूप में। क्या यह अन्योन्याश्रय दोष नहीं है? देकार्त का उत्तर है कि 'मैं हूं' की स्वतः सिद्धि होते ही, एक साथ, ईश्वर और जगत् दोनों की सिद्धि हो जाती है। वैसे, जगत् अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर निर्भर है; ईश्वर अपनी सत्ता के लिए जगत् पर निर्भर नही है। ज्ञाता की सिद्धि होते ही ज्ञेय के रूप में जगत् की भी सिद्धि हो जाती है और ईश्वर-सृष्ट होने के कारण उसकी सत्ता और पुष्ट हो जाती है। इसी प्रकार, ईश्वर विषयक-विचारमात्र से ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो जाती है, और सृष्टि का निमित्त-कारण होना उनकी सत्ता के लिए एक और प्रमाण है।

१. वेदान्त द्वारा कृत सांख्य का खण्डन।

इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण न माना जाय तो ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी या ईश्वर सृष्टिकर्ता ही न रहेंगे। अस्तु, यदि इसे समस्या का समाधान मान लें, तो भी एक दूसरी और जटिल समस्या है। वह यह है कि ज्ञाता की सत्ता से ईश्वर की सत्ता और ईश्वर की सत्ता से ज्ञाता की सत्ता सिद्ध की गई है। इस अन्योन्याश्रय दोष का समाधान कैसे होगा? देकार्त का उत्तर है कि वास्तव में ज्ञाता की और ईश्वर की, दोनों की ही, सत्ता अनुमान से सिद्ध न करके निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सिद्ध की गई है। "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है"—यह निगमन तर्क नहीं है, किन्तु स्वतःसिद्ध अनुभूति है। "ईश्वर की पूर्णता में उनकी सत्ता अन्तर्निहीत है"—यह निगमन तर्क नहीं है, यह भी स्वतःसिद्ध अनुभूति है। अतः ज्ञाता और ईश्वर दोनों स्वतःसिद्ध है और इनकी सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। यदि यह कहा जाय कि अनुभूति होती है आत्मा को, और आत्मा स्वयं अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है; अतः आत्मा में होने वाला निर्विकल्प प्रत्यक्ष, जो अपनी सत्ता के लिए स्वयं ईश्वर पर निर्भर है, ईश्वर की सत्ता कैसे सिद्ध करेगा?—तो इसका उत्तर है कि सत्ता और ज्ञान के दृष्टिकोणों का भेद समझ लेने पर इस शंका का समाधान हो जाता है सत्ता की दृष्टि से ईश्वर पहले हैं और आत्मा बाद में। ज्ञान की दृष्टि से आत्मा की सत्ता का ज्ञान पहले होता है और ईश्वर की सत्ता का ज्ञान बाद में। ईश्वर की सत्ता प्राथमिक है और आत्मा अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है। किन्तु ज्ञान होता है पहले आत्मा की सत्ता का और फिर ईश्वर की सत्ता का। ईश्वर स्वानुभूति की सत्ता के कारण है (Ratio Essendi) और स्वानुभूति ईश्वर की सत्ता के ज्ञान का कारण है (Ratio Cognoscendi)।

इस प्रकार देकार्त तत्व-त्रय अर्थात् ईश्वर, चित् और अचित् को सिद्ध करते हैं। ये तीनों तत्व अर्थात् द्रव्य हैं। किन्तु देकार्त की द्रव्य की परिभाषा के अन्तर्गत ये तीनों नहीं आते। देकार्त के अनुसार द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिनके ज्ञान के लिए अन्य वस्तु की अपेक्षा न हो। इस परिभाषा के अनुरूप तो ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य है, क्योंकि केवल उन्हीं की स्वतन्त्र सत्ता है। फिर चित् और अचित् को, जो दोनों अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं, द्रव्य कैसे कहा जाता है? देकार्त इस विषम परिस्थितियों से बचने के लिए द्रव्य के दो विभाग कर देते हैं—निरपेक्ष या परद्रव्य और सापेक्ष या अपर द्रव्य। ईश्वर ही एकमात्र स्वतन्त्र और निरपेक्ष द्रव्य हैं। चित् और अचित् दोनों सापेक्ष द्रव्य हैं, क्योंकि दोनों अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की अपेक्षा रखते हैं। इन दोनों को 'द्रव्य' इसलिए कहा जाता है कि ये दोनों परस्पर-सापेक्ष न होकर केवल ईश्वर सापेक्ष हैं। चित् और अचित् दोनों परस्पर स्वतन्त्र हैं; यदि वे परतंत्र हैं तो केवल ईश्वर पर। ईश्वर परतंत्र होने से उनके 'द्रव्यत्व' की क्षति नहीं होती। इस प्रकार तीन द्रव्य सिद्ध हुए—एक तो ईश्वर जो 'परद्रव्य' (Absolute)

Substance) हैं, दूसरा जीव जो 'चेतनद्रव्य' (Thinking Substance) है, और तीसरा, जड़ जगत् जो 'विस्तृत द्रव्य' (Extended Substance) है।

प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्याय होते हैं। ईश्वर के अनन्त गुण और अनन्त पर्याय हैं। चित् का मूल गुण है चैतन्य और अचित् का मूल गुण है विस्तार। चित् और अचित् को परस्पर-स्वतन्त्र और विलक्षण मानने के कारण, इस द्वैतवाद के कारण देकार्त को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। यदि चित् और अचित् परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र हैं, तो उनका संयोग कैसे हो सकता है ? देकार्त ने इस विषय में ईश्वर की शरण ली है। किन्तु ईश्वर भी इस द्वैतवाद के दोषों को मुक्ति नहीं दे सके। पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी द्वैतवाद में यह दोष आता है और कोई भी द्वैतवाद इसका संतोषजनक समाधान नहीं कर पाया है। जैन दर्शन के जीव और अजीव; सांख्य के पुरुष और प्रकृति, रामानुज के चित् और अचित्—सभी इस दोष से ग्रस्त हैं। इसका एक ही समाधान है कि इन दोनों को परस्पर-स्वतन्त्र और विलक्षण द्रव्य न मानकर ईश्वर का आभासमात्र माना जाय, और यह समाधान द्वैतवादियों को अमान्य है। फलतः द्वैतवादियों ने इन दोनों के सम्बन्ध के विषय में अपनी-अपनी असंगत कल्पनायें की हैं। देकार्त की कल्पना है चिदचित् संयोगवाद अर्थात् चित् और अचित् में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध। एक ही क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। क्यों ? इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं। देकार्त की एक और असंगत कल्पना है। वह यह कि शरीर की एक विशेष ग्रन्थि (Pincal Gland) इन दोनों की, जीव और शरीर की, मिलनशय्या है। जड़ जगत् एक उद्देश्यहीन यन्त्र है जिसे ईश्वररूपी चेतन चालक चला रहा है। जड़ में चैतन्य नहीं और चित् में परिमाण या विस्तार या आकार नहीं। पशुओं में चैतन्य नहीं है, क्योंकि देकार्त के अनुसार चैतन्य और विवेक एक ही है। इसलिए जीवित पशु भी यन्त्रवत् है। मनुष्य का शरीर भी यन्त्रवत् है। टूटते हुए यन्त्र की खड़खड़ाहट और मुमूर्षु पशु की चीत्कार में कोई अन्तर नहीं। पशुओं में और मानव-शरीर में स्नायु और मांसपेशियों के संचालन से गति उत्पन्न होती है, किन्तु मनुष्यों में चैतन्य है, और यही मानव-जीवन की महिमा है। देह का प्रभाव चैतन्य पर और चैतन्य का प्रभाव देह पर क्यों पड़ता है ? शरीर पर आघात पहुँचने से चैतन्य लुप्त हो जाता है और चैतन्य के चिन्ता-ग्रस्त होने से शरीर दुर्बल क्यों होता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर नहीं, सिवाय इसके कि ईश्वर की यही इच्छा है कि एक की क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया हो।

यह है देकार्त के दर्शन का परिचय। पहले कहा जा चुका है कि देकार्त का महत्व उनकी देह संदेह पद्धति और ज्ञाता के अनिवार्य अस्तित्व—इन दो बातों के कारण है। यह दर्शन का मूलाधार है। देकार्त ने यह पक्की नींव डाली है। इस नींव पर उन्होंने जो प्रासाद बनाया, वह ढह चुका है, किन्तु नींव अभी भी वैसी ही स्थित है

और दार्शनिक प्रासाद इसी पर बनते-बिगड़ते रहते हैं। देकार्त ने आत्मा की स्वतः-सिद्धता और स्वप्रकाशता प्रमाणित करके भी आत्मा का महत्व नहीं समझा। आत्मा अद्वैत तत्त्व है। यह अद्वैततत्व ही स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है। यहविचाराजीवात्मा क्या स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश होगा! आत्मबहुत्ववाद हास्यपद दोष है। इसी प्रकार चित् और अचित् को 'द्रव्य' मानना भी भारी भूल है। यह द्वैतवाद अनेक दोषों का मूल है। अचित् को यन्त्रवत् और निरुद्देश्य समझना तथा पशुओं को अचेतन मानना भी विचित्र है। ईश्वर के लिए दिये गये प्रमाण भी अकाट्य नहीं हैं। आगे चलकर कांट ने इन सबका खण्डन किया है। इन सब प्रमाणों से केवल 'ईश्वरविषयक विचार' की सत्ता सिद्ध होती है, स्वयं ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इनसे यही सिद्ध होता है कि हमारे विचार में ही ईश्वर की सत्ता है—यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर की वास्तविक सत्ता भी है। ईश्वर सृष्टिकर्ता भी सिद्ध नहीं होते, क्योंकि यदि कार्य से कारण की सत्ता मानी जाय तो अधिक-से-अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि इस सृष्टि-कार्य का कारण अवश्य होना चाहिए। यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वह कारण पूर्ण, अनन्त और चेतन ईश्वर ही है? और फिर, देकार्त ने ईश्वर का स्वरूप भी ठीक-ठीक नहीं समझा। ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानना और उनका सृष्टि से ऊपर दिव्य लोक में निवास आदि मानना कोरी कल्पना है। इससे स्रष्टा के साथ सृष्टि का कोई अन्तर सम्बन्ध स्थापित नहीं होने पाता। पुनश्च, चित् और अचित् का क्रिया-प्रतिक्रियावाद भी असंगत और दोषपूर्ण है। इन सब दोषों और असंगतियों के होते हुए भी देकार्त अपनी सन्देह-पद्धति और ज्ञाता की स्वप्रकाशता के सिद्धान्त के कारण पाश्चात्य दर्शन में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रहेंगे।

देहात्मनिमित्तवाद (Occasionalism):—

आरनाल्ड ग्यूलिंक्स (१६२४-१६५९) और निकोलस मेलेब्रांच (१६३८-१७१५)—देकार्त के उत्तराधिकारियों में ग्यूलिंक्स (Geulinex) और मेलेब्रांच (Melebranche) प्रसिद्ध हैं। देकार्त के देह और आत्मा के द्वैतवाद को पिघलाकर इन लोगों ने क्रिया-प्रतिक्रियावाद के दोषों को दूर करने का प्रयास किया। देकार्त ने तो यही मानकर सन्तोष कर लिया था कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है कि देह और आत्मा के संयोग के कारण इन दोनों में पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया हो, किन्तु देकार्त के इन उत्तराधिकारियों ने ईश्वर परे और अधिक भार डालना ही उचित समझा। इनको 'ईश्वर की इच्छा' से ही सन्तोष नहीं हुआ। इन्होंने ईश्वर पर सक्रिय उत्तरदायित्व का भार डालना आवश्यक माना। इन दानों ने कहा कि यदि देह और आत्मा परस्पर भिन्न हैं तो उनका वास्तविक संयोग नहीं हो सकता। देह का धर्म है गति और आत्मा का धर्म है चैतन्य। समस्या यह है कि शारीरिक गति का प्रभाव चैतन्य पर और चैतन्य का प्रभाव शारीरिक गति पर कैसे पड़ सकता है?

इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने पर इन्द्रिय-संवेदन होता है जो प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत होता है। ज्ञान के आदेशानुसार, विविध अर्थों की प्राप्ति या परिहार के लिए, शरीर कर्म करता है। आत्मा का धर्म है ज्ञान और शरीर का धर्म है कर्म। ज्ञान और कर्म में स्वत: परस्पर सम्बन्ध नही हो सकता। अत: इस सम्बन्ध का कारण ईश्वर को ही मानना पड़ेगा। किसी आत्मा में प्रत्यक्षज्ञान होते ही ईश्वर उस आत्मा के शरीर को तदनुसार कर्म करने की प्रवृत्ति प्रदान करते हैं; और इसी प्रकार किसी शरीर में कर्म होता देखकर ईश्वर उस शरीर की आत्मा को तदनुसार सम्वेदन करने की क्षमता प्रदान करते है। अत: वास्तव में न तो ज्ञान का कारण आत्मा है और न कर्म का कारण शरीर क्योंकि दोनों के ही वास्तविक कारण है ईश्वर। मेरी इच्छा या आदेश से मेरा शरीर कर्म नहीं करता; ईश्वर की इच्छा से करता है। मेरी इच्छा निमित्तमात्र है; मेरे शारीरिक कर्मो के शक्त कारण हैं ईश्वर। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष मेरे ज्ञान का निमित्तमात्र है; उसके शक्त कारण है ईश्वर। ग्यूलिंक्स ने कहा ईश्वर के कारण मेरा शरीर कर्म करता है। मेलोब्रांच ने कहा—ईश्वर के कारण मेरी आत्मा मे ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस निमित्तवाद के कारण आत्मा और शरीर तो क्रमश: ज्ञान और कर्म के निमित्तमात्र बनकर छूट जाते है, किन्तु ईश्वर को असंख्य आत्माओं और असंख्य शरीरों के प्रत्येक ज्ञान और कर्म के अवसर पर सक्रिय उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। इस हास्यास्पद सिद्धान्त से एक लाभ अवश्य हुआ। वह यह कि देकार्त का द्वैतवाद पिघला दिया गया। चित् और अचित् अब स्वतन्त्र 'द्रव्य' न रहकर 'निमित्त' मात्र रह गये। स्पिनोजा के अद्वैतवाद की भूमिका तैयार हो गई। ग्यूलिंक्स ने आत्मा के द्रव्यत्व का अपहरण किया, मेलोब्रांच ने शरीर के द्रव्यत्व का और स्पिनोजा ने दोनों के द्रव्यत्व का।

अष्टम अध्याय

बुद्धिवाद : स्पिनोज़ा

बेनेडिक्टस स्पिनोज़ा (१६३२-१६७७)—स्पिनोज़ा (Benedictus Spinoza) पश्चिम के एक महान दार्शनिक हैं। उनका जन्म हॉलैण्ड के एमस्टरडम नगर में बसे हुए एक धनी यहूदी परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में उन्होंने यहूदी धर्म-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचारों के कारण उन्हें धार्मिक अन्धविश्वासों से अरुचि हो गई और इन विचारों के कारण ही यहूदी समाज ने उनके बान्धवों और मित्रों ने, उन्हें बहिष्कृत कर दिया। ईसाई समाज भी उनसे यहूदी होने के कारण, वैसे ही घृणा करता था और उनके विचारों के कारण, जो ईसाई धर्मविश्वासों के भी प्रतिकूल पड़ते थे, उनसे और अधिक द्वेष रखने लगा। यहूदी और ईसाई दोनों समाजों के विद्वेष के कारण स्पिनोज़ा को बहुत कष्टमय जीवन बिताना पड़ा। किन्तु उन्होंने अपने विचार नहीं बदले। उनको विविध प्रलोभन दिये गये, किन्तु उन्होंने सबको ठुकरा दिया। न उन्हें धन का लोभ था और न सांसारिक वैभव का। यदि वे चाहते तो राजसी वैभव का जीवन व्यतीत कर सकते थे, किन्तु उन्होंने सांसारिक सुखों के बदले अपनी आत्मा को बेचना स्वीकार नहीं किया। वे सत्य के ही भक्त रहे। दर्शन की उपासना में ही उन्होंने जीवन अर्पण कर दिया। स्पिनोज़ा ने ऋषि-तुल्य जीवन बिताया। पश्चिम के दार्शनिकों में बिरले ही होंगे जिन्होंने इतना त्यागमय और कष्टमय जीवन हँसते-हँसते बिताया हो। वे आजन्म अविवाहित रहे। चश्मों के शीशे बनाकर वे अपना उदर-पोषण करते थे। पिता की सारी सम्पत्ति वे अपने बहिन को दे चुके थे। फ्रांस के सम्राट लुई १४ वें ने उनसे कहलाया था कि यदि वे अपनी पुस्तक उनको समर्पण करें तो उनकी वृत्ति का समुचित प्रबन्ध कर दिया जावेगा। स्पिनोज़ा ने विनय:पूर्वक प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उनके एक धनी प्रशंसक और भक्त अपनी सारी सम्पत्ति उनको देना चाहते थे किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया और अत्यधिक प्रेमानुरोध के कारण जीवननिर्वाह के लिए नाममात्र लेना स्वीकार किया। हाइडेलवर्ग विश्वविद्यालयने उनको दर्शनाध्यक्षके पद पर आमंत्रित किया, किंतु वे नहीं गये। उनके विरोधियों ने उनकी हत्या करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु वे बच गये। धर्म के ठेकेदारों ने उनको "निन्दनीय नास्तिक" की उपाधि से भूषित किया, उनके ग्रंन्थों के छपने का उग्र विरोध किया, किन्तु स्पिनोज़ा साहसपूर्वक हँसते हुए अपने ही मार्ग पर चलते रहे।

स्पिनोज़ा विलक्षण प्रतिभाशाली थे। वे कई भाषाओं के पण्डित थे। गणित और दर्शन में उनकी विशेष रुची थी। वे दर्शन को केवल बौद्धिकी नटविद्या नहीं

मानते थे। उन्होंने दर्शन के व्यवहारिक पक्ष पर बल दिया और अपने सिद्धान्तों को जीवन में उतारा। उनका प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रथ 'आचार शास्त्र' (Ethica) है। बड़े-बड़े विद्वानों में उनकी प्रतिष्ठा थी। लाइबनित्ज भी उनमें से एक थे जिनसे उनका पत्र-व्यवहार होता था।

यों तो स्पिनोज़ा पर यहूदी और ईसाई धर्मपण्डितों के विचारों का, एरिस्टाल प्लेटो और प्लोटाइनस आदि का एवं पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है किन्तु सबसे अधिक प्रभाव उन पर पड़ा निकोलस, ब्रूनो और देकार्त का। उनकी पुस्तक "आचारशास्त्र" (Ethica) के विषय में एक महाशय की उक्ति है—आजतक की लिखी पुस्तकों में यह सबसे विचित्र है—इनकी रचना हुई है लेटिन भाषा में, शैली इसकी है रेखागणित की, ग्रीक की तरह यह विज्ञानवादी है, विषय इसका इटली (ब्रूनो) का है, नींव इसकी फ्रांसीसी (देकार्त की) है और विश्वास इसके हिब्रू हैं। स्पिनोज़ा के दर्शन की नींव ब्रूनो के सर्वेश्वरवाद और देकार्त के बुद्धिवाद के सामञ्जस्य पर पड़ी है।

स्पिनोज़ा में पाइथेगोरस, प्लेटो और देकार्त का गणितप्रेम और अधिक प्रस्फुट हुआ। देकार्त की इच्छा दर्शन को गणित की सुदृढ़ नींव पर खड़े करने की थी और इसका उन्होंने प्रयास भी किया, किन्तु इस कार्य को पूरा किया स्पिनोज़ा ने। जैसे यूक्ल की ज्यामिति में मौलिक नियमों से उपनियम निकलते हैं और अन्य बातें सिद्ध की जाती हैं वैसे ही स्पिनोज़ा के दर्शन में मौलिक नियमों से अन्य सिद्धान्त निकलते चले जाते हैं। स्पिनोजा अपनी प्रखर प्रतिभा से जिस सूत्र को पकड़ते हैं उसके छोर का पता लगाये बिना उसे नहीं छोड़ते। कुछ विद्वानों का मत हैं कि स्पिनोजा की प्रतिभा विश्लेषणात्मक (Vertical) अधिक रही, संश्लेषणात्मक (Horizontal) कम। उन्होंने विविध सूत्रों को पकड़कर उनका अन्त पाने का प्रयत्न तो किया, किंतु जब ये सूत्र आपस में उलझ गये तो इनको सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया। स्पिनोज़ा एक-एक सिद्धान्त का विश्लेषण करके उसके अन्त तक पहुँचने का प्रयत्न करते रहे; किंतु इन सिद्धान्तों के परस्पर विरोध को मिटा कर उनका संश्लेषण करने का कार्य इन्होंने नहीं किया।

स्पिनोज़ा के दर्शन का आधार देकार्त के कुछ मूल विचार हैं जिनको स्पिनोज़ा ने सुधारा, संवारा, बढ़ाया और अपनाया। देकार्त के समान स्पिनोज़ा भी कट्टर बुद्धि-वादी हैं। वे भी इस बात को मानते हैं कि निर्विकल्प अनुभूति के मौलिक नियम की सहायता से बुद्धि निश्चयात्मक और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखती है; कि इस ज्ञान का आदर्श गणित, विशेषतः रेखागणित है, कि ज्ञान का उद्गम इन्द्रिया-नुभव में न होकर बुद्धि के सार्वभौम नियमों में है। द्वितीय, देकार्त का द्रव्य, गुण और पर्याय का विभाजन और इनकी परिभाषायें स्पिनोजा को मान्य हैं, किन्तु इनके

आधार पर देकार्त ने जो सिद्धान्त बनाये उनसे स्पिनोजा बिलकुल सहमत नहीं हैं। तृतीय, देकार्त का सिद्धान्त कि जगत् यन्त्रवत् है। उन्हें मान्य है और देकार्त के आगे बढ़कर उन्होंने जीव को भी यन्त्रवत् मान दिया, किन्तु देहात्मसंयोग और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त स्पिनोजा को मान्य नहीं। स्पिनोजा के दर्शन में देकार्त का द्वैतवाद अद्वैतवाद में, ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद में और क्रिया-प्रतिक्रियावाद समानान्तरवाद में परिणत हो जाता है।

देकार्त के ये विचार कि दर्शन सत्य की खोज है, कि सत्य के स्वत: सिद्ध और प्रमाणजन्म दो रूप हैं, कि दर्शन की पद्धति सन्देह को साधन मानकर चलने की है, और ज्ञाता की स्वत: सिद्धता और स्वप्रकाशता अनिवार्य है, कि पदार्थों को द्रव्य, गुण और पर्याय में विभक्त किया जा सकता है, स्पिोनजा को मान्य है। किन्तु देकार्त ने जो भूलें की उनको स्पिनोजा ने सुधारा। देकार्त ने आत्मा को स्वत: सिद्ध और स्वप्रकाश तो माना, किन्तु आत्मा के महत्व को नहीं समझा। आत्मा उनके लिए जीवात्मा ही रहा। स्पिनोजा ने बताया कि जीव को स्वत: सिद्ध और स्वप्रकाश नहीं माना जा सकता। वास्तविक आत्मा परमात्मा है। परमात्मा अद्वैतस्वरूप है। यह परमात्मा ही स्वत: सिद्ध और स्वप्रकाश हैं, जीवात्मा नहीं। द्रव्य के विषय में देकार्त ने दो प्रकार का द्वैत माना था—एक तो परद्रव्य और अपर द्रव्य का द्वैत और दूसरा चेतन द्रव्य और विस्तृत द्रव्य का द्वैत। स्पिनोजा ने पहले द्वैत को असंगत कह कर ठुकरा दिया और दूसरे द्वैत को संशोधित रूप में स्वीकार किया। संशोधन यह किया कि इस द्वैत को द्रव्य के स्तर से उतार कर गुण के स्तर पर रख दिया, अर्थात् चेतन द्रव्य और विस्तृत द्रव्य का तात्विक द्वैत स्वीकार न करके केवल चैतन्य गुण और विस्तृत गुण का गौण द्वैत स्वीकार किया। स्पिोनजा ने बताया कि जब देकार्त द्रव्य को स्वतन्त्रसत्ताशील मानते हैं, तब चित् और अचित् को द्रव्य कैसे मान सकते हैं? चित् और अचित् दोनों ईश्वर-परतन्त्र हैं, उनकी अपनी स्वयं सत्ता नहीं है। अत: ये द्रव्य नहीं हैं। एकमात्र ईश्वर द्रव्य कहे जाने के पात्र हैं, क्योंकि केवल उन्हीं की स्वतन्त्र सत्ता है। 'अपर द्रव्य' या 'सापेक्ष द्रव्य' वदतोव्याघात है। वस्तुत: देकार्त भी इस विरोध को जानते थे, किन्तु चर्च के भय के कारण शायद उनको यह स्पष्ट कहने का साहस नहीं हुआ और उन्होंने 'ईश्वर-परतन्त्र होने से स्वतन्त्रता की क्षति नहीं होती' यह कहकर ही सन्तोष की साँस ले ली। स्पिनोजा ने चित् और अचित् को द्रव्य के पद से उतारकर गुण के पद पर बैठा दिया। चित् और अचित् दोनों ईश्वर के गुण हैं। चित् का अर्थ चैतन्य और अचित् का अर्थ विस्तार है। इस प्रकार देकार्त का द्वैतवाद स्पिनोजा में अद्वैतवाद बन गया। देकार्त ने जो ईश्वर का स्वरूप बताया वह भी दोषपूर्ण था। देकार्त के ईश्वर सृष्टि के कर्त्ता और नियन्ता बनकर सृष्टि के पार अपने दिव्य लोक में विराजते हैं। उनका सृष्टि के साथ

कोई साक्षात् और अन्तर सम्बन्ध नहीं, वे सृष्टि के निमित्त कारण ही हैं। स्पिनोज़ा ने ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों मानकर ईश्वर और सृष्टि का तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया। ईश्वर सृष्टि के ऊपर दिव्य लोक मे नहीं विराजते और न वे साकार हैं। ब्रूनों के समान स्पिनोज़ा ने कहा कि ईश्वर सृष्टि के अणु-अणु में रम रहे हैं। वे जन्तर्यामी हैं। सृष्टि उनका शरीर है। सृष्टि ईश्वर के बाहर नहीं, भीतर है। जो कुछ है, सब ईश्वररूप हैं। इस प्रकार देकार्त का ईश्वर-वाद स्पिनोजा में सर्वेश्वरवाद बन गया। स्पिनोजा ने देकार्त के देहात्मक्रियावाद को असंगत बताकर अपने समानास्तरवाद की पुष्टि की। निमित्तवादियों ने देह और आत्मा को निमित्तमात्र मानकर ईश्वर को ही शक्त कारण माना था। स्पिनोजा ने बताया कि देह और आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य तो हैं नही, ये ईश्वर के विस्तार और चैतन्य नामक गुण है, जो दो समानान्तर धाराओं कें रूप में बह रहे हैं। इनका संयोग या क्रिया-प्रतिक्रिया मानने की आवश्यकता नही। इस प्रकार देकार्त का क्रिया-प्रति-क्रियावाद स्पिनोजा में समानान्तरवाद मे बदल गया।

द्रव्य, गुण और पर्याय—ये तीन स्पिनोज़ा के आधार स्तम्भ हैं। द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो। गुण हैं द्रव्य के स्वरूप-धर्म अर्थात् वे धर्म जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। पर्याय या प्रकार हैं द्रव्य के परिणामी धर्म। इन तीनों पर विस्तृत विचार आवश्यक है।

पहले द्रव्य पर विचार करें। स्पिनोज़ा की परिभाषा के अनुसार 'द्रव्य वह है जिमकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो।" द्रव्य का लक्षण है स्वातन्त्र्य। जो अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हो वही द्रव्य है द्रव के जिना किसी वस्तु का अतित्व या ज्ञान नही हो सकता क्योंकि सब पदार्थ अपने असितव और ज्ञान के लिए द्रव्य पर निर्भर है। किन्तु द्रव्य किसी पर निर्भर नहीं। द्रव्य वह है जो स्वयं किसी पर निर्भर न हो और जिस पर सब कुछ निर्भर हो द्रव्य की इस परिभाषा से निम्तलिखित बातें निकलती हैं—

(१) द्रव्य स्वतन्त्र है। वह अपनी सत्ता या अपने ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं।

(२) द्रव्य निरपेक्ष हैं। उसे अपनी सत्ता या अपने ज्ञान के लिए किसी की अपेक्षा नही।

(३) द्रव्य अपरिछिन्न या अपरिमित है। परिमित होने का अर्थ है किसी पर आश्रित होना और द्रव्य किसी पर आश्रित नही हो सकता।

(४) द्रव्य अद्वितीय है। यदि उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु हो, तो वह परिमित बन जायगा और अपनी सीमा के लिए उस वस्तु पर आश्रित हो जायगा। जो

अद्वितीय है उसी की स्वतन्त्र सत्ता हो सकती है। द्वैत होते ही स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है। दो वस्तुयें कभी स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हो सकतीं। वे एक दूसरे को परिच्छिन्न कर देती हैं। उनमें कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है और यह संबंध होते ही वे परस्पर सापेक्ष और परतन्त्र हो जाती हैं।

(५) द्रव्य स्वतः सिद्ध और स्वयंज्योति है क्योंकि वह अपनी सत्ता और ज्ञान के लिए किसी पर आश्रित नहीं है।

(६) द्रव्य स्वयंभू है। वह अपना कारण स्वयं है। उसका कोई कारण या जनक नहीं हो सकता। वही सबका कारण है, उसका कोई कारण नहीं। यदि द्रव्य का भी कोई कारण माना जाय तो वह परतन्त्र और सापेक्ष हो जायगा और इस प्रकार अनवस्था दोष भी आयेगा।

(७) द्रव्य पूर्ण है। उसे किसी की कमी नहीं। वह आप्तकाम है जो अपूर्ण है वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता।

(८) द्रव्य नित्य है। यदि वह अनित्य हो तो अपूर्ण और विनाशशील हो जायगा।

(९) द्रव्य अन्तर्यामी है। द्रव्य ही सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त है। सब कुछ द्रव्य पर आश्रित है। द्रव्य सबमें है और सब कुछ द्रव्य में है। द्रव्य से भिन्न कुछ नहीं है।

(१०) द्रव्य निर्गुण और अनिर्वचनीय है। हमारी वाणी और बुद्धि की पहुँच द्रव्य तक नही। बुद्धि द्रव्य की ओर संकेत करती है; किन्तु उसे पूर्णरूप में नहीं जान सकती। यह निर्विकल्प अनुभूति का विषय है। गुण बुद्धि के विकल्प हैं। किसी वस्तु का गुण बताना उस वस्तु को उस गुण द्वारा परिच्छिन्न करना है। किसी वस्तु का निर्वचन करना उसे उस अंश में सीमित करना है। सीमा या परिच्छेद का अर्थ है अन्य गुणों का निषेध। जैसे किसी वस्तु को श्वेत कहना उसमें काले; पीले, लाल आदि गुणों का निषेध करना है। द्रव्य अपरिच्छिन्न है, अतः निर्गुण और अनिर्वचनीय है। यद्यपि हमारी दृष्टि से द्रव्य समस्त गुण सम्पन्न है, तथापि वस्तुतः निर्गुण और अनिर्वचनीय ही है।

इस स्वतन्त्र, अपरिमित और अद्वितीय द्रव्य को स्पिनोज़ा ने ईश्वर के नाम से निर्दिष्ट किया है। ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य है। स्पिनोज़ा के ईश्वर यहूही और ईसाई धर्मों के ईश्वर भिन्न हैं। धर्म के ईश्वर सगुण और पुरुषविशेष या पुरुषोत्तम हैं। स्पिनोज़ा के ईश्वर निर्गुण और अद्वितीय हैं। देकार्त ने तीन द्रव्य माने थे। स्पिनोज़ा ने एकमात्र ईश्वर को ही द्रव्य माना है। चित् और अचित्, स्वतन्त्र न होने के कारण द्रव्य नही कहे जा सकते। वे ईश्वर के गुण मात्र हैं। देकार्त ने ईश्वर धर्म के ईश्वर हैं। स्पिनोज़ा के ईश्वर दर्शन के ईश्वर हैं। देकार्त के ईश्वर सृष्टि-कर्ता और

जगन्नियन्ता है और सृष्टि के ऊपर अपने दिव्य लोक मे विराजते है। सृष्टि उनके बाहर है। उसका सृष्टि से कोई अन्तर सम्बन्ध नही। स्पिनोजा के ईश्वर सृष्टि मे अन्तर्यामी हैं। सृष्टि उनके बाहर नही, उनके भीतर है। वे सृष्टि मे है और सृष्टि उनमे है। सृष्टि उनके शरीर है, वे सृष्टि के प्रमाण हैं। ईश्वर द्रव्य है और सृष्टि उनके गुण पर्यायो का समूह।

ईश्वर और सृष्टि का सबध तादात्म्यसम्बन्ध है। ईश्वर कारण है और सृष्टि कार्य। स्पिनोजा कारण को विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त करते है। उनके अनुसार, अद्वैत वेदान्त की भाँति, कारण और कार्य मे तादात्म्यसबध है। कारण ही कार्य के रूप मे प्रतीत होता है। कारण ही एकमात्र सत् है, कार्य की सत्ता कारण से आती है। ईश्वर सृष्टि के निमित्तकारण और उपादानकारण दोनो है। स्पिनोजा ने कारण शब्द का प्रयोग 'अधिष्ठान' के अर्थ मे किया है, साधारण अर्थ मे नही। ईश्वर सृष्टि के वैसे कारण नही है जैसे पिता पुत्र का कारण होता है या कुम्हार घडे का। सृष्टि की स्थिति स्रष्टा के बाहर और उससे स्वतन्त्र नही रहती। सृष्टि ईश्वर का 'परिणाम' है, जैसे दूध जमकर दही बन जाता है या सेव पककर लाल हो जाता है। ईश्वर अधिष्ठान है जिनके कारण सृष्टि की प्रतीति हो रही है। सृष्टि ईश्वर से पृथक सिद्ध नही है ईश्वर सृष्टि से अलग रहकर उसको अपने से भिन्न रूप मे उत्पन्न नही करते। सृष्टि का 'स्वभाव' है, उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, किन्तु व्यक्त होकर भी उनके बाहर नही आती क्योकि ईश्वर के बाहर कुछ है ही नहीं। ईश्वर स्वतन्त्र है। कोई उनको सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए बाध्य नही करता। सृष्टि को व्यक्त करने मे उनकी कोई 'इच्छा' नही; क्योकि वे आप्तकाम है। स्वतन्त्रता का अर्थ है स्वाभाविक अनिवार्यता। स्वातन्त्र्य का अर्थ है स्वाराज्य अर्थात् न अराजकता और न परवशता। यदि किसी को कोई अन्य बाध्य करे तो वह परवश या परतन्त्र है, यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण या नियम या 'स्वभाव' न हो उच्छृङ्खलता या अराजकता है; अपने शुद्ध ज्ञान या 'स्वभाव' द्वारा नियमित होना ही स्वातन्त्र्य या स्वराज्य है। सृष्टि ईश्वर के स्वातन्त्र्य की स्वाभाविक और अनिवार्य अभिव्यक्ति है। सृष्टि के लिए ईश्वर की इच्छा या कोई अन्य प्रयोजन मानना असगत है, क्योकि 'ईश्वरेच्छा' मानने पर ईश्वर आप्तकाम न रहकर अपूर्ण बन जायँगे, और 'प्रयोजन' मानने पर, उस 'प्रयोजन की सत्ता ईश्वर से भिन्न माननी पड़ेगी और तब 'ईश्वर प्रयोजन' से परिच्छिन्न हो जायँगे। जैसे प्रकाश से किरणो का निकलना स्वभाविक है, हवा चलने पर जल का लहरो के रूप मे प्रतीत होना स्वाभाविक है, जैसे त्रिभुज की स्थिति मात्र से यह सिद्ध होगा कि उनके तीनो कोणों का योग दो समकोणों के बराबर है, स्वाभाविक है, वैसे ही ईश्वर से सृष्टि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है।

सृष्टि का अर्थ है यह चिदचिद्रूप विश्व। विश्व ईश्वर का ही स्वरूप है ईश्वर और विश्व एक ही हैं। विश्व की ईश्वर से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर ही विश्व में व्याप्त हैं। विश्व ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विश्व ईश्वर में सीमित है, किन्तु ईश्वर विश्व में सीमित नही है। यह नही कहा जा सकता कि ईश्वर भी विश्व के अतिरिक्त और कुछ नही है। ईश्वर विश्व में अन्तर्यामी हैं, किंतु ईश्वरीय विश्व के पार भी है। वे अन्तर्यामी (Immanent) और पर (Transcendent) दोनों है। विश्व उनका शरीर है वे विश्व की आत्मा है। विश्व उनकेगुण-पर्यायों का समूह है। वे स्वयं द्रव्य है। और वे परात्पर निर्गुण अनिर्वचनीय भी हैं।

स्पिनोजा ने इश्वर के तीन रूप बताये हैं—विश्व, विश्वात्मा और पर। गुण और पर्यायों के समूह की दृष्टि से वह चिदचिद्रूप संसार जो ईश्वर का नित्य शरीर है अर्थात् जो उनके स्वातन्त्र्य की स्वाभाविक अभिव्यक्त है, ईश्वर का 'विश्वरूप' (Natura Naturata) है। द्रव्य की दृष्टि से अर्थात् विश्व के अन्तर्यामी अधिष्ठान की दृष्टि से इस चिदचिद्रूप संसार शरीर की आत्मा ईश्वर का 'विश्वात्मरूप' (Natura Naturans) है। शरीर और आत्मा के सगुण रूप में प्रतीत होने वाला निर्गुण और अनिर्वचनीय तत्व ईश्वर का 'पर रूप' (Ens Absolutum Indeterminatum) है। विश्वरूप अपरिच्छिन्न है; क्योंकि ईश्वर का शरीर है। यदि इस शरीर मे विश्वात्मा न हो तो यह अपरिच्छिन्न नही होता, क्योंकि 'परिच्छिन्नों का समूह' स्वय अपरिच्छिन्न नहीं होता। विश्वात्मरूप अपरिच्छिन्न और व्यापक दोनों है। विश्व, गुण-पर्यायों का समूह होने कारण नही, किन्तु विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण, असीमित तो है, किन्तु व्यापक नही है। शरीर अपने, अंग-प्रत्यगों में व्याप्त नही रहता; आत्मा ही शरीर के अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त हो सकती है। ईश्वर स्वतः निर्गुण और अनिर्वचनीय है। सगुण का अर्थ हैं सीमित और सीमित का अर्थ है परतन्त्र। ईश्वर स्वतन्त्र हैं, अतः सगुण नही हो सकते। वस्तुतः ईश्वर का कोई निर्वचन शक्य नहीं, क्योंकि निर्वचन करते ही बुद्धि के विकल्प ईश्वर को सीमित कर देते हैं। निर्वचनमात्र निषेधात्मक है—(Determinatio negatio est) गुण हमारी बुद्धि के धर्म हैं, अतः सगुण ईश्वर मनुष्य-सृष्टि ईश्वर हैं। वास्तविक ईश्वर निर्गुण और निर्विशेष हैं। 'नेति नेति' ईश्वर का सर्वोत्तम निर्वचन है। इसके आगे मौन है। किन्तु निर्गुण होने से ईश्वर 'असत' या 'शून्य' नहीं हो जाते हैं, क्योंकि वे निर्विकल्प अनुभूति के विषय हैं। बुद्धि उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान द्वारा उनका साक्षात्कार शक्य है। किंतु व्यावहारिक पक्ष में ईश्वर को अनन्तगुणसम्पन्न मानना आवश्यक है। इसमें कोई विरोध नहीं; क्योंकि बुद्धि की गति गुणों के स्तर तक ही है। जब तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता, उसके सगुणत्व का प्रतिपादन अनिवार्य है। यह है स्पिनोजा का सर्वेश्वर-वाद, जिसमें शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों का मिश्रण है।

अब स्पिनोज़ा के गुण-धर्म पर बिचार करें। स्पिनोज़ा की परिभाषा के अनुसार "गुण वे धर्म हैं जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।" गुण द्रव्य स्वतः बुद्धि-गोचर नहीं है। इसीलिए स्पिनोजा ने द्रव्य को निर्गुण, निर्विशेष और अनिर्वचनीय माना है। गुणों के कारण ही द्रव्य सगुण, सविशेष और बुद्धि ग्राह्य बनता है। द्रव्य अनन्तधर्मात्मिक है।[1] ईश्वर अशेषगुणाकार या समस्त-गुणसम्पन्न हैं।[2] ईश्वर के अनन्त गुण हैं किन्तु मानव के दो ही गुणों को जानता है जो उसमें भी विद्यमान हैं। ये दो गुण हैं—चैतन्य और विस्तार। चित्-अचित्, पुरुष-प्रकृति, जीव-जगत्-इनको द्रव्य मानना भूल है। ये ईश्वर के गुण; धर्म या विशेणमात्र हैं। चित् का अर्थ है चैतन्य और अचित् का अर्थ है विस्तार। ईश्वर द्रव्य हैं, ये उनके गुण हैं। ईश्वर विशेष्य हैं, ये उनके विशेषण हैं। ईश्वर आत्मा हैं, ये शरीर हैं। एक ही ईश्वर के दो गुण होने के कारण इनको परस्पर विरुद्ध नही माना जा सकता। देकार्त ने इनको दो परस्पर-विरुद्ध और परस्पर निरपेक्ष द्रव्य मानकर द्वैतवाद की जो भयंकर भूल की थी, उसे स्पिनोजा ने मिटा दिया। एक ही द्रव्य के गुण होने से इनके परस्पर विरोध का प्रश्न नही उठता। ये परस्पर भिन्न अवश्य है, किन्तु विरुद्ध नहीं। दोनों ही अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर निर्भर हैं और ईश्वर से पृथक् नहीं हैं। द्रव्य के साथ इनका तादात्म्य या अपृथक् सिद्धि का संबंध है। ये ईश्वर के अन्तर्गत हैं और बिना ईश्वर के इनकी कोई सत्ता नहीं। जड़ और चेतन, एकही ईश्वर के विभिन्न रूप हैं; एक ही प्रकाश की दो किरणें हैं। दोनों भगवत-सत्ता से भाषित हो रहे है। दोनों के पारस्परिक संयोग या क्रिया-प्रतिक्रिया की आवश्यकता नहीं। इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, पारस्परिक संगति मात्र है। प्रत्येक घटना दैनिक और आध्यात्मिक दोनों है। जड़ की दृष्टि से दैहिक और चेतन की दृष्टि से आध्यात्मिक। दोनों का उद्‌गम एक ही ईश्वर हैं। यह स्पिनोजा का चिदचित्‌समानान्तरवाद (Parallelism) है। एक ही उद्‌गम से निकलने वाली ये दो धारायें समानान्तर बह रही हैं।

स्पिनोज़ा के 'गुण' के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत अधिक विवाद हुआ है। गुणों की सत्ता वास्तविक है या काल्पनिक? गुण ईश्वर के सत्य धर्म हैं या मानवी बुद्धि के आरोप? गुण ईश्वर के परिणाम हैं या विवर्त? स्पिनोज़ा ने गुण की जो परिभाषा दी है उसके दो भिन्न अर्थ लगाये गये हैं। परिभाषा है—"गुण वे धर्म हैं जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।" इस परिभाषा में यदि "द्रव्य का स्वरूप" इन शब्दों पर आग्रह हो, तो गुण द्रव्य के तात्विक या वास्तविक या सत्य धर्म हैं। और इसी परिभाषा में यदि "बुद्धि समझती है" इन शब्दों पर आग्रह हो, तो गुण मानवी बुद्धि के काल्पनिक आरोप है।

१. जैन दर्शन : 'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वम्'

२. रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि।

कूनो फ़िशर (Kuno Fischer) के अनुसार स्पिनोज़ा के गुण ईश्वर के सत्य धर्म या परिणाम हैं। हेगल (Hegel) और अर्डमान (Erdmann) के अनुसार स्पिनोज़ा के गुण मानवी बुद्धि के काल्पनिक आरोप या ईश्वर के विवर्त है। हेगल और अर्डमान का कथन है कि स्पिनोज़ा ने द्रव्य को स्पष्ट रूप से वस्तुतः निर्गुण और अनिवर्चनीय माना है और निर्वचनमात्र को निषेधात्मक कहा है। यदि ईश्वर वस्तुतः निर्गुण है, तो वस्तुतः सगुण कैसे हो सकते है? अतः गुणों को मानवी बुद्धि के विकल्प मानना ही स्पिनोज़ा का अभिप्राय है। इसीलिए स्पिनोज़ा के गुणों को सापेक्षतया अनन्त और द्रव्य को निरपेक्षतया अनन्त कहा है। द्रव्य में वस्तुतः गुण नहीं हैं। गुण हमारी सविकल्प बुद्धि के द्रव्य पर आरोपमात्र है। ऐसा मानने पर ही स्पिनोज़ा की प्रसिद्ध उक्ति—'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक हैं' चरितार्थ होती है। इसके अतिरिक्त कूनो फ़िशर का मत है कि स्पिनोज़ा गुणों को ईश्वर के धर्म मानते हैं। स्पिनोज़ा के अनुसार गुण वस्तुतः ईश्वर के 'स्वरूप' हैं; केवल उनकी सत्ता ईश्वर से पृथक नहीं है। 'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है'—इस उक्ति का यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर निर्विशेष या निर्गुण है, ऐसका अर्थ है कि ईश्वर असीम या अपरिच्छिन्न है अर्थात् गुण ईश्वर को सीमित या परिच्छिन्न नहीं कर सकते। स्पिनोज़ा ने विश्व के सत्यत्व का बारम्बार साग्रह प्रतिपादन किया है। उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि विश्व का सत्यत्व ईश्वर पर निर्भर है और उनसे पृथक् नही।

भारतीय दर्शन में भी वेदान्त ने ब्रह्म को लेकर परिणामवाद और विवर्तवाद का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। ब्रह्म निर्गुण है या सगुण? शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण और रामानुजाचार्य के अनुसार सगुण। किन्तु वस्तुतः इन दोनों मतों में विरोध नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म को पारमार्थिक दृष्टि ने निर्गुण और व्यवहारिक दृष्टि से सगुण मानने पर कोई बिरोध नहीं रहता। स्पिनोज़ा का आशय भी हमें यही प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान प्रायः अपनी धार्मिक और बौद्धिक परम्परा के कारण इस विरोध को अचल समझ लेते है। हेगल स्वयं स्पिनोजा के घोर विरुद्ध हैं और स्पिनोज़ा के मत को विवर्तवाद बतलाकर उन्होंने स्पिनोज़ा की खिल्ली उड़ाई है। इसके विपरीत कूनो फ़िशर इस बात की सिद्धि के लिए उत्सुक है कि स्पिनोज़ा ने विश्व का सत्यत्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। हमारे विचार से स्पिनोज़ा का दर्शन शकराचार्य के दर्शन से बहुत से अंशों में साम्य रखता है। स्पिनोज़ा यहूदी और ईसाई धर्म के द्वैतवाद के घोर विरुद्ध थे। ईश्वर को उन्होंने धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टिकर्ता और बाह्य नियन्ता पुरुषविशेष कभी नहीं माना। स्पिनोज़ा ने भी शकराचार्य के समान, व्यावहारिक (Sub Specie Tempories) और पारमार्थिक (Sub Specie Aeternitatis) सत्ता पर विशेष बल दिया है। अतः यह मानना उचित है कि

स्पिनोजा के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर निर्गुण और अनिर्वचनीय हैं, एवं व्यावहारिक दृष्टि से सगुण और सविशेष। व्यावहारिक दृष्टि से विश्व का सत्यत्व अक्षुण्ण है। इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई विरोध नहीं। 'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है'—इस उक्ति से स्पिनोजा का तात्पर्य ईश्वर को असीम और निर्विशेष दोनों सिद्ध करना है। वस्तुतः ईश्वर की निर्विशेषता और अनिर्वचनीयता स्पिनोजा को उतनी ही अभिष्ट है जितनी ईश्वर की अपरिच्छिन्नता।

अब स्पिनोजा के पर्याय या प्रकार धर्म पर कुछ विचार करें। पर्याय हैं द्रव्य के परिणामी धर्म। परिणाम से तात्पर्य है विवर्त का। पर्याय का अर्थ है द्रव्य का विकार। द्रव्य स्वयं ती अद्वितीय, नित्य और शाश्वत, अपरिणामी और अधिकार है, किन्तु गुणो के कारण अनेक, अनित्य, परिणामी और विकारी प्रतीत होता है। पर्याय द्रव्य के आगन्तुक धर्म है, वास्तविक नही। और ये धर्म गुणों के माध्यम से ही सम्भव होते है। द्रव्य निरपेक्ष है, पर्याय सापेक्ष है। द्रव्य स्वतन्त्र है, पर्याय परतन्त्र। द्रव्य अद्वितीय है, पर्याय अनेक। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य। द्रव्य अनिवार्य है, पर्याय सम्भाव्य। द्रव्य समुद्र है, पर्याय तरंग। बिना द्रव्यों के पर्यायों का अस्तित्व या ज्ञान नही हो सकता। पर्याय सर्वथा द्रव्य पर आश्रित हैं।[1] द्रव्य के अनन्त गुणों में से मानवी बुद्धि केवल चैतन्य और विस्तार को जान पाती है। चैतन्य के पर्याय हैं बुद्धि और संकल्प। विस्तार के पर्याय है गति और स्थिति। पर्याय दो प्रकार के है—अनन्त या नित्य और सान्त या अनित्य। ईश्वर के शरीर के रूप में पर्याय अनन्त और नित्य हैं, व्यक्तिरूप में पर्याय सान्त और अनित्य हैं। विविध जीव चैतन्य गुण पर्याय हैं और विविध जड़ पदार्थ विस्तार गुण के पर्याय हैं। चैतन्य रूप में बुद्धि तथा संकल्प अनन्त और नित्य हैं, किन्तु विविध जीवों के रूप में सान्त और अनित्य। विस्तार के रूप में गति तथा स्थिति अनन्त तथा नित्य हैं, किन्तु विविध जड़ पदार्थों के रूप में सान्त और अनित्य।

यह तो हुआ स्पिनोजा के द्रव्य, गुण और पर्याय का विवेचन। अब उनकी ज्ञान-मीमांसा पर भी दृष्टिपात कर लें। विश्व के जितने भी विज्ञानवादी दार्शनिक हुए है, उन सबने, किसी-न-किसी रूप मे, व्यवहार और परमार्थ का भेद-स्वीकार किया है। सविकल्प बुद्धि का ज्ञान व्यवहार का ज्ञान है और निर्विकल्प अनुभूति का ज्ञान परमार्थ का ज्ञान है। व्यवहार का ज्ञान अज्ञान ना धुंधला ज्ञान है; असली ज्ञान परमार्थ का साक्षात्कार ही है। पार्मेनाइडीज का 'व्यवहार' (Opinion) और 'सत्य' (Truth) का भेद; हिरेक्लाइटस का 'अनवत मार्ग' (The Way Down) और 'उन्नत मार्ग' (The way Up) का भेद, तथा प्लेटो का 'इन्द्रिय-ज्ञान' (Sense) और 'विशुद्ध ज्ञान' (Idea) का भेद प्रसिद्ध है। स्पिनोजा ने इस भेद

1. जैन दर्शन

की 'व्यवहारिक या अनित्य दृष्टि' (Sub Specie Temporis) और 'पारमार्थिक या नित्य दृष्टि' (Sub Specie Aeternittais) के रूप में व्यक्त किया है।

स्पिनोजा ने ज्ञान के तीन स्तर बताये हैं। प्रथम स्तर है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और विश्लेषणात्मक सविकल्प बुद्धि का। इसे स्पिनोज़ा ने 'कल्पना का स्तर' (Imaginatio) कहा है। पंचेन्द्रियों के संवेदनों द्वारा प्राप्त गन्ध, रस, रूप, स्पर्श आदि शब्दरूपी बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा मानसिक संवेदनों द्वारा प्राप्त हर्ष, शोक, क्रोध आदि आन्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान और विश्लेषणात्मक बुद्धि के विकल्प जिनमें कोरी कल्पनायें सम्मिलित हैं, इस स्तर के अन्तर्गत आते हैं। विश्लेषणात्मक बुद्धि काल्पनिक अद्वैत या काल्पनिक द्वैत में ही क्रीड़ा करती रहती है। या तो यह इन्द्रिय-संवेदनों के अस्त व्यस्त प्रपञ्चों में मन बहलाती रहती है या इन्द्रिय संवेदन के जीवित प्रपञ्चसे सर्वथा निर्लिप्त काल्पनिक सामान्यों (Abstract Universals) से खेलती रहती हैं। इस स्तर में प्राय: सारा लौकिक ज्ञान आ जाता है। यह स्तर व्यवहारिक दृष्टिकोण का है जो या तो केवल भेद देखता है या केवल अभेद।

द्वितीय स्तर है संश्लेषणात्मक ज्ञान (Intellectus) का। यह विशिष्टाद्वैत का स्तर है। यहाँ भेद में अभेद का या अद्वैत का ज्ञान होता है। अद्वैत प्रधान है, द्वैत गौण है। अभेद प्रधान है, भेद उसका विशेषण है। इस स्तर में ईश्वर के 'विश्वरूप' और 'विश्वात्मरूप' का ज्ञान होता है। समस्त विश्व ईश्वर का शरीर है और उसकी अन्तर्यामी आत्मा (Concrete Universal) हैं।

तृतीय स्तर का निर्विकल्प साक्षात्कार (Intuitio) का। इसमें ईश्वर के अद्वितीय, निर्गुण और अनिर्वचनीय रूप का निर्विकल्प स्वानुभूति द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी नहीं रहती। यह परम विशुद्ध ज्ञान है और मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

स्पिनोजा इन्द्रियज्ञान और विश्लेषणात्मक बुद्धि के स्तर को व्यावहारिक स्तर और संश्लेषणात्मक ज्ञान तथा निर्विकल्प अनुभूति से स्तरों को पारमार्थिक स्तर मानते हैं। वस्तुत: पारमार्थिक स्तर तो निर्विकल्प अनुभूति ही है, किन्तु संश्लेषणात्मक ज्ञान को भी साधन होने के कारण पारमार्थिक स्तर के अन्तर्गत मान लिया है: क्योंकि संश्लेषणात्मक ज्ञान की निरन्तर भावना से ही निर्विकल्प अनुभूति तक पहुँचा जा सकता है। यह खेद का विषय है कि स्पिनोजा जैसे महान् दार्शनिक के महत्व को पश्चिम ने प्राय: ठीक नहीं समझा। स्पिनोज़ा के क्रान्तिकारी विचारों के कारण यहूदी और ईसाई धर्मों के श्रद्धालु उनसे घृणा ही करते रहे और उन्हें 'निन्दनीय नास्तिक' ही समझते रहे। जिन लोगों ने उन्हें समझा उन्होंने स्पिनोजा को 'ईश्वरप्रेमोन्मत्त' (God-intoxicated) की उपाधि से भूषित किया। जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगल ने स्पिनोज़ा के ईश्वर को 'सर्वग्रासी ईश्वर' बताया; क्योंकि उनके अनुसार

स्पिनोज़ा ने समस्त विश्व को असत् बना दिया था। हेगल ने स्पिनोजा के ईश्वर का 'सिंह की गुफा' के समान बताया 'जहाँ विविध पशुओ के अन्दर जाने के पदचिह्न तो दिखाई देते है; किन्तु बाहर आने के नही।' उनका तात्पर्य है कि जैसे सिंह अपनी गुफा मे आनेवाले पशुओ को खा जाता है और वहाँ से कोई जीवित नही लौट सकता, वैसे ही स्पिनोज़ा का ईश्वर समस्त विश्व का सहार कर जाता है। यह ईश्वर कोरे अद्वैत (Abstract Identity) का प्रतीक है क्योंकि इसमे किसी प्रकार के द्वैत को कोई स्थान नहीं। हेगल के अनुसार वास्तविक ईश्वर विशिष्टाद्वैतरूप है। वह समस्त विश्व मे अन्तर्यामी है और द्वैत या भेद की सत्ता ईश्वर के अद्वैत के लिए आवश्यक है। बड़े खेद का विषय है कि हेगल जैसे महान् दार्शनिक ने स्पिनोजा के साथ ऐसा भयंकर अन्याय किया है। स्पिनोज़ा ने स्पष्ट कहा है कि कोरे अद्वैत का स्वर 'कल्पना का स्तर' (Imagination) है। इनके ऊपर विशिष्टाद्वैत का स्तर है। हेगल के बहुत से महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वयं स्पिनोजा ने कर दिया था। ईश्वर के अन्तर्यामित्व और विशिष्टाद्वैत स्वरूप को स्पिनोजा ने स्वय माना है और यह भी स्पष्ट किया है कि मानवी बुद्धि के लिए यह संश्लेषणात्मक स्तर सर्वोच्च है। इसको भी पारमार्थिक स्तर कहकर स्पिनोजा ने विश्वात्मा और विश्वरूप के सत्यत्व को अक्षुण्ण रक्खा है। स्पिनोज़ा हेगल से आगे बढ़कर यह भी कहते है कि जो मानवी बुद्धि के लिए सर्वोच्च नही स्वतः वह सर्वोच्च नही। ईश्वर स्वतः निर्गुण और अनिर्वचनीय है और उनका साक्षात्कार बुद्धि से न होकर निर्विकल्प स्वानुभूति से होता है। यह निर्विकल्प स्वानुभूति विशुद्ध अद्वैत है, काल्पनिक या कोरा अद्वैत नही "निर्विकल्प अनुभूति के शत्रु" हेगल को भले ही यह बात अच्छी न लगे, भले ही हेगल को अपनी संश्लेषणात्मक बुद्धि द्वारा ईश्वर का पूर्ण ज्ञान करने का अभिमान हो, किन्तु फिर भी सत्य तो सत्य ही रहेगा। हेगल के मुख से यह सुनकर सन्तोष होता है और शायद हेगल को विवश होकर यह कहना पड़ा कि—"दार्शनिक होने के लिए पहले स्पिनोजा का शिष्य बनना पड़ेगा।"

स्पिनोजा का दर्शन जीवन के लिए है। उसका कथन है—"जीव का परम कल्याण ईश्वर की निर्विकल्प अनुभूति मे है और श्रेष्टतम आचार है इस अनुभूति को पाने का प्रयत्न।' यह नैतिक जीवन से प्राप्त हो सकता है, अत: दर्शन का उच्चतम रूप है नैतिक जीवन। पुण्य का अर्थ है ज्ञान और पाप का अर्थ है अज्ञान। अपने स्वरूप को जानना मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। इन्द्रियानुभव से सत्य का स्थूल आवरण मिलता है। संश्लेषणात्मक ज्ञान सीमा से भूमा की ओर ले जाता है। भाववेग के ऊपर उठकर इस ज्ञान के स्तर पर आना चाहिये, तभी हम बुद्धि के पार जा सकते हैं। हम चाहते हैं सुख अर्थात् असीम की प्राप्ति, किन्तु साथ ही सीमा का मोह अर्थात् दुःख का मोह भी बनाये रखते है। असली सुख निर्द्वन्द्व होने में है—राग-द्वेष, सुख-दुःख, प्रशंसा

निन्दा; दया-घृणा आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर 'स्थित-प्रज्ञ' बनने में हैं। जड़ और चेतन दोनों ईश्वर के 'शरीर' होने के कारण उनके लिए यन्त्रवत् हैं। ईश्वर स्वतः निर्गुण है अतः इस विश्व-यन्त्र को चलाने में उनका कोई प्रयोजन या इच्छा नहीं है। यह यन्त्र चालक से भिन्न नहीं है। यह ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। राग-द्वेषशून्य होकर तटस्थ भाव से ईश्वरी अनुभूति करना—सबमें ईश्वर को और ईश्वर में सबको देखना—यह ईश्वर-प्रेम (Amor Dei) है। यह परमानन्द का स्रोत है। वास्तविक सुख और शान्ति इस 'ईश्वर-प्रेम' पर निर्भर है। इस कारण स्पिनोज़ा को ईश्वर-प्रेमोन्मत्त' कहा जाता है जो सार्थक है।

स्पिनोज़ा के दर्शन में कुछ दोष हैं। उनका समानान्तरवाद और यन्त्रवाद दोषपूर्ण है। निर्गुण तत्व सगुण क्यों प्रतीत होता है—इस 'मूल्यविद्या' का विवेचन भी स्पिनोज़ा के दर्शन में नहीं मिलता। संश्लेषणात्मक ज्ञान और निर्विकल्प अनुभूति दोनों को पारमार्थिक मानना उचित नहीं लगता, किन्तु स्पिनोज़ा का बुद्धिवाद इस विषय में अटल है। स्पिनोज़ा ने कई स्थानों में तत्व की ओर संकेत किया है, विशद विवेचन नहीं। किन्तु यह सब होते हुए भी स्पिनोज़ा निःसन्देह पश्चिम के एक अत्यन्त महान् दार्शनिक हैं।

नवम अध्याय

बुद्धिवाद : लाइबनित्ज

गॉटफ्रिड विल्हेल्म लाइबनित्ज (१६४६-१७१६)-लाइबनित्ज (Gottfried Wilhelem Leibnitz) का जन्म जर्मनी क लीपजिग नगर मे हुआ था। पिता स्थानीय विश्वविद्यालय मे आचारदर्शन के अध्यापक थे और लाइबनित्ज को ६ वर्ष का छोड़कर चल बसे थे। बचपन से ही लाइबनित्ज को पिता के पुस्तकालय में पढ़ने का शौक लग गया। अपनी साधारण बहुमुखी प्रतिभा और स्मरणशक्ति के कारण लाइबनित्ज कई विषयों के पारंगत विद्वान हो गये। ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच आदि कई भाषाये वे जानते थे और गणित, भौतिक विज्ञान, दर्शन, न्याय, इतिहास और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। बीस वर्ष की आयु मे ही उनको डाक्टरेट की उपाधि मिल गई थी। अपनी महत्वाकाक्षा के कारण उन्होने विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद जो उन्हे मिल रहा था स्वीकार नही किया। वे मैज के प्रधान पादरी के राजनीतिक विभाग मे काम करने लगे और इसी सिलसिले मे फ्रास के सम्राट लुई १४ वें के पास सम्राट को धर्म-विरोधी मिस्र पर आक्रमण करने की सलाह देने पेरिस गये। अपने दूत-कार्य मे तो वे सफल नही हुए, किन्तु चार वर्ष पेरिस मे रहने और वहीं से लन्दन आदि नगरो मे घूमने के कारण उनको नूतन विज्ञान, गणित और दर्शन के अध्ययन का अवसर मिला। इस काल मे मेलेब्रांच और स्पिनोजा के सम्पर्क में आये। जर्मनी लौटकर वे हनोवर राजकी पुस्तकालय के अध्यक्ष पद पर कई वर्षों तक रहे। उनकी कीर्ति चारों ओर फैली। कई पत्र-पत्रिकाओ मे उनके लेख छपे। उनकी विद्वता की धूम मची उन्होने गणित के 'कलन' (Calculus) का, जिसका उनके समकालीन वैज्ञानिक न्यूटन ने भी स्वतन्त्र आविष्कार किया था, स्वतत्र रीति से आविष्कार किया। केथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट मतों मे सधि कराने का उन्होने प्रयत्न किया और इस पर उन्होने बहुत कुछ लिखा। बर्लिन मे उन्होने 'विज्ञान सस्था' (Academy of sciences) की स्थापना की। जीवन के अन्तिम दिनो मे वे आश्रयहीन से हो गये और लोगों ने उन्हें भुला दिया। इस उपेक्षित अवस्था मे ही उनकी मृत्यु हुई। लाइबनित्ज मे बहुमुखी प्रतिमा और असाधारण स्मरणशक्ति थी। चरित्र-बल विशेष नही था। वे वैभवप्रिय और पक्के दुनियादार व्यक्ति थे। जीवन के अन्तिम दिनो को छोड़कर उन्होने ख्याति और वैभव का जीवन बिताया। विविध मतो का समन्वय करना उनके दर्शन का लक्ष्य है। 'चिदणु-शास्त्र' (Monadology) उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक है।

देकार्त और स्पिनोजा के समान लाइबनित्ज भी बुद्धिवादी है। देकार्त द्वैत-

वादी, स्पिनोज़ा अद्वैतवादी और लाइबनित्ज़ द्वैताद्वैतवादी हैं। देकार्त ने ईश्वर, चित् और अचित् रूपी तत्वत्रय की प्रतिष्ठा की। स्पिनोज़ा ने चित् और अचित् को गुण मानकर अद्वैततत्व की प्रतिष्ठा की। द्रव्य या तत्व की परिभाषा में देकार्त और स्पिनोज़ा दोनों सहमत हैं। दोनों के अनुसार द्रव्य का लक्षण स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता है। लाइबनित्ज़ इस परिभाषा से असंतुष्ट हैं। देकार्त चित और अचित् को दो परस्पर विरोधी द्रव्य मानते हैं। चित का गुग चैतन्य और अचित् का विस्तार मानते हैं और चैतन्य तथा विस्तार में विरोध स्वीकार करते हैं। जो चेतन है, वह अचेतन नहीं हो सकता और जो अचेतन है, वह चेतन नहीं हो सकता। लाइबनित्ज़ इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि चेतन आत्मद्रव्य को अचेतन और उपचेतन प्रतीतियाँ भी होती हैं। आत्मा की चार चित्तभूमियाँ हैं-स्वचेतन, चेतन, उपचेन और अचेतन (Self-conscious, Conscious, Subconscious and Unconscious)। उपचेतन और अचेतन मानसिक दशाओं को लाइबनित्ज़ ने 'लघु चेतना' (Petite Perceptions) नाम दिया है। अतः देकार्त का चेतन-अचेतन का द्वैतवाद ध्वस्त हो जाता है। लाइबनित्ज़ के इस चित्तभूमियों के सिद्धान्त को प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने अपनाया है। लाइबनित्ज के अनुसार केवल चैतन्य को ही आत्मा का गुण नहीं मान सकते। इसी प्रकार देकार्त की अचित्सम्बन्धी मान्यता भी दोषपूर्ण है। देकार्त ने विस्तार को ही अचित् का गुण और गति तथा स्थिति को विस्तार का पर्याय माना है। यह गलत है। प्रथम तो, देकार्त में गति का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना है। इसमें अन्य प्रकार को परिवर्तन नहीं आते; जैसे सेव का पककर हरे रंग से लाल रंग में बदल जाना; जैसे बालक का युवक और युवक का वृद्ध होना आदि। द्वितीय, जब दो गतिशील पदार्थ एक दूसरे से टकराते हैं तो उनका वेग कम हो जाता है, किन्तु यदि पदार्थो का गुण विस्तार है तो उसका वेग या गति बढ़नी चाहिए। तृतीय, पदार्थों में कभी गति होती है, कभी स्थिति। किन्तु अविछिन्नता के सिद्धान्त (Law of Continuty) के अनुसार गति या स्थिति में व्यवधान नहीं होना चाहिये। जब एक गतिशील पदार्थ रुक कर स्थिर हो गया, तब फिर उसमें दुबारा गति क्यों होती है? विस्तार से तो ऐसा हो नहीं सकता। अतः जड़ पदार्थों का गुण विस्तार नहीं माना जा सकता। चतुर्थ, जहाँ विस्तार है वहाँ विभाग भी है, अतः यदि विस्तार जड़ पदार्थ का गुण है तो कोई जड़ पदार्थ मूल द्रव्य के अर्थ में सिद्ध ही नहीं हो सकेगा; क्योंकि मूल द्रव्य को अविभाज्य मानना पड़ेगा और विस्तार के कारण वह अविभाज्य हो नहीं पायेगा। इस प्रकार लाइबनित्ज़ ने देकार्त के मत का खण्डन किया। उनके अनुसार न तो आत्मा और जड़ दो विरुद्ध द्रव्य हैं और न चैतन्य तथा विस्तार दो विरुद्ध गुण; और न केवल चैतन्य आत्मा का गुण है और न केवल विस्तार जड़ पदार्थ का।

लाइबनित्ज़ ने स्पिनोज़ा के अद्वैतवाद का भी घोर विरोध किया। स्पिनोज़ा

ने देकार्त के द्वैतवाद का खण्डन करके चित् और अचित् को द्रव्य-पद से उतारकर गुण के आसन पर बिठा दिया। स्पिनोजा ने द्रव्यों के द्वैत को मिटाकर गुणों के द्वैत को रहने दिया। स्पिनोजा भी चैतन्य और विस्तार नामक गुणों को परस्पर भिन्न मानते है। लाइबनित्ज को यह भी पसन्द नही। लाइबनित्ज का आक्षेप है कि एक ही द्रव्य में चैतन्य और विस्तार जैसे विरोधी धर्म कैसे रह सकते है? पुनश्च, स्पिनोजा ने चेतन और जड़ जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों के व्यक्तित्व का अपहरण कर लिया और इनकी सत्ता को ही उडा दिया। यह लाइबनित्ज को नितान्त अनुचित लगा।

लाइबनित्ज के अनुसार देकार्त और स्पिनोजा की असफलता का और उनके दर्शन में पाये जानेवाले विरोधों का कारण यह है कि उन दोनों ने द्रव्य के लक्षण को ठीक-ठीक नही समझा। उन्होंने द्रव्य को दर्शन का केन्द्र बनाया, यह ठीक किया। उन्होंने द्रव्य का लक्षण स्वातन्त्र्य माना, यह भी ठीक किया। किन्तु आगे वे गलती कर गये। स्वातन्त्र्य का अर्थ उन्होने समझा स्वतन्त्र सत्ता। यह ठीक नहीं। स्वातन्त्र्य का अर्थ स्वतंत्र सत्ता नहीं, स्वतन्त्र शक्ति है। अतः द्रव्य की परिभाषा 'द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो' न होकर यह होनी चाहिए—'द्रव्य वह है जिसमें स्वतन्त्रशक्ति हो।' वस्तुतः शक्ति ही सत्ता है। सत्ता का अर्थ होना चाहिए 'अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य'। जो अर्थ-क्रिया समर्थ है वही सत् है।[१] शक्त पदार्थ को ही द्रव्य कहा जा सकता है। जिसमें अपनी स्वतन्त्र शक्ति हो वही द्रव्य है।[२] इस चिदचिद्रूप विश्व के प्रत्येक पदार्थ में कुछ-न-कुछ अपनी शक्ति है, प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशेषता है। अतः प्रत्येक पदार्थ, जिसमे अपनी शक्ति और विशेषता हो, द्रव्य कहलाने का पात्र है। लाइबनित्ज का द्रव्य है 'शक्तिमान् विशेष' (Self-active Individual)। देकार्त ने तीन द्रव्य माने थे और स्पिनोज़ा ने एक ही रहने दिया था, किन्तु लाइबनित्ज़ ने असंख्य द्रव्यों की कल्पना की। स्पिनोज़ा का ईश्वर खण्ड-खण्ड होकर लाइबनित्ज़ के द्रव्यों में बिखर पड़ा। स्पिनोज़ा ने चेतन और जड़ पदार्थों की जिस सत्ता का अपहरण कर लिया था, लाइबनित्ज़ ने वह उन्हें लौटा दी।

लाइबनित्ज़ ने अपने द्रव्य का नामकरण किया 'चिदणु' (Monad)। यह नाम उन्होने ब्रूनों से लिया जिनके दर्शन के कुछ विचारों की छाप लाइबनित्ज़ पर पड़ी। अपने 'चिदणु' की कल्पना में लाइबनित्ज़ ने देकार्त के बुद्धिवाद से और जड़-पदार्थ विज्ञान के विचारों से सहायता ली है। देकार्त के स्वतन्त्र सत्तावान् तत्व को लाइबनित्ज़ ने स्वतन्त्र शक्तिवान् द्रव्य मे और जड़पदार्थ विज्ञान के जड़ परमाणु को चेतन परमाणु मे परिणत करके दोनों को एक में मिला दिया है। लाइबनित्ज़ का द्रव्य स्वतन्त्रशक्तिमान् चेतन परमाणु है। लाइबनित्ज़ ने गणित से और जड़पदार्थविज्ञान से फिर सहायता ली है। गणित के बिन्दु निरवयव और अविभाज्य है, किन्तु वे तात्विक

---

१. स्वतन्त्रविज्ञानवाद : 'अर्थक्रियासमर्थं सत्'—धर्मकीर्ति।

२. शाक्तमत।

नहीं हैं, काल्पनिक हैं। जड़पदार्थविज्ञान के बिन्दु अर्थात् परमाणु तात्विक तो हैं ;किंतु निरवयव और अविभाज्य नहीं। जड़पदार्थ विज्ञान अपने परमाणुओं को निरवयव और अविभाख्य मानता है, किन्तु लाइबनित्ज उससे सहमत नहीं है। लाइबनित्ज के अनुसार जब परमाणुओं की आकाश में स्थिति है और जब वे जड़ हैं तो उनका विस्तार अवश्य होना चाहिये और जिसका विस्तार है उसका अवयवों में विभाग अवश्य होना चाहिए। लाइबनित्ज ने अपनें चिदणु में इन दोनों प्रकार के बिन्दुओं के गुणों का मिश्रण करके एक नये प्रकार के बिन्दु की कल्पना की है। चिदणु में परमाणु की तात्विकता है, किन्तु उसकी विभाज्यता और जड़ता नहीं। चिदणु में गणित के बिंदु की अविभाज्यता है, किन्तु उसकी काल्पनिकता और अचेतनता नहीं। लाइबनित्ज़ का चिदणु निरवयव, अविभाज्य, तात्विक और चेतन है। यह तात्विक-बिंदु, द्रव्य-विन्दु, या चिद्-बिन्दु है। यह शक्तिमान विशेष है। यह अपनी शक्ति का स्वयं केन्द्र है। यह अनादि, अनन्त और नित्य है। विश्व में ऐसे असख्य चिदणु हैं।

प्रत्येक चिदणु विश्व के अन्य समस्त चिदणुओं को अपनें भीतर प्रतिबिम्बित करता है। चिदणु चित्-शक्ति का केन्द्र है और अपनी चित्-शक्ति के कारण समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है। 'समस्त विश्व' का अर्थ है 'समस्त चिदणु और उनके प्रतिबिम्ब' क्योंकि विश्व में चिदणुओं और उनके प्रतिबिम्बों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है इस प्रकार लाइबनित्ज़ के अनुसार समस्त विश्व चिन्मय है चैतन्य के अतिरिक्त और किसी भी सत्ता नहीं है। प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व ज्ञानरूप में समाया हुआ है। व्यक्ति में समिष्ट का प्रतिबिम्ब है। अणु में विराट भरा पड़ा है। प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व का एक जीवित दर्पण है।

चैतन्य के अतिरिक्त, चित-शक्ति के अतिरिक्त, अन्य कोई सत्ता नहीं है, ऐसा कहकर लाइबनित्ज़ ने स्पिनोजा का चैतन्य और विस्तार का गौण द्वैत भी समाप्त कर दिया। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, तो इस जड़ जगत का क्या होगा? लाइब नित्ज़ का उत्तर है कि जड़ नामक कोई वस्तु नहीं है। जिसको जड़ समझते हैं वह गुप्त या सुप्त चैतन्य हैं। है वह चैतन्य ही, किन्तु प्रकट नहीं है, सोया हुआ है, खोया हुआ-सा है। लाइबनित्ज़ ने चैतन्य को चार भूमियाँ मानी हैं—स्वचेत, चेतन, उपचेतन और अचेतन।[1] अचेतन का अर्थ 'चेतना का अभाव' नहीं है, अपितु 'चेतना की कमी' है। अचेतन का अर्थ है 'इषत्-चेतन'। यहाँ चेतना सुप्त या मूर्छित रहती है। उपचेतन में चेतना स्वप्नस्थित जैसी रहती हैं। चेतन में चेतना जाग्रत रहती है। स्वचेतन में चेतना अपना स्वसम्वेदन करती है। अत: विश्व में चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अचेतन और उपचेतन को लाइबनित्ज़ ने 'लघु चेतना' (Petite Perception) कहा है। चेतन सदा स्वचेतन हो, यह

1. विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश।

आवश्यक नही। लाइबनित्ज़ ने समुद्र की गर्जना के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया है। समुद्र की प्रत्येक तरग थोड़ी-बहुत ध्वनि करती है, और उनका संवेदन हमारी श्रोत्रेन्द्रिय को होता अवश्य है, किन्तु यह ध्वनि -संवेदन' मात्र ही रहती है, 'इसका ज्ञान हमे नहीं होता। हमें तो समुद्र की गर्जना ही, अर्थात् तरंगों की सामूहिक ध्वनि ही, सुनाई देती है। समुद्र की गर्जना विविध तरंगो की ध्वनि से मिलकर बनती है। तरंगों की पृथक-पृथक ध्वनि का 'संवेदन' होता है और सामूहिक ध्वनि या गर्जना का 'ज्ञान'। अचेतन और उपचेतन की क्षीण चेतना होती है। अत: चेतनाशून्य कुछ नही है।

प्रत्येक चिदणु व्यक्तिविशेष है। वह अपनी चिद्शक्ति का केन्द्र है और उसकी अपनी विशेषता है। चित्-शक्ति एक नहीं है जो अनेक चिदणुओं में अभिव्यक्त होती हो। चित्-शक्ति अविभाज्य है। अत: वह खण्ड-खण्ड होकर विभिन्न चिणुओं में नहीं रह सकती। यदि एकही अविभाज्य चित्-शक्ति की अनन्त चिदणुओं में अभिव्यक्ति मानी जाय, तो चिदणु शक्ति के आभासमात्र बन जायेंगे और उनका सत्यत्व नष्ट हो जायेगा; जो लाइबनित्ज़ को कदापि अभीष्ट नहीं। ऐसा होने पर लाइबनित्ज़ का सिद्धान्त बहुत कुछ स्पिनोजा के समान हो जायगा और लाइबनित्ज़ को यह भी स्वीकार्य नही। इसलिये लाइबनित्ज़ ने प्रत्येक चिदणु के व्यक्तित्व और उसकी विशेषता को बहुत अधिक महत्व दिया है। पत्येक चिदणु में अपनी स्वतन्त्र और अविभाज्य शक्ति है। हाँ, चिदणुओं में तात्विक भेद या मौलिक स्वरूपभेद लाइबनित्ज़ को मान्य नहीं है, इसलिए वे प्रत्येक चिदणु की शक्ति को, स्वतन्त्र और अविभाज्य मानते हुए भी, मौलिक स्वरूप की दृष्टि से, समान अर्थात् एक सी ('एक' ही नहीं) मानते हैं। प्रत्येक चिदणु अपनी स्वतन्त्र सत्ता या शक्ति रखते हुए भी, अपने मौलिक स्वरूप में अन्य समस्त चिदणुओं के समान हैं। चिदणुओं में संख्या का भेद (Quantitative Difference), मौलिक स्वरूप का भेद (Qualitative Difference) नहीं है। प्रत्येक चिदणु के विशिष्ट व्यक्तित्व पर लाइबनित्ज़ ने बहुत बल दिया है। प्रत्येक चिदणु अपने आप में पूर्ण हैं। उसकी अपनी निरपेक्ष चित् शक्ति है। यह अपनी सत्ता या शक्ति के लिए ईश्वर के अतिरिक्त (ईश्वर का स्वरूप आगे समझाया जायगा) अन्य किसी पर निर्भर नहीं। चिदणु में कोई छिद्र या खिड़कियाँ नहीं जिनमें होकर कोई वस्तु भीतर से बाहर जा सके या बाहर से भीतर आ सके। चिदणु छिद्ररहित या गवाक्षहीन (Windowless) हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। प्रभावित करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक चिदणु अपने आप में पूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व बीजरूप में अर्थात् ज्ञानरूप में विद्यमान है।

यहाँ एक शंका होती है। एक ओर तो लाइबनित्ज़ कहते हैं कि प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व का जीवित दर्पण है और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि प्रत्येक चिदणु

छिद्ररहित या गवाक्षहीन है। यदि प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित है तो यह कैसे कहा जाता है कि उसमें किसी प्रकार का आदान-प्रदान सम्भव नहीं, कि न तो वह किसी को प्रभावित कर सकता है और न किसी से प्रभावित हो सकता है ? इस विरोधाभास का परिहार लाइबनित्ज़ ने इस प्रकार किया है। प्रत्येक चिदणु पूर्ण है क्योंकि उसमें समस्त विश्व बीजरूप में अन्तर्निहित है। वस्तुतः चिणुओं में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित करता है—इस कथन का तात्पर्य यही है कि समस्त विश्व चिदणु में बीज रूप से विद्यमान है। चिदणु में समस्त विश्व का इतिहास विद्यमान है—भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ उसमें अन्तर्निहित है; क्योंकि भूत अपने चिन्ह वर्तमान में छोड़ जाता है और वर्तमान के बीज ही भविष्य के रूप में प्रतिफलित होते है। समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित करने का अर्थ है अपनी ही चित्-शक्ति का विकास करना। समस्त विश्व का अर्थ है चित्-शक्ति क्योंकि चित्-शक्ति के अतिरिक्त विश्व में और कुछ नहीं है। प्रत्येक चिदणु में चित्-शक्ति के रूप में समस्त विश्व विद्यमान है, किन्तु है बीजरूप में ही, विकसित रूप में नहीं। इस सुप्त शक्तिको जाग्रत करना, अधिकाधिक चैतन्य प्राप्त करना, अधिकाधिक सक्रिय होना ही विश्व को प्रतिबिम्बित करना है। यह अपनी ही सुप्त शक्ति की जागृति है, अपनी ही गुप्त शक्ति का प्राकट्य है, अतः इसमें बाह्य प्रभाव का प्रश्न नहीं उठता। जब सब कुछ भीतर ही है, तो बाहर से क्या लिया जाय ? इस प्रकार लाइबनित्ज़ ने इस विरोधाभास का—कि चिदणु छिद्ररहित होते हुए भी समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है—परिहार करने की चेष्टा की है।

इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है—वह है चिदणुओं का तारतम्य। चिदणु, मौलिक स्वरूप में अर्थात् चित्-शक्ति में, समान होते हुए भी, इस शक्ति के क्रियान्वित विकास में विभिन्न हैं। समस्त चिदणु एक ही विश्व का प्रतिबिम्बित करते हैं; किन्तु विभिन्न रूपों में। सबके प्रतिबिम्ब समान नहीं हैं, क्योंकि सबका विकास समान नहीं है, शक्ति सबमें बराबर है, किन्तु उस शक्ति को क्रियान्वित करके सबने एक रूप में नहीं पा लिया है। उदाहरणार्थ, सब मनुष्यों में शक्ति है कि वे एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर सकें, किन्तु वास्तव में करते कितने हैं? बुद्धि, बीजरूप में स्वरूपतः मानव-मात्र में है, किन्तु इसका विकास अलग-अलग मनुष्यों में अलग-अलग रूप में होता है। इसके लिए परस्पर-सम्बन्ध सोपानवत् श्रेणियाँ बनानी पड़ती हैं। कोई इण्टर है, कोई बी०ए० है और कोई एम०ए०। इसी प्रकार चिदणुओं में भी शक्ति के वास्तविक विकास की दृष्टि से, श्रेणियाँ हैं। यह तारतम्य अखंड है; इसमें शृङ्खला टूटती नहीं इसमें व्यवधान नहीं है। चिदणुओं का ज्ञान क्षीणतम, क्षीणतर, क्षीणस्पष्ट, स्पष्टतर और स्पष्टतम श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। कुछ चिदणु सो रहे हैं, कुछ स्वप्न देख

रहे हैं, कुछ जाग रहे हैं। लाइबनित्ज़ के अनुसार चिदणुओं को हम पाँच श्रेणियों में विभक्तकर सकते हैं। वस्तुत: प्रत्येक चिदणु की अपनी अलग ही श्रेणी है; क्योंकि प्रत्येक चिदणु का ज्ञान अपनी विशेषता रखता है और दो चिदणुओं में विश्व का प्रतिबिंब बिलकुल एक जैसा नहीं हो सकता। विश्व में न अनावश्यकता है न पुनरावृत्ति। प्रत्येक चिदणु का अपना अलग विश्व है। अत: उतनी ही श्रेणियाँ हैं जितने चिदणु किन्तु फिर भी समान प्रतिबिंबों के आधार पर स्थूलरूप में पाँच श्रेणियाँ बताई गई है। प्रथम श्रेणी में आते हैं अचेतन (अर्थात् ईषत्-चेतन) चिदणु जिनको लोक में 'जड़ जगत्' कहा जाता है। इनमें चैतन्य सुप्त या मूर्छित रहता है। यह चैंतन्य का क्षीणतम स्तर है; क्योंकि क्षीणतम सम्वेदन मात्र होता है। उपनिषद् में इसको अन्नमय कोश कहा गया है। द्वितीय श्रेणी है उपचेतन चिदणु की, जिसे लोक में 'वनस्पति जगत्' कहा जाता है। इसमें चैतन्य स्वप्न-स्थित-सा रहता है। यह क्षीणतर सम्वेदन का स्तर है जहाँ प्राणस्पन्दन होने लगता है। उपनिषद में उसको प्राणमय कोश कहा गया है। अचेतन चिदणु और उपचेतन चिदणु दोनों को लाइबनित्ज ने 'साधारण या नग्न चिदणु(Simple or Naked Monads) का नाम दिया है। तृतीय श्रेणी में आते हैं चेतन चिदणु (Soul Monads) जिनको लोक में 'पशु जगत्' कहा जाता है। इसमें चैतन्य जाग्रत रहता है। यह स्तर क्षीण ज्ञान और स्पष्ट संवेदन का है, अत: इसे क्षीण-स्तर कहा है। यह सहज मानसिक प्रवृत्तियों (Instints) का स्तर है। उपनिषद् में इसेमनोमय कोश कहा है। यहाँ चिदणु 'जीव' कहे जाते हैं। चतुर्थ श्रेणी है स्वचेतन चिदणु (Spirit Monads) की, जिसे लोक में 'मानव जगत्' कहा जाता है। यह 'आत्म जगत्' है। यह स्पष्टतर ज्ञान का स्तर है; क्योंकि यहाँ चेतन स्वचेतन (Self-conscious) बन जाता है। उपनिषद् में इसको विज्ञानमय कोश कहा गया है। पञ्चम और अन्तिम श्रेणी में केवल एकही चिदणु है—वह है परम चिदणु या ईश्वर (God-Monad or Queen Monad) जिनका ज्ञान स्पष्टतम है। यह 'दिव्य जगत्' है। उपनिषद् में इसे आनन्दमय कोश कहा गया है। यह 'पुरुषोत्तम' का स्तर है। ये सब श्रेणियाँ परस्पर-सम्बद्ध हैं। ऊपर की श्रेणी में नीचे की सब श्रेणियाँ आ जाती हैं। कोई वस्तु छूटती नहीं। नीचे की श्रेणी का आदर्श ऊपर की श्रेणी में जाना है। इन श्रेणियों में केवल विकास का भेद है, जातिगत भेद नहीं है। लाइबनित्ज् का संकेत विकासवाद की ओर है। यद्यपि सभी चिदणु अपनी शक्ति के केन्द्र हैं, तथापि वस्तुत: स्वतन्त्र तो केवल स्वचेतन चिदणु हैं। स्वतन्त्र्य का अर्थ लाइबनित्ज् भी, स्पिनोज़ा के समान, ज्ञान-तन्त्रता मानते हैं। स्वातन्त्र का अर्थ है ज्ञान-तन्त्र अर्थात् न अतन्त्र और न परतन्त्र। और यह आत्म-चिदणुओं में ही संभव है। सभी चिदणुओं का लक्ष्य है सर्वोत्तम चिदणु या ईश्वर के समान बनना। ज्यों-ज्यों चिदणु इस लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों वे ज्ञान-तंत्र और उच्चतर होते जाते हैं, अधिक विकसित और सक्रिय होते जाते हैं।

यह है चिदणुओं के तारतम्य का वर्णन। यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब सभी चिदणु अपनी स्वतन्त्र चित्-शक्ति के केन्द्र हैं और अपने भीतर सम्पूर्ण विश्व लिए हुए हैं तथा मौलिक स्वरूप में समान हैं, तो उनमें तारतम्य हो ही कैसे सकता है? चिदणु क्यों नहीं एक साथ अपनी शक्ति का पूर्ण विकास कर लेता? उसकी शक्ति को रोकनेवाला कौन है? क्या कारण है कि चिदणुओं के प्रतिबिम्बों में क्षीण और स्पष्ट आदि का तारतम्य करना पड़ता है? लाइबनित्ज़ का उत्तर है कि शक्ति का असली अर्थ है चित्-शक्ति। यह चित्-शक्ति अपने पूर्ण क्रियान्वित अर्थात् विकसित और अनिरुद्ध रूप में केवल ईश्वर में ही हो सकता है। ईश्वर ही सच्चे अर्थ में पूर्ण क्रियान्वित शक्ति (Purus Actus) है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब चिदणुओं में शक्त्यवरोध का बीज विद्यमान है जो उनकी शक्ति को रोकता है। इस बीज को लाइबनित्ज़ ने 'सूक्ष्म जड़ता' (Materia Prima) कहा है। जब यह बीज मूर्तरूप (Corporeal) ले लेता है तब इसे 'स्थूल जड़ता' (Materia Secunda) कहा जाता है। ईश्वर के अतिरिक्त सभी चिदणुओं में यह सूक्ष्म जड़ता न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है और इसीलिए चिदणुओं में विकास का तारतम्य है। जिनमें यह सूक्ष्म जड़ता अधिक है, वे कम क्रियाशील और विकसित हैं, और जिनमें कम हैं वे अधिक क्रियाशील और विकसित हैं। यह 'सूक्ष्म जड़ता' वेदान्त की 'अविद्या' के समान है। यह क्यों और कहाँ से आई इसका लाइबनित्ज के पास कोई उत्तर नहीं।

जिनमें चैतन्य सुप्त है उन चिदणुओं को 'जड़' और जिनमें चैतन्य जाग्रत् और स्वचेतन है उनको 'आत्मा' कहा जाता है। एक व्यक्ति या प्राणी असंख्य चिदणुओं का समुदाय है। इस समुदाय में एक चिदणु प्रमुख होता है जो उस समुदाय की आत्मा कहा जाता है। यह आत्मा उस समुदाय का बाह्य शासक नहीं है। वस्तुतः चिदणुओं में तात्विक संबंध नहीं होता। संबंध होने का अर्थ है विकास के एक-से स्तर पर होना। परन्तु प्रश्न यह है कि शरीर और आत्मा में जो लौकिक सम्बन्ध दिखाई देता है और जो एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता दिखाई देता है, उसका क्या उत्तर है? सृष्टि के सामंजस्य का क्या कारण है? जब सभी चिदणु परस्पर-निरपेक्ष और पूर्ण स्वतन्त्र हैं, तब उसमें सम्बन्ध या सहयोग कैसा? तब जगत में नियम, व्यवस्था, एकतन्त्रता क्यों हो सकती है? लाइबनित्ज़ के लिए यह समस्या बड़ी जटिल है। और उन्होंने इसका समाधान ईश्वर की शरण लेकर किया है। ईश्वर ने चिदणुओं की सृष्टि की है। उन्होंने सबको स्वतन्त्र बनाया है किन्तु साथ ही सबको एकतन्त्र में बाँध दिया है। एक चिदणु की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता का विरोध नहीं करती। प्रत्येक चिदणु अपनी स्वतन्त्र सत्ता और विशेषता रखते हुए भी विश्व की एकतन्त्रता को क्षुण्ण नहीं करता। इस सार्वभौम ईश्वरीय नियम को लाइबनित्ज़ 'पूर्वस्थापित सामञ्जस्य'

(Pre-established Harmony) कहते हैं। इसकी तुलना उन्होंने विविध वाद्य-यन्त्रों के एकतानसंगीत (Orchestra) से की है, जिसमें प्रत्येक वाद्ययन्त्र अपना स्वतन्त्र और स्वर-वैशिष्ट्य रखते हुए भी, अन्य वाद्ययन्त्रों के स्वरों से संगति रखता है और इस प्रकार एकतानसंगीत की सृष्टि होती है। सब वाद्ययन्त्रों का उद्देश्य एकतानसंगीत है। उसकी पूर्ति वे अपने-अपने स्वरों से करते हैं। इसी प्रकार चिदणु-जगत् की सृष्टि भी सोद्देश्य की गई है। उनमें पूर्वस्थापित सामञ्जस्य है। सबका लक्ष्य इस सामंजस्य के साथ अपना-अपना विकास करना है। चिदणुओं के अस्तित्व के पार्थक्य में लक्ष्य की एकतन्त्रता है। उसके द्वैत में सामंजस्य का अद्वैत है। विश्व भेद में अनुस्यूत अभेद या द्वैत-विशिष्ट अद्वैत है। प्रत्येक चिदणु इस विराट का जीवित अंग है और विराट् में जो कुछ हो रहा है वह प्रत्येक चिदणु में प्रतिफलित होता है। सारे चिदणुओं में एक ही चैतन्य विकास के विविध स्तरों में प्रकट होता है। अतः यह सामंजस्य असंगत नहीं है। सारे चिदणु एक ही चेतना के सूत्र में बँधे हैं। जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक चिदणु अपने स्वतन्त्र और विशिष्ट रूप में करता है। ईश्वर ने पहले ही सृष्टि में यह सामंजस्य स्थापित कर दिया है।

इस पूर्वस्थापित सामंजस्य के नियम से लाइबनित्ज़ ने देहात्मसमस्या का भी समाधान किया है। देह और आत्मा, जड़ और अचेतन नामक दो विरुद्ध द्रव्य या दो विरुद्ध गुण नहीं हैं। सुप्त चेतन को ही जड़ कहते हैं, अतः इनमें कोई विरोध नहीं। चेतन के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं। देह के चिदणु-समूह में एक केन्द्रीय चिदणु, जो अधिक क्रियाशील और अधिक विकसित चैतन्य होता है, 'आत्मा' कहलाता है। सारे चिदणु अपने अन्तरंग नियमों के आधार पर विकसित होते रहते हैं। कम विकसित चैतन्यवाले चिदणुओं का अधिक विकसित चैतन्यवाले चिदणुओं की ओर आकर्षण स्वाभाविक है। देह के चिदणु इस प्रकार क्रियाशील होते हैं कि ऐसी प्रतीति होती है मानों वे केन्द्रीय आत्म चिदणु द्वारा शासित हो रहे हों। वास्तव में कोई चिदणु किसी अन्य चिदणु पर साक्षात प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि चिदणु छिद्ररहित हैं। प्रत्येक चिदणु अपने नियम पर चल रहा है। ईश्वर ने पहले ही सामंजस्य की स्थापना करके प्रत्येक चिदणुको इस प्रकार नियंत्रित कर दिया है कि उनमें संगति प्रतीत होती रहे। देहके चिदणु और आत्म-चिदणु परस्पर निर्भर नहीं हैं और न इनमें कोई क्रिया-प्रतिक्रिया ही हो सकती है और न ये समानान्तर गुण हैं। इसमें केवल पूर्वस्थापित एकतंत्रता है। देकार्त ने देह और आत्मा को दो स्वतन्त्र द्रव्य मानकर उसमें क्रिया-प्रतिक्रिया-सम्बन्ध माना। ग्यूलिक्स और मेलेब्रांच ने इनको निमित्तमात्र मानकर प्रत्येक ज्ञान और कर्म को ईश्वर का, जो शक्त कारण हैं, कार्य माना। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान और कर्म के लिए ईश्वर का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। स्पिनोज़ा ने इनको एक ही द्रव्य के गुणमात्र मानकर इनकी दो समानान्तर धाराएँ बतलाईं। लाइबनित्ज़ ने कहा कि

न तो ये भिन्न द्रव्य हैं जिनमें क्रिया-प्रतिक्रिया हो सके और न ये दो भिन्न गुण हैं जो समानान्तर हों। इनमें न तात्विक भेद है, न गौण। ये तो एकही चैतन्य की जाग्रत और सुप्त अवस्थायें है। निमित्तवादियों के समान प्रत्येक ज्ञान और कर्म के समय ईश्वर का हस्तक्षेप आवश्यक बतलाना ईश्वर का उपहास करना है। ईश्वर समर्थ हैं और उन्होंने एक ही बार इनमें पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का नियम बना दिया जिसके अनुसार ये सदा चलते रहते हैं और ईश्वर को बारम्बार हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं रहती। देह और आत्मा दो घड़ियों के समान हैं जो सदा एक सा समय बताते हुए चलती हैं। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर देकार्त ने दिया कि वे एक यन्त्र से परस्पर जुड़ी हुई हैं जिसके कारण एक-सी चलती हैं, एक की क्रिया से दूसरी में उसकी प्रतिक्रिया होती है। स्पिनोज़ा ने कहा कि ये एक ही घड़ी की दो समानान्तर छायायें हैं इसलिए एक-सा बताती हैं। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रांच ने कहा कि एक घड़ीसाज सदा उपस्थित रहता है जो इनको हर समय मिलाता रहता है। लाइबनित्ज़ ने कहा कि घड़ीसाज इतना चतुर है कि उसने घड़ियाँ इसी प्रकार की बनाई हैं कि सदा एक-सा समय बताती रहे।

ईश्वर सृष्टिकर्ता है। उन्होंने सम्पूर्ण चिदणुओं की सृष्टि करके उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है। सृष्टि का विकासक्रम ईश्वर द्वारा पहले ही निर्धारित हो चुका है। कोई चिदणु इस सार्वभौम नियम का व्यतिक्रम नहीं कर सकता। ईश्वर केवल पूर्णतम चिदणु या पुरुषोत्तम ही नहीं हैं, वे चिदणुओं के भी चिदणु (Monad of Monads) हैं। वे चिदणु-सृष्टि के ऊपर है। लाइबनित्ज का उद्देश्य दर्शन का ईसाई धर्म के साथ सामञ्स्य करना रहा है। अतः उन्होंने परम चिदणुओं का स्रष्टा और पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का स्थापक भी माना है। यह स्रष्टा निरंकुश सम्राट नहीं है, किन्तु स्वयं भी अपने एकतन्त्रता के नियम से बद्ध है। ज्ञान तन्त्र होने के कारण यह स्वतन्त्र है। यह न अतन्त्र है न परतन्त्र। यह ब्रूनो या स्पिनोज़ा के ईश्वर के समान सृष्टि-स्वरूप न होकर देकार्त के ईश्वर के समान सृष्टि-कर्त्ता है। इसको लाइबनित्ज अपने 'पर्याप्तकारणता नियम' (Law of Sufficient Reason) से सिद्ध करते हैं। इस नियम के अनुसार वही वस्तु सत्य मानी जा सकती है जिसकी सत्ता का पर्याप्त कारण या यथेष्ट हेतु विद्यमान हों। प्रत्येक वस्तु की सत्ता का पर्याप्त कारण होना चाहिए। यह कारण वस्तुओं की कार्य-कारण शृङ्खला में नही मिल सकता, क्योंकि इस प्रकार चलते रहने पर अनवस्था दोष आता है। अन्तिम कारण पर जिसका कोई अन्य कारण न हो, रुकना पड़ता है। यह स्वयंभू (Causa Sui) जो अपना कारण स्वयं है और सृष्टि का कार्य-कारण शृङ्खला से परे है, ईश्वर है इस प्रकार सृष्टिकर्त्ता की सिद्धि के लिए पर्याप्त कारण विद्यमान हैं। लाइबनित्ज़ का ईश्वर देकार्त के ईश्वर के समान सृष्टिकर्त्ता तो है, किन्तु

जिस अर्थ में देकार्त ईश्वर को 'सृष्टि के पार' मानते हैं; लाइबनित्ज़ उस अर्थ में नहीं। लाइबनित्ज़ के अनुसार ईश्वर, मानवी बुद्धि के पार होने के कारण, सृष्टि के पार हैं। ईश्वर हमारी अपेक्षा पर हैं, जैसे हम पशु की अपेक्षा पर हैं या जैसे पशु वनस्पति और जड़ जगत् की अपेक्षा पर है। "पर" का अर्थ है "ज्ञान का अधिक विकास।" ईश्वर सबके ऊपर या पर है क्योंकि उनका ज्ञान पूर्ण विकसित है।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और पूर्णतम ईश्वर की यह सृष्टि भी सर्वोत्तम है। इससे उत्तम जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती थी, अन्यथा ईश्वर अवश्य उसे सृष्ट करते। लाइबनित्ज़ को जीवन मे काफी सफलता मिली थी इसलिए उन्हें यह जगत् ही सर्वोत्तम दिखाई दिया। जगत् में जो दुःख और अभाव प्रतीत होता है, वह हमारे अज्ञान के कारण है। जैसे अन्धकार से प्रकाश का महत्व है, वैसे ही दुःख से ईश्वरीय आनन्द का महत्व है।

लाइबनित्ज़ देकार्त और स्पिनोज़ा के समान बुद्धिवादी हैं। उनके समकालीन लॉक इंग्लैण्ड में इन्द्रियानुभव की प्रतिष्ठा कर चुके थे। लाइबनित्ज़ ने देकार्त और लॉक के बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभव में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस अंश में वे कान्ट के परोगामी बने। देकार्त के अनुसार ज्ञान सहज और इन्द्रियनिरपेक्ष है। लॉक के अनुसार ज्ञान इन्द्रियानुभव से ही उत्पन्न होता है। लाइबनित्ज़ ने कहा कि ज्ञान वास्तव में सहज और इन्द्रिय निरपेक्ष ही है। ज्ञान की सार्वभौमता और निश्चयात्मकता इन्द्रियानुभव से कदापि नहीं आ सकती। किन्तु दोनों में विरोध नहीं है; क्योंकि इन्द्रियानुभव भी ज्ञान का ही क्षीण स्वरूप है।

यह है लाइबनित्ज़ का चिदणु-दर्शन। इसमें लाइबनित्ज़ ने विभिन्न विरोधी मतों में दार्शनिक सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। कुछ अंश में वे सफल हुए हैं, किन्तु बहुत अंश में असफल। लाइबनित्ज़ का दर्शन विरोधों का पिटारा है। इस विरोध-पुञ्ज के कुछ विरोधों का परिहार उन्होंने किया है, किन्तु बहुत से विरोधों का समाधान करने में वे असफल रहे हैं। इस असफलता का मुख्य कारण है लाइबनित्ज़ का प्रपञ्चवाद (Pluralism)। उनका लक्ष्य था स्पिनोज़ा के द्रव्य के सर्वग्रासी प्रभाव से चिदचित्रूपविश्व की रक्षा करना। इसलिए उन्होंने इस द्रव्य को खण्ड खण्ड करके चिद्गुणों के रूप में बिखेर दिया और फिर उन टुकड़ों को समेटकर ईश्वर का नाम दे दिया। लाइबनित्ज़ प्रत्येक चिदणु को स्वतन्त्र और निरपेक्ष भी रखना चाहते हैं और समस्त चिदणुओं को एक सूत्र में बाँधना भी चाहते हैं। यह कार्य असंभव है। दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं की जा सकती। स्पिनोजा का यह कथन कि द्रव्य निरपेक्ष होने के कारण अद्वितीय है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, सर्वथा सत्य है। असंख्य निरपेक्ष वस्तुओं की कल्पना असंगत है। उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

लाइबनित्ज़ को इनका ज्ञान था और इसीलिए उन्होंने इस समस्या को सुलझाने के कई असफल प्रयत्न किये, किन्तु समस्या सुलझाने के बजाय उलझती ही गई। लाइबनित्ज़ भरसक प्रयत्न करके भी अपने चिदणु-चन्द्र को विरोध-राहु के खग्रास ग्रहण से नहीं बचा सके। चैतन्य या चित्-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है और जो कुछ है वह चित् शक्ति का ही विविध स्तरों पर विकास मात्र है—लाइबनित्ज़ का यह कथन सत्य है। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि समस्त चिदणु-जगत् चित्-शक्तिमान ईश्वर की विविध रूपों में प्रतीति या आभास मात्र है। चिदणुओं की स्वतन्त्र सत्ता या शक्ति नहीं हो सकती। चिदणुओं का भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। सब चिदणु ईश्वर के विभिन्न प्रतिबिम्ब हैं। सब सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यदि यह स्वीकार नहीं—और लाइबनित्ज़ को यह स्वीकार नहीं है—तो ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं, चिदणुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं, जगत् की आवश्यकता नहीं और फलतः ऐसे चिदणुओं की भी आवश्यकता नहीं। ऐसी दशा में लाइबनित्ज़ के दर्शन में विरोधों का आना अनिवार्य है, जैसे—(१) चिदणु की स्वतन्त्र सत्ता या शक्ति है चिदणुओं में पूर्वस्थापित एकतन्त्रता है, (२) चिदणु अनादि, अनन्त और नित्य हैं और चिदणु ईश्वर-सृष्ट हैं, (३) चिदणु छिद्ररहित हैं और चिदणु समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्ब करते हैं, (४) चिदणु मौलिक स्वरूप में एक है और चिदणु विकास के स्तरों में विभिन्न हैं, (५) चिदणु पूर्ण हैं और चिदणुओं में अपूर्णता का तारतम्य है, (६) चिदणु समस्त विश्व का जीवित दर्पण है और चिदणु के अतिरिक्त विश्व में अन्य कुछ नहीं (जो इस दर्पण में प्रतिबिम्बित हो सके), (७) चिदणु में स्वतन्त्र चित्-शक्ति है और चिदणु में शक्ति को रोकनेवाली 'सूक्ष्म जड़ता' है, (८) चिदणुओं में वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और चिदणु परस्पर सामञ्जस्य से सम्बन्धित हैं, (९) ईश्वर स्वयं एक विशिष्ट चिदणु हैं और ईश्वर चिदणुओं के स्रष्टा हैं (१०) ईश्वर पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के विधाता हैं और ईश्वर स्वयं इस नियम से बद्ध हैं, आदि। स्पष्ट है कि लाइबनित्ज़ के प्रपञ्चवाद में ईश्वर के लिए वस्तुतः कोई स्थान नहीं। पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का नियम यह काम चला लेगा। और, इस पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के लिए भी उनके दर्शन में कोई स्थान नहीं, क्योंकि छिद्ररहित निरपेक्ष चिदणुओं को सामञ्जस्य की आवश्यकता ही नहीं। चिदणु प्रतिबिम्बित किसे करते हैं ? उत्तर है—विश्व को। विश्व क्या है ? उत्तर है—चिदणु और उनके प्रतिबिम्ब। परन्तु बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब किसका होगा ? लाइबनित्ज़ का विश्व दर्पणों का समूह है जिसमें प्रत्येक दर्पण अन्य सब दर्पणों को अपने भीतर प्रतिबिम्ब कर रहा है। ये निरपेक्ष कहे जानेवाले चिदणु वस्तुतः सापेक्ष चित्-खण्ड हैं। और सत्य निरपेक्ष के अभाव में न इनमें कोई सम्बन्ध हो सकता है और न तारतम्य। उनको विवश होकर, इस कठिनाई को दूर करने के लिए ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी। किन्तु उनका ईश्वर उन्हीं

की कल्पना की उपज है, वास्तविक ईश्वर नहीं। लाइबनित्ज़ के दर्शन में आने वाले विरोधों का एकमात्र परिहार है—चिदणुओं का व्यावहारिक भेद और पारमार्थिक अभेद अर्थात् समस्त चिदणुओं को एक ही निरपेक्ष चित्-शक्ति के आभास मानना। और लाइबनित्ज को यह, समाधान किसी दशा में स्वीकार नही। फलत: उनका दर्शन बौद्धिक अस्थिपञ्जर है, जीवित शक्ति नहीं।

इतने विरोधों के रहते हुए भी, लाइबनित्ज़ का दर्शन अपना महत्व रखता है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा प्रशंसनीय है। उनका बिविध मतों में सामञ्जस्य करके उनको अपने दर्शन में अपनाने का प्रयत्न, असफल होते हुए भी श्लाध्य है। उनके दर्शन की छाप, किसी न किसी अंश में, उनके बाद आनेवाले सभी पाश्चात्य दार्शनिकों पर पड़ी है। और यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं।

———

दशम अध्याय

अनुभववाद : लॉक

जॉन लॉक (१६३२-१७०४) :—लॉक (John Locke) का जन्म इंग्लैण्ड के एक साधारण गृहस्थ परिवार में हुआ। आक्सफोर्ड में पदार्थ-विज्ञान, रसायन विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया और वहीं यूनानी भाषा के अध्यापक बन गये। जीवन में राजनीति तथा दर्शन के क्षेत्र में उतरे। लार्ड एशले के, जो बाद में अर्ल आँव शेपट्सबरी हुए, एक भीषण फोड़े को सफलता से चीरकर उनको रोग मुक्त कर देने के कारण लाँक को उन्होंने अपना मित्र और घरेलू डाक्टर बना लिया। उन्हीं के जीवन के साथ लाँक के राजनीतिक जीवन का उत्थान-पतन चलता रहा। एशले की मृत्यु के बाद वे हालैंड भाग गये और पाँच वर्ष बाद सन् १६८८ की रक्त हीन क्रान्ति के समय स्वदेश लौट आये। लाँक रायल सोसायटी के सदस्य थे। राजनीति और दर्शन पर उन्होंने प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी हैं। वे पुरुषार्थ, पवित्रता, सहनशीलता और विचारस्वातन्त्र्य के बड़े प्रेमी थे। 'मानवी बुद्धि पर निबन्ध' (Essay Concerning Human Understanding) उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचना है।

लाँक में अंग्रेजो की व्यवहार-प्रियता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कूट-कूट कर भरे थे। देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्ज् के समान परमत्व को जानने की इच्छा उन्हें नहीं थी। परमतत्व के विषय में दार्शनिकों में कितना मतभेद हैं। सत्य के स्वरूप के जानने के पहले अपने ज्ञान के स्वरूप को जान लेना अधिक आवश्यक है। द्रव्य मीमांसा की अपेक्षा ज्ञान-मीमांसा दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख विषय होना चाहिए। तत्व-परीक्षा के पूर्व मानवी ज्ञान की उत्पत्ति, स्वभाव और सीमा का निर्णय कर लेना आवश्यक है। लाँक के 'निबन्ध' का लक्ष्य ये तीन बातें हैं—(१) यह जानना कि हमारे ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, और उसका मूलस्रोत कहाँ है? (२) यह जानना कि हमारे ज्ञान का स्वरूप क्या है और उसमें कितनी प्रामाणिकता, कितनी निश्चयात्मता होती है? (३) यह जानना कि हमारे ज्ञान की पहुँच, उसकी सीमा, उसकी क्षमता कहाँ तक है?

देकार्त, स्पिनोजा और लाईबनित्ज् के बुद्धिवाद के अनुसार ज्ञान का मूलस्रोत है इन्द्रियातीत सहज अनुभूति में। यह अनुभूति निर्विकल्प और स्वतः सिद्ध होती है। इसके मौलिक नियम सहज प्रत्यय या विचार या विज्ञान (Innate Ideas) कहलाते हैं। ये हमारे भीतर जन्म से ही विद्यमान हैं। ये बाहर से नहीं आते। ये हमारे ज्ञान मूलस्रोत और आधार हैं। ज्ञान की प्रामाणिकता और सार्वभौमता इन्हीं पर निर्भर है।

ये सहज (Innate) सार्वभौम (Universal) और इन्द्रयानुभव-निरपेक्ष (A priori) हैं । इन सहज प्रत्ययों के अतिरिक्त देकार्त ने दो प्रकार के प्रत्यय और माने थे, एक तो वे जिनकी कल्पना हमारी बुद्धि कर लेती है और दूसरे वे जो इन्द्रियानुभव से बनते हैं ।

लॉक ने बुद्धिवाद की इस मान्यता का खण्डन किया कि ज्ञान का मूलस्रोत इन्द्रियातीत सहज अनुभूति है । हमारे कोई सहज प्रत्यय नहीं है । हमारी आत्मा में कोई जन्मजात विचार नहीं है । समस्त ज्ञान की जननी इन्द्रियाभूति है । हमारे ज्ञान का आदि और अन्त इन्द्रियानुभव में होता है । इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष ज्ञान वदतोव्याघात है । सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव-प्रसूत (A posteriori) है । लॉक ने बुद्धिवाद के विपरीत इन्द्रियानुभव की प्रतिष्ठा की ।

इसके लिए सर्वप्रथम लॉक ने देकार्त के सहज प्रत्ययों या विज्ञानों का खण्डन प्रारम्भ किया । हमारा कोई ज्ञान सहज नहीं है । हम किसी प्रकार का ज्ञान जन्म के साथ नहीं लाते । सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव से आता है । जब लोग किसी वस्तु को अनुभव से सिद्ध नहीं कर सकते, तो उसे सहज कहकर निश्चिन्त हो जाते है । यह मार्ग सत्य की खोज से भागने का मार्ग है । यह अन्धविश्वास और रूढ़िवाद का मार्ग है । सहज ज्ञान के समर्थकों के अनुसार आत्मा अपने स्वत:सिद्ध प्रत्ययों के साथ ही इस संसार में आती है । तादात्म्य-नियम (Low of Identity), विरोध-नियम (Law of Contradiction) आदि अनिवार्य और सार्वभौम नियम सहज है, इन्द्रियानुभव पर निर्भर नहीं । देकार्त के अनुसार आत्मा और ईश्वर की प्रतीति भी सहज ज्ञान द्वारा होती है । लॉक का आक्षेप है कि यदि सहज प्रत्यय हों तो उनकी प्रतीति बालकों मूर्खों और पागलों को भी होनी चाहिए और उनके विषय में सभी देशों और सब समयों के मानवों में मतैक्य होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। बालकों मूर्खों और पागलों को ज्ञान के सर्वभौम नियमों का कोई बोध नही होता । बच्चे जानते हैं कि गुड़िया और दूध पीने का गिलास एक ही वस्तु नहीं है, किन्तु यह कथन है कि बच्चों का यह ज्ञान उनके तादात्म्य-नियम और विरोध-नियम के ज्ञान के कारण है, हास्यास्पद है । कुछ वज्रमूर्ख ऐसे भी है जो दस तक की गिनती भी नहीं जानते । कुछ पागल ऐसे भी हैं जिनको अपनी आत्मा का भी अनुभव नहीं होता । यदि ईश्वर की प्रतीति भी सहज हो तो, फिर ससार में नास्तिक नहीं होना चाहिए । किन्तु विश्व में नास्तिकों की कमी नहीं, और ईश्वर के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों में जितना विवाद हुआ है तथा धर्मान्ध लोगों में जितना रक्तपात, हुआ है वह भी विदित ही है । आचार सम्बन्धी एक भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो सब देशों और सब युगों के लोगों को समान रूप में मान्य रहा हो । आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों को युक्तियों से सिद्ध करने का अर्थ ही यह है कि ये आन्तरिक या सहज नहीं हैं । यदि बुद्धिवादी यह कहें कि ये विचार बुद्धि में विद्य-

मान भी रहते हैं, किन्तु प्रकटरूप में नहीं आते, तो यह असंगत हैं। 'बुद्धि में विद्यमान' रहने का अर्थ है 'ज्ञात' होना। बुद्धि में कोई विचार रहे और उसका ज्ञान न हो तो यह असंभव हैं। कोई प्रत्यय अचेतन नहीं हो सकता। कोइ विचार ऐसा नहीं है जो सहज कहा जा सके।

तब ज्ञान का मूलस्रोत कहाँ है? लॉक का उत्तर है—इन्द्रियानुभव में। लॉक के अनुसार इन्द्रियातीत अनुभव असंभव है। अत: अनुभव शब्द का अर्थ इन्द्रियानुभव ही समझना चाहिए। यह अनुभव दो प्रकार का है—एक तो बाह्य प्रत्यक्ष और दूसरा आन्तर प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष होता है पञ्चज्ञानेन्द्रियों के संवेदन (Sensation) द्वारा और आन्तर प्रत्यक्ष होता है अन्त:करण (Inner Sense) के स्वसंवेदन (Reflection) द्वारा। सम्वेदन और स्वसम्वेदन इन द्वारों के द्वारा ही ज्ञान आत्मा में प्रवेश पा सकता है। लॉक के अनुसार आत्मा 'कोरे कागज', 'साफ स्लेट, या 'अन्धेरे कमरे' की तरह है। आत्मारूपी इस कोरे कागज या साफ प्लेट पर अनुभव अपनी सम्वेदन और स्वसम्वेदन रूपी उँगलियों से ज्ञानरूपी अक्षर लिखता रहता है। आत्मारूपी इस अन्धेरे कमरे में अनुभवरूपी सूर्यका ज्ञानरूपी प्रकाश सम्वेदन और स्वसंवेदन रूपी दो खिड़कियों में से होकर आता है और उसे आलोकित करता है। बुद्धि का प्रत्येक विज्ञान अनुभव से प्राप्त किया जाता है। सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव में ही स्थित रहता है और इसी में से निकाला जाता है। समस्त ज्ञान का आरम्भ और पर्यवसान इन्द्रियानुभव में होता है।

संवेदन औत स्वसंवेदन ही ज्ञान के दो द्वार हैं। ये दोनों द्वार एक साथ नहीं खुलते, एक दूसरे के बाद खुलते हैं। इनमें संवेदन प्रथम और प्रधान है। स्वसंवेदन बाद में होता है और संवेदन की अपेक्षा रखता है।

हमारा ज्ञान प्रत्ययों या विज्ञानों से बनता है। विज्ञान दो प्रकार के हैं—एक तो सरल (Simple) और दूसरे मिश्र (Complex)। सरल विज्ञान संवेदन से या स्वसंवेदन से या दोनों से आते हैं। मिश्र विज्ञान सरल विज्ञानों के योग और मिश्रण से बनाये जाते हैं। आत्मा सरल विज्ञानों को निष्क्रिय होकर ग्रहण करती है। मिश्र विज्ञानों के निर्माण में आत्मा को सक्रिय होना पड़ता है। किन्तु आत्मा एक भी विज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती। आत्मा की सक्रियता विज्ञानों के मिश्रण करने में ही है, उनको उत्पन्न करने में नहीं।

सरल विज्ञान मौलिक होते हैं। वे बाह्य प्रत्यक्ष या आन्तर प्रत्यक्ष या दोनों से प्राप्त किये जाते हैं। सरल विज्ञान चार प्रकार हैं:—(१) जो एक इन्द्रिय के संवेदन-द्वार से आत्मा में प्रवेश करते हैं, जैसे गन्ध, रस, रूप स्पर्श, शब्द (२) जो एक से अधिक इन्द्रियों के संवेदन-द्वार से आत्मा में प्रवेश करते हैं, जैसे विस्तार आकार, गति आदि, (३) जो अन्त:करण के स्वसंवेदन-द्वार से आत्मा में प्रविष्ट

होते हैं, जैसे स्मृति, सन्देह, विश्वास, संकल्प, आदि, और (४) जो ब्राह्म इन्द्रियों के संवेदन और अन्तःकरण के स्वसंवेदन, इन दोनों द्वारों से आत्मा में आते हैं, जैसे सुख, दुख, सत्ता, शक्ति, एकता, क्रम आदि। इन चार प्रकार के सरल विज्ञानों से ही हमारा सारा ज्ञान बना है। जैसे परिमित अक्षरों से अनन्त वाङ्मय का निर्माण होता है, वैसे ही इन सरल विज्ञानों से समस्त मानव-ज्ञान बनता है।

मिश्र विज्ञान सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनते हैं। इन विज्ञानों के मिश्रण करने में आत्मा सक्रिय होती है, किन्तु इनको उत्पन्न नहीं करती। जिस प्रक्रिया में आत्मा सरल विज्ञानों द्वारा मिश्र विज्ञान बनाती है, उसकी छह अवस्थायें है :—(१) निष्क्रिय रूप से संवेदन या स्वसंवेदन या दोनों के द्वारा सरल विज्ञानों का ग्रहण (Perception); (२) इन विज्ञानों का धारण (Retention), क्योंकि विस्मृति होने पर फिर इनकी रचना सम्भव नहीं, (३) इन विज्ञानों के परस्पर पार्थन्य-बोध (Discernment); का उदय; (४) इन विज्ञानों का परस्पर संतुलन (Comparison); (५) इन विज्ञानों का मिश्रण (Composition) और (६) इनका सामान्यकरण और नामकरण (Abstraction and Naming)। सामान्यकरण और नामकरण आत्मा की क्रिया है। यह मनुष्य की ही विशेषता है। इसी के कारण पशु में और मनुष्य में भेद है। पशु सामान्य की कल्पना नहीं कर सकता। सामान्य की कल्पना के कारण नामकरण सम्भव होता है और इसके कारण भाषा का आविष्कार होता है।

मिश्र विज्ञान तीन प्रकार के होते है—पर्याय या प्रकार (Modes), द्रव्य (Substance) और सम्बन्ध (Relation)।

पर्याय वे मिश्र विज्ञान हैं जो उन सरल विज्ञानों से बनते हैं जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नही होती और अपनी सत्ता के लिए द्रव्य पर निर्भर रहते हैं। पर्याय भी दो प्रकार के होते है—सरल (Simple) और मिश्र (Mixed)। एक प्रकार के सरल विज्ञानों से बने हुए पर्याय सरल हैं, और विभिन्न प्रकार के सरल विज्ञानों से बने हुए पर्याय मिश्र है। आकार, स्थान, दूरी, निकटता आदि आकाश के सरल विज्ञानों से बने हुए सरल पर्याय हैं। पल, घंटा, दिन, पक्ष, मास आदि समय के सरल विज्ञानों से बने हुए सरल पर्याय है। सौन्दर्य है रंग, आकार आदि विभिन्न प्रकार के सरल विज्ञानों से बना हुआ मिश्र पर्याय।

द्रव्य के विज्ञान वे मिश्र विज्ञान हैं जो उन सरल विज्ञानों से बनते हैं जो स्वतन्त्र वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते है। वस्तुतः हम द्रव्य को नहीं जान सकते, हम केवल उसके गुणों को जानते हैं। गुणों के कारण हम उन गुणो के आधारभूत द्रव्य का अनुमान कर लेते है। प्रत्यक्ष द्रव्य का नहीं होता, प्रत्यक्ष द्रव्य के गुणों का ही होता है।

सम्बन्ध के विज्ञान वे मिश्र विज्ञान है जिनको, सरल विज्ञानों के आधार पर आत्मा स्वयं कल्पना कर लेती है। ये विज्ञान किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इन विज्ञानों में कार्य-कारण सम्बन्ध का विज्ञान मुख्य है।

यह हुई लॉक के सरल और मिश्र विद्वानों की चर्चा। अब उनके 'द्रव्य' और 'गुण' सम्बन्धी विचारो की चर्चा भी कर दें। लॉक के अनुसार हमारा ज्ञान विज्ञानों से बनता है अर्थात् विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हैं। विज्ञान होते हैं आत्मा में और उत्पन्न होते हैं अनुभव से। अनुभव का अर्थ है सवेदन और स्वसंवेदन। संवेदन होता है इन्द्रियों और वाह्य पदार्थो के सन्निकर्ष से तथा स्वसवेदन होता है अन्तःकरण और मानसिक भावों के सन्निकर्ष से।

द्रव्य के पूर्व गुण की विवेचना कर लेना अच्छा होगा। लॉक के अनुसार द्रव्य की वह शक्ति जिनके कारण वह हमारी आत्मा में विज्ञान उत्पन्न करता है 'गुण' कहलाती है। हमारा साक्षात् सम्पर्क 'द्रव्य' से न होकर उनके 'गुणों' से होता है। गुण दो प्रकार के होते हैं—मूल गुण (Primary Qualities) और उपगुण (Secondary Qualities)। मूल गुण वे हैं जो वस्तुतः द्रव्य में पाये जाते हैं और जो हमारी आत्मा में अपने अनुरूप विज्ञान उत्पन्न करते हैं। मूलगुण द्रव्यों के वास्तविक धर्म हैं। जब इन्द्रियों का इन मूलगुणों से सम्पर्क होता है, तब ये मूलगुग हमारी आत्मा में संवेदन उत्पन्न करते हैं और उन संवेदनों में अपनी प्रतिकृति या अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं। ये प्रतिबिम्ब ही विज्ञान कहलाते हैं। अतः मूलगुणों का काम हमारी आत्मा मे संवेदनों के माध्यम से अपने प्रतिबिम्ब के रूप में विज्ञान उत्पन्न करने का है। इन मूलगुणों के विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक धर्मों के प्रतिबिम्ब हैं। इन मूलगुणों का एक कार्य और है, वह है आत्मा के उपगुणों में संवेदन उत्पन्न करना। उपगुण द्रव्य के वास्तविक धर्म नहीं हैं। वे द्रव्य में नहीं रहते। वे हमारी आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः उपगुणों को 'गुण' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे द्रव्यों के वास्तविक धर्म नहीं हैं, फिर भी इनकी व्यवहार के कारण गुणों का भेद मान लिया गया है। उपगुण वस्तुओं के धर्म न होकर हमारी आत्मा के संवेदनमात्र हैं। इन संवेदनों को उत्पन्न करते है मूल गुण। मूल गुणों के बिना उपगुण उत्पन्न नहीं हो सकते। अत इन उपगुणों को हमारी आत्मा की कल्पना भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इनको उत्पन्न करने की शक्ति आत्मा में न होकर द्रव्यों के वास्तविक गुणो में है। ये उपगुण हमारी आत्मा में द्रव्यों के मूल गुणों द्वारा उत्थापित संवेदनमात्र हैं, अतः इन उपगुणों के विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक धर्मो के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। द्रव्यों का घनत्व (Solidity), विस्तार (Extension), आकार (Shape), गति (Motion), स्थिति (Rest), और संख्या (Number), जो एकाधि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं, उनके मूल गुण हैं जो उन द्रव्यों में वस्तुतः विद्यमान हैं। गन्ध, रस, रूस, स्पर्श और शब्द जो एक इन्द्रिय द्वारा

प्राप्त होते हैं; उपगुण हैं। ये वस्तुतः द्रव्यों में नहीं रहते। ये आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। मूलगुणों की शक्ति के कारण इन्द्रियसंवेदन के रूप में इनका अतमा में जन्म होता है। घनत्व, विस्तार, आकार आदि का विज्ञान द्रव्यों का वास्तविक मूलगुणों के हमारी आत्मा में प्रतिबिम्ब है। रूप, रस, गन्ध आदि विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक गुणों के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। ये वास्तविक गुणों द्वारा उत्पादित इन्द्रियसंवेदन मात्र हैं। आत्म-द्रव्य में मूलगुण ही होते हैं, उपगुण नहीं। स्वसंवेदन में अतःकरण का इन मूलगुणों से साक्षात् सम्पर्क होता है।

लॉक के अनुसार द्रव्य वह पदार्थ है जिसमें मूल गुण रहते हैं। वस्तुतः द्रव्य 'अज्ञेय' (Unknowable) है क्योंकि हमारा द्रव्य के साथ कभी साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। हमारा सम्बन्ध द्रव्य गुणों के साथ ही होता है जो हमारी आत्मा में अपनी प्रतिक्रिया छोड़ जाते हैं। चूंकि गुण केवल शक्ति हैं और शक्ति के लिए शक्तिमान चाहिए, इसलिए इन गुणों के आधरभूत द्रव्य का अनुमान कर लिया जाता है। लॉक बाह्य-प्रत्यक्षवादी (Presentationist) न होकर बाह्यानुमेयवादी (Representationist) हैं। बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल अनुमान होता है। प्रत्यक्ष केवल गुणों का होता है, द्रव्य का नहीं। इसीको प्रत्ययप्रतिनिधित्ववाद या विज्ञान प्रतिबिम्बवाद भी कहते हैं। लॉक के अनुसार ज्ञान का एकमात्र स्रोत प्रत्यक्ष है। अतः द्रव्य का प्रत्यक्ष न होने के कारण उन्होंने द्रव्य को 'अज्ञेय' कहा है। द्रव्य की कल्पना मिश्र विज्ञान है जो कई सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनी है। ये सरल विज्ञान स्वतन्त्र वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः द्रव्य की कल्पना में उसकी स्वतन्त्र सत्ता का समावेश है। हमारे लिए द्रव्य गुणों का समुदाय मात्र है। किन्तु गुणों के अतिरिक्त उनका आधारभूत द्रव्य होना अवश्य चाहिए, भले ही वह हमारे लिए अज्ञेय हो! द्रव्य "सर्वत्र एक-सा" (The same everywhere) और "मैं नहीं जानता क्या" (I koow not what) है। फिर भी लॉक तीन प्रकार के द्रव्यों को मानते हैं:—ईश्वर, आत्मा और जड़तत्व। आत्मा चेतन तत्व है जिसकी हमें उसके गुणों द्वारा प्रतीत होती है। ईश्वर का हमें केवल परोक्ष ज्ञान होता है। ईश्वर अनादि, अनन्त, नित्य, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं और इस जगत के स्रष्टा हैं।

अब ज्ञान के स्वरूप और उसकी सीमा का विचार करना चाहिए। हमारे ज्ञानके विषय केवल हमारे विज्ञान हैं। ज्ञान हमारे विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का, उनकी संगति या असंगति का दर्शन मात्र है। विज्ञानों की असंगति या अविसंवाद मिथ्या ज्ञान का, कोरी कल्पना या विश्वास का क्षेत्र है। सत्य का ज्ञान नहीं। हमारे विज्ञानों के कुछ आदिरूप (Archetypes) है। यदि विज्ञानों की संगति उनके आदि रूपों के साथ हो, उन गुणों के साथ हो जिनके कारण विज्ञान उत्पन्न होते हैं, तो हमारा ज्ञान सत्य है। यदि संगति न हो तो ज्ञान असत्य है। जितनी

अधिक संगति होगी, ज्ञान की सत्यता भी उतनी ही अधिक होगी।[1] वस्तुतः ज्ञान के साक्षात् विषय तो विज्ञान ही हैं, किन्तु ज्ञान विषय बनाना चाहता है वस्तुओं को। ऐसा वह विज्ञानों के माध्यम से ही कर सकता है, साक्षात् नहीं। विचार वस्तुओं के स्वरूप-धर्मों के प्रतिबिम्ब हैं और आत्मा के पास यह साधन अवश्य है जिससे वह यह जान लेती है कि अमुक प्रतिबिम्ब सत्य है या मिथ्या। यदि प्रतिबिम्बों की उनके बिम्बों से अर्थात् वस्तुओं के गुणों से संगति है, तो वे सत्य हैं और यदि असंगति है तो मिथ्या हैं।

लॉक ने हमारे ज्ञान के तीन प्रकार बताये हैं—बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान (Sensitive knowledge), आन्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान (Intuitive knowledge) और परोक्षज्ञान (Demonstrative knowledge)। बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियों के संवेदनों से प्राप्त होता है। मिश्र विज्ञानों में, द्रव्य विज्ञानों को छोड़कर, जितने भी विज्ञान हैं अर्थात् पर्याय-विज्ञान और सम्बन्ध-विज्ञान वे पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने का दावा नहीं करते और इसीलिए उसके ज्ञान के मिथ्या होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। किंतु सरल विज्ञानों और द्रव्य-विज्ञानों के बिम्बों का अस्तित्व आत्मा के बाहर है और इनका ज्ञान या तो पदार्थों के मूल-गुणों के प्रतिबिम्ब का ज्ञान है या उपगुणों का ज्ञान, जो प्रतिबिम्ब या उपगुण मूलगुणों द्वारा आत्मा में उत्पन्न किये जाते हैं। अतः इनके विषय में मिथ्या या सत्य होने का प्रश्न उठता है। यदि प्रतिबिम्ब अपने बिम्बों के समान हैं, तो ज्ञान सत्य है, अन्यथा मिथ्या। सरल विज्ञानों के प्रतिबिम्ब मूलगुणों द्वारा उत्थापित होने के कारण सदा सत्य ही होते हैं क्योंकि मूलगुण, वस्तुओं के वास्तविक धर्म होने के कारण, अपना यथार्थ प्रतिबिम्ब ही आत्मा पर अंकित करते हैं। उपगुणों की सृष्टि भी आत्मा के संवेदनों के रूप में ये मूलगुण ही करते हैं। अतः उपगुण भी यथार्थ ही होते हैं। अतः इन्द्रिय संवेदन-जन्य बाह्य प्रत्यक्ष-ज्ञान का यथार्थ होना असंदिग्ध है क्योंकि संवेदन वस्तुओं के वास्तविक गुणों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। द्रव्य विज्ञानों के विषय में, जो मिश्र विज्ञान है, संदेह अवश्य हो सकता है; क्योंकि हमें द्रव्यों का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। किंतु फिर भी बाह्य पदार्थों के अस्तित्व में लॉक का अखण्ड विश्वास है। इसके लिए वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं :—(१) हमारे संवेदनों का कारण बाह्य पदार्थ हैं, क्योंकि यदि कोई मनुष्य किसी इन्द्रिय से वंचित हो, तो वह तत्सम्बन्धी संवेदनों का ज्ञान नहीं कर सकता। चक्षुविहीन को रूप नहीं दिखाई देता और बहरा शब्द नहीं सुन सकता। (२) संवेदन और स्मरण में अन्तर है। संवेदन अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली होते हैं; स्मरण धुँधले और मन्द। अतः संवेदन को बाह्य-पदार्थजनित ही मानना पड़ता है। (३) हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ, बाह्य वस्तुओं की सत्ता, अपने-अपने संवेदनों से पुष्ट करती हैं। जिस अग्नि को मैं

१. परतः प्रामाण्यवाद

देखता हूँ उसे छूकर भी जान सकता हूँ। अतः बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध है। इसलिए बाह्य-प्रत्यक्षज्ञान यथार्थ होता है।

द्वितीय प्रकार का ज्ञान है आन्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान। यह ज्ञान सबसे अधिक प्रामाणिक और निश्चयात्मक होता है। यह स्वसंवेदन' से होता है। इसमें संवेदनों द्वारा उत्पन्न दो विज्ञानों की परस्पर संगति, बिना किसी तृतीय विज्ञान की सहायता के, स्वतः जानी जाती है। यह ज्ञान स्वत सिद्ध, निश्चयात्मक और असंदिग्ध है। स्वतः सिद्ध इस अर्थ में नही है कि यह आत्मा का सहज विज्ञान है, क्योंकि कोई विज्ञान सहज नहीं हो सकता। स्वतः सिद्ध इस अर्थ में है कि उत्पन्न होते ही यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर लिया जाता है। आन्तर-प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् आत्मा का और उसकी अवस्थाओं का ज्ञान तथा कुछ बौद्धिक मौलिक नियमों का ज्ञान, जिनका बाह्य वस्तुओं से कोई साक्षात् सम्बन्ध नही, स्वतःसिद्ध और असंदिग्ध है। उदाहरणार्थ, हमारे अपने अस्तित्व का ज्ञान, हमारी मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान और यह ज्ञान कि सफेद काला नहीं होता और दो-दो मिलकर चार होते है।

तृतीय प्रकार का ज्ञान है परोक्ष ज्ञान। इसमें दो विज्ञानों की परस्पर संगति अन्य विज्ञानों के माध्यम से जानी जाती है। यह निगमनात्मक तर्क (Deductive Reasoning) की प्रणाली है। ईश्वर का अस्तित्व इसी अनुमान-प्रमाण के आधार पर सिद्ध होता है। इस विराट् विश्व के स्रष्टा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं। गणितशास्त्र इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

हमें अपनी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है आन्तरप्रत्यक्ष द्वारा, जड़ जगत् के अस्तित्व का ज्ञान होता है बाह्यप्रत्यक्ष द्वारा और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है परोक्ष-ज्ञान द्वारा। यही मानव-ज्ञान की सीमा है।

यह लॉक के दर्शन का संक्षिप्त परिचय है। लॉक ने दर्शन में ज्ञान-मीमांसा का महत्व बताकर एक नई परम्परा को जन्म दिया। उन्होंने इन्द्रियानुभववाद (Empiricism) सम्वेदनवाद (Sensationism) और विज्ञानप्रतिबिम्बवाद (Representationism) की प्रतिष्ठा की। लॉक की इस परम्परा का आगे के दार्शनिकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

किन्तु लॉक की ज्ञान-मीमांसा अनेक दोषों से परिपूर्ण है। वस्तुतः इन्द्रिया-नुभववाद की सच्ची प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। इन्द्रियों द्वारा केवल विशेष संवेदनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। जब तक यह बिखरे हुए संवेदन बुद्धि की मौलिक धाराओं और नियमों द्वारा व्यवस्थित न किये जावें, तब तक ये 'संवेदन' मात्र रहेंगे, 'ज्ञान' नहीं बन सकते। ज्ञान का उद्गम इन्द्रियानुभव में कदापि नहीं हो सकता। ज्ञान हमारी आत्मा का सहज और स्वरूप धर्म है। इस सहज निर्विकल्प अनुभूति और उसके

स्वत:सिद्ध मौलिक नियमों को माने बिना ज्ञान की उत्पत्ति हो नहीं हो सकती। हाँ पशुओं के समान हमें भी इन्द्रिय-संवेदनों का पृथक्-पृथक् अनुभव तो होगा, किन्तु इस अनुभव को ज्ञान नहीं कहा जा सकेगा। जब तक बुद्धि के विकल्प इन निरीह और विकल्प-हीन संवेदनों को जो पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, अपने सहज नियमों द्वारा, एक सूत्र में बाँधकर 'ज्ञान' का रूप न द दें, तब तक हमें केवल पाशविक संवेदनों के स्तर पर ही रहना होगा। बुद्धि-विकल्पों के अभाव में दो संवेदनों में परस्पर कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्पों के बिना तो हम 'संवेदन' को सम्वेदन के रूप में भी नहीं जान सकते। हमें संवेदन की 'वेदना मात्र' होगी, उसका 'ज्ञान' नहीं होगा। अत:ज्ञान को इन्द्रिय-संवेदनों से बाँध देने पर वह ज्ञान ही नहीं रहता। इन्द्रियानुभव के आधार कोई दर्शन स्थापित नहीं हो सकता स्वयं इन्द्रियानुभववाद भी नहीं। पुनश्च, यदि थोड़ी देर के लिए इन्द्रियानुभव को सविकल्प बुद्धि से अनुप्राणित और व्यवस्थित 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' भी मान लें तो भी परिणाम घोर असंतोषजनक होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, चाहे वह प्रत्यक्ष वाह्य हो चाहे आन्तर, चाहे दोनों, कोई दर्शन खड़ा नहीं हो सकता। इस अनुभववाद के अनुसार हमें केवल अपने विज्ञानों का ही साक्षात् ज्ञान होगा, जो विज्ञान संवेदन या स्वसंवेदन के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता-न आत्मा की, न जड़जगत् की और न ईश्वर की। यह संवेदनवाद 'संदेहवाद' और अज्ञेयवाद' का जनक है। इसके अनुसार किसी की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती—स्वयं इसकी भी नहीं, और इस प्रकार यह आत्मघात करके समाप्त हो जाता है। हाँ, इन्द्रियसंवेदनों का बड़ा भारी महत्व है। वे हमारे ज्ञान को जगाते हैं, उसे विकसित करते हैं; किन्तु उसे 'उत्पन्न' नहीं कर सकते। ज्ञान के बीज आत्मा के सहज स्वरूप में विद्यमान हैं, वे बाहर से नहीं आते। इन्द्रियानुभव उन बीजों को पल्लवित, पुष्पित, और फलित करता है, वस्तु स्थिति यह है। लॉक ने इसे नहीं समझा और फिर अनुभववाद की आत्मवादी प्रवृत्ति से घबराकर तर्क को ताक में रख दिया तथा ईश्वर, जीव और जगत् तीनों द्रव्यों की सत्ता स्वीकार कर ली। यदि 'द्रव्य' अज्ञेय है तो हम ईश्वर, जड़ और चेतन द्रव्यों की सत्ता कैसे स्वीकार कर सकते हैं? जब द्रव्य से हमारा साक्षात् सम्बन्ध ही नहीं, जब हमारे ज्ञान के विषय केवल हमारे विज्ञान हैं, तो हम अपने विज्ञानों की दुनिया में ही मस्त रह लें, हमें जड़ जगत् आत्मा और ईश्वर से क्या प्रयोजन ? हमारा संसार हमारे मन की ही कल्पना बन जाता है।

लॉक का यह कथन कि आत्मा 'कोरे कागज' या 'अँधेरे कमरे' के समान है और निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-संवेदन को ग्रहण करता है, हास्यास्पद है। आत्मा सक्रिय संग्रह करनेवाला है, निष्क्रिय नहीं। यदि मैं किसी इन्द्रिय का द्वार बन्द कर दूँ, जैसे आँखें मूँद लूँ, तो संवेदन की सामर्थ्य नहीं कि मेरी आत्मा में घुस सके। और, यदि आँख खोलकर भी मैं सक्रिय रूप से संवेदनों को ग्रहण न करूँ तो वे संवेदन

'ज्ञात' ही नही होगे। यदि मेरा ध्यान किसी विचार में रम रहा है, तो बाहर कितना ही शोर हो, मै उसे नही जानता। शोर हो रहा है और मेरी श्रोत्रेन्द्रिय का उससे सम्पर्क भी हो रहा है, किन्तु मै उसे नहीं 'सुनता'। संवेदन है, किन्तु उसका ज्ञान नही है अर्थात् वे (बुद्धि-विकल्प के अभाव मे) ज्ञान के रूप मे परिणत नहीं हो रहे है। मै अपने विचारों में खोया सड़क पर चला जा रहा हूँ, सामने से मेरे मित्र आ रहे है, मेरी चक्षुरिन्द्रिय का उनसे सन्निकर्ष हो रहा है, किन्तु मैं उन्हें नहीं 'देखता' देखकर भी नही देख पाता। यदि आत्मा 'निष्क्रिय' है तो यह सम्भव नही हो सकता।

पुनश्च, हमारे ज्ञान में जो निश्चयात्मकता, प्रामाणिकता और सार्वभौमता है, यह इन्द्रियानुभव से आ नहीं सकती, क्योंकि इन्द्रियानुभव विशेषों का होता है, सामान्यो का नही। लॉक के अनुसार 'सामान्य' कल्पनामात्र है। यदि ऐसा है, तो हमारे ज्ञान में कभी निश्चयात्मकता नही आ सकती। सारा ज्ञान संदिग्ध रहेगा। स्वय इन्द्रियानुभववाद भी सदिग्ध होगा और इस प्रकार अबाधित 'संदेहवाद' को जन्म देकर इन्द्रियानुभववाद आत्महत्या कर लेगा।

लॉक के अनुसार वस्तुतः जड़ द्रव्य और गुण का भेद नहीं हो सकता और न मूलगुण और उपगुण का भेद हो सकता है। इसको बर्कले ने स्पष्ट किया है, अतः इसका विवेचन आगे करेंगे।

एकादश अध्याय

अनुभववाद : बर्कले

जॉर्ज बर्कले (१६८५-१७५३):—बर्कले (George Berkely) का जन्म आयरलैंड में हुआ था। उनकी प्रतिभा असाधारण, प्रवृत्ति धार्मिक और स्वभाव मधुर था। २५ वर्ष की आयु से ही वे अपनी दार्शनिक कृतियाँ प्रकाशित करने लग गये थे। पहले वे डबलिन कॉलिज में अध्यापक हुए। फिर पादरी बन गये। बाद में लन्दन में जाकर विख्यात साहित्यिकों से उन्होंने घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया। उनकी दार्शनिक कृतियाँ भाषा की शैली और साहित्यिक सौन्दर्य से भी पूर्ण हैं। उन्होंने यूरोप का भ्रमण किया और एक नवीन आदर्श समाज स्थापित करने के उद्देश्य से अमेरिका गये। केलिफोर्निया में बर्कले नामक नगर उनके नाम पर बसाया गया था। अमेरिका में सफल न होने के कारण वे आयरलैंड लौट आये और दक्षिण आयरलैण्ड के पादरी बने। साधारण सरल जीवन के प्रेमी होने के कारण, उच्च पद मिलने पर भी वे नहीं गये। धर्म के विचार और रोगियों की सेवा में उनकी विशेष अभिरुचि थी। जीवन के अन्तिम दिनों में वे ऑक्सफोर्ड चले गये और वहीं एकदिन अपराह्न में चाय पीते समय उनका देहान्त हो गया। उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचनायें हैं—'मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Human knowledge) 'हाइलस और फिलोनाउस के तीन संवाद' (Three Dialogues Between Hylas and Philonous)' 'एल्सीफ्रोन या सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक' (Alciphron or the Minute Philospher) और 'सिरिस' (Siris)।

जैसे स्पिनोजा ने अपना दर्शन देकार्त की त्रुटियाँ सुधार कर प्रारम्भ किया, वैसे ही बर्कले ने अपना दर्शन लॉक की भूलें ठीक करके प्रारम्भ किया। बर्कले का लक्ष्य धर्म और दर्शन का सामञ्जस्य करना था। लॉक की ज्ञान-मीमांसा के कुछ सिद्धान्त बर्कले ने स्वीकार किये। लॉक के दर्शन में जो बहुत से विरोध थे उनको बर्कले ने दूर किया। बर्कले भी लॉक के समान अनुभववादी हैं, किन्तु लॉक का इन्द्रियानुभववाद बर्कले में विज्ञानानुभववाद बन गया है। तत्वमीमांसा में बर्कले लाइबनित्ज् के समान चैतन्यवादी हैं। बर्कले का मुख्य उद्देश्य जड़वाद का खण्डन और विज्ञानवाद का मण्डन हैं।

बर्कले ने लॉक के अनुभववाद को स्वीकार किया। हमारे विज्ञान संवेदन या स्वसंवेदन द्वारा आते हैं, हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय विज्ञान ही है, विज्ञान आत्मा में उत्पन्न होते हैं, आत्मा विज्ञानों का आश्रय है, विज्ञान सरल या मिश्र होते हैं—लॉक के ये सिद्धान्त बर्कले को मान्य हैं।

बर्कले के अनुसार लॉक ने अपने इन्द्रियानुभववाद को उचित और पूर्ण रूप से नहीं समझा। इसी कारण उनके दर्शन में विरोध आ गये हैं, और वे जड़वाद, सन्देहवाद तथा अनीश्वरवाद से पूर्णतया बच नहीं पाये हैं। इन सब का मूल कारण उनका जड़वाद हैं अर्थात् बाह्य जड़ पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता मानना। जब लॉक इस बात को मानते हैं कि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हमारे विज्ञान ही हैं, तब बाह्य पदार्थों की सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है? लॉक यह भी कहते हैं कि जड़ द्रव्य 'अज्ञेय' है, कि हमारा उनसे कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, कि हमें केवल गुणो का ही प्रत्यक्ष होता है और साथ ही यह भी मानते हैं कि बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा स्वतन्त्र जड़ पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होता है। किन्तु जब प्रत्यक्ष केवल विज्ञानो का ही होता है, तो बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष कैसे होगा? इस कठिनाई से बचने के लिए लॉक कहते हैं, कि बाह्य पदार्थ का अनुमान कर लिया जाता है। कैसे? उसके गुणों के कारण। द्रव्य के मूलगुण संवेदनो के माध्यम से हमारी आत्मा में अपने प्रतिबिम्ब या प्रतिलिपि अंकित कर देते है। ये प्रतिबिम्ब ही विज्ञान है। हम इन प्रतिबिम्बों को देखकर उस द्रव्य का अनुमान कर लेते हैं जिस द्रव्य के मूलगुणो के ये प्रतिबिम्ब है। प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य का अनुमान हम उसके मूलगुणों के कारण करते हैं कि मूलगुणो के प्रतिबिम्बो के कारण? पहले तो कहा गया था कि हमारा साक्षात् सम्पर्क द्रव्य से न होकर उसके गुणों से होता है। अब कहा जाता है कि वस्तुतः हमारा सम्पर्क मूलगुणों से भी नहीं होता, केवल उनके प्रतिबिम्बों से होता है जो हमारे विज्ञान है। न तो हम द्रव्य को जानते हैं और न उसके मूलगुणों को। हम जानते हैं केवल अपने विज्ञानो को मूलगुणों के प्रतिबिम्ब हैं। यदि ऐसा है, तो प्रश्न यह है कि बिम्बों के ज्ञान के अभाव में हम कैसे कह सकते हैं कि हमारे विज्ञान प्रतिबिम्ब हैं? और कैसे हम इन प्रतिबिम्बो को यथार्थ कहकर अपने ज्ञान को सत्य मान सकते हैं? यदि हम बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों को देख सकते तो हम कह सकते थे कि अमुक प्रतिबिम्ब अमुक बिम्ब का है और ठीक आया है या नहीं। बिम्ब के ज्ञान के अभाव में हम दोनों की तुलना नहीं कर सकते और न अपने विज्ञानों को यथार्थ या अयथार्थ कह सकते है। हमारे लिये तो केवल विज्ञान ही सत्य है। हम न तो अपने विज्ञानों को प्रतिबिम्ब कह सकते हैं न मूल गुणों को बिम्ब। हम मूलगुणों को नहीं जान सकते और न उसके द्वारा बाह्य द्रव्य का अनुमान कर सकते हैं। जब जड़ द्रव्य और उसके मूलगुण दोनो हमारे प्रत्यक्ष के बाहर है, तो द्रव्य और गुण के भेद का प्रश्न नहीं उठ सकता।

इसी प्रकार मूलगुण और उपगुण का भेद भी अनुचित है। कहा गया है कि मूलगुण द्रव्य के वास्तविक धर्म है जो उसमें विद्यमान रहते हैं और जिनका कार्य इन्द्रियो से संपर्क होने पर, हमारी आत्मा में संवेदनों के माध्यम से अपने प्रतिबिम्बों के रूप में विज्ञान उत्पन्न करने का है। इन मूलगुणो का दूसरा कार्य अपनी शक्ति से हमारी आत्मा में संवेदनों से रूप में उपगुण उत्पन्न करने का हैं। उपगुण संवेदन रूप हैं

और आत्मा में रहते हैं। मूलगुण बाह्य पदार्थ में रहते हैं और आत्मा में केवल अपने प्रतिबिम्ब अंकित करते हैं। आकार, विस्तार, गति आदि मूलगुण हैं। रूप, रंग, गन्ध, आदि उपगुण। बर्कले का तर्क है कि मूलगुण और उपगुण में कोई भेद नहीं। जैसे उपगुण आत्मा में रहते हैं, वैसे ही मूलगुण भी, बाह्य पदार्थ में न रहकर, आत्मा में ही रहते हैं। दोनों का अधिष्ठान आत्मा है, दोनों मानसिक धर्म हैं। दोनों संवेदन मात्र हैं। दोनों ही इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं। दोनों आत्मा में उत्पन्न होते हैं, दोनों विज्ञानरूप हैं और दोनों की सत्ता आत्मा पर निर्भर है। शीत या उष्ण स्पर्श मानसिक है— एक ही वस्तु किसी को कम उष्ण और किसी को अधिक उष्ण लगती है। ज्वर में चीनी भी कड़वी लगती है। पीलिया के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है। इसी प्रकार तथा कथित मूलगुण भी द्रष्टा पर निर्भर हैं विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर वस्तुओं का आकार और विस्तार भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। एक ही वस्तु दूर से देखने पर छोटी और पास से देखने पर बड़ी लगती है। एक ही वस्तु सामने से देखने पर गोलाकार लगती है, बगल से देखने पर अण्डाकार प्रतीत होती है। पुनश्च मूलगुण और उपगुण सदा साथ रहते हैं। उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अतः सिद्ध है कि दोनों एक ही प्रकार के गुण हैं और आत्मा में रहते हैं। इनका भेद कल्पित और अनुचित है। इसलिए इन तथाकथित मूलगुणों को बाह्य पदार्थों का वास्तविक धर्म मानना और उनके आधार पर बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करना; दोनों बातें गलत हैं। लॉक अपने सिद्धान्तों को भूलकर ऐसा करते हैं। वे "स्वयं धूल उछालते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि वे देख नहीं सकते।"

बाह्य द्रव्यों की सत्ता के लिए लॉक ने एक प्रमाण यह भी दिया था कि हम 'अमूर्त विज्ञान" अर्थात् काल्पनिक सामान्य या जाति के विज्ञान (Abstract Idea) के बल पर द्रव्य का ज्ञान करते हैं। जैसे हम विशेषों के आधार पर सामान्य की कल्पना करते हैं यथा विविध मनुष्यों को देखकर मनुष्यत्व की कल्पना करते हैं, वैसे ही विविध गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य-सामान्य की कल्पना करते हैं। बर्कले ने बताया कि ये 'अमूर्त या काल्पनिक विज्ञान' असंभव हैं। हम इन्द्रियों द्वारा विशेषों का ही ज्ञान कर सकते हैं, सामान्य का नहीं। 'सामान्य मनुष्य' की कल्पना करते ही किसी मनुष्य विशेष की आकृति मस्तिष्क में आती है। 'काल्पनिक विज्ञान' वदतोव्याघात है। सारे विज्ञान वास्तविक होते हैं। ज्ञान का विषय सदा संवेदन या स्वसंवेदन होता है। और यह एक विशेष और वास्तविक विज्ञान होता है। यह ध्यान देने की बात है कि बर्कले सामान्य का खण्डन नहीं करते। सामान्य और सार्वभौम विज्ञानों की सत्ता उन्हें मान्य है। उनका कथन यह है कि ये सामान्य विज्ञान इन्द्रियानुभव से नहीं आते और न इनको अमूर्त या काल्पनिक विज्ञान कहा जा सकता है। अतः इन तथाकथित 'अमूर्त विज्ञानों' के आधार पर ही बाह्य द्रव्यों की सत्ता नहीं मानी जा सकती।

बर्कले ने यह सिद्ध किया कि तथाकथित बाह्य जड़ पदार्थ का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं। हम इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्यक्ष होता है केवल गुणों का, बाह्य पदार्थ का नहीं। गुणों के अधिष्ठान के रूप में हम बाह्य पदार्थ का अनुमान भी नहीं कर सकते; क्योंकि गुण वास्तव में संवेदन मात्र हैं और इसीलिए आत्मा पर निर्भर हैं, बाह्य पदार्थ पर नहीं। वे आत्म-निष्ठ होते हैं, वस्तु-निष्ठ नहीं। यहाँ एक शंका और हो सकती है। भले ही संवेदन आत्मा में रहे, किन्तु उन संवेदनों को आत्मा में उत्पन्न करने की शक्ति तो बाह्य पदार्थ में ही माननी पड़ेगी। बाह्य पदार्थ को इन संवेदनों की उत्पत्ति का कारण मानना पड़ेगा। यदि मेज वस्तुत: न हो तो आत्मा में उसका संवेदन भी उत्पन्न नहीं हो सकता। हम बहुत से विज्ञानों की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु बाह्य पदार्थों के अभाव में उनके संवेदन प्राप्त नहीं कर सकते। फिर, यदि बाह्य पदार्थ हमारे विज्ञान मात्र हो तो वे सबको लगभग एक ही रूप में क्यों प्रतीत होते है ? यह तो स्पष्ट ही है कि जिन संवेदनों को इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों से ग्रहण करती है, उन संवेदनों को हम स्वयं उत्पन्न नही कर सकते। अत: बाह्य पदार्थों की सत्ता माननी पड़ेगी। बर्कले का उत्तर है कि यह अनावश्यक और भ्रमपूर्ण विचार हैं। यह सत्य है कि इन इन्द्रिय-संवेदनों को हमारी आत्मा स्वत: उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन संवेदनों के जनक तथाकथित बाह्य जड़ पदार्थ हैं। जो जड़ है, जो अशक्त है, जो न द्रष्टा है, न दृश्य है, जो न ज्ञाता है न ज्ञेय हैं, वह तथाकथित बाह्य पदार्थ हमारी चेतन आत्मा पर कैसे अपने गुणों की (जो उसमें विद्यमान ही नहीं है) छाप अंकित कर सकता है ? विज्ञानों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य जड़ में नहीं हो सकता। अत: इन विज्ञानों की उत्पत्ति का कारण चेतन आत्मा को ही मानना पड़ेगा। और चूँकि हमारी आत्मा इंद्रिय-संवेदनों को स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकती, इसीलिए इनकी उत्पत्ति का कारण परमात्मा को मानना चाहिए। ईश्वर ही इन इन्द्रिय-संवेदन रूपी विज्ञानों को हमारी आत्मा में उत्पन्न करते हैं। यह सामर्थ्य तथाकथित जड़ द्रव्यों का नहीं हो सकता। अत: सिद्ध हुआ कि तथाकथित बाह्य जड़ पदार्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं। लॉक का यह अज्ञेय बाह्य द्रव्य जिसके विषय में वे कहते हैं कि यह "कुछ है, किन्तु मैं नहीं जानता क्या है" (Something I know not what) यह 'मूर्खतापूर्ण चेतना-शून्य जड़' (Stupid thoughtless some what) वास्तव में शून्य (Nothing) है।

जड़ तत्व का खण्डन करके बर्कले अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है—"सत्ता अनुभवमूलक है" (Esse Est Percipi) अर्थात् उसी को सत्ता मानी जा सकती है जो अनुभव करता है या अनुभव किया जाता है अनुभव-कर्ता है आत्मा और अनुभव के विषय है विज्ञान। अत: आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। ईश्वर भी आत्मस्वरूप है। वे परमात्मा हैं। विज्ञान अजड़ है। वे तथाकथित बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब या प्रतिकृति नहीं है।

वे आत्म-निष्ठ हैं, ब्राह्य-वस्तुनिष्ठ नहीं हैं। विज्ञान-ब्राह्य कोई विषय नहीं। जड़ तत्व की कोई सत्ता नहीं। कुछ विज्ञानों को आत्मा स्वयं उत्पन्न करती है और कुछ को ईश्वर। विज्ञान के दो रूप है—संवेदन और स्वसंवेदन। संवेदनों की सृष्टि ईश्वर करते है। स्वसंवेदनों की सृष्टि आत्मा करती है। लाइबनित्ज़ ने कहा था—चिदणु और उसके प्रतिबिम्बों के अतिरिक्त कोई सत्ता नही। बर्कले ने कहा—आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त कोई सत्ता नही। हमारे विज्ञान ही सत्य वस्तुयें है। बर्कले की प्रसिद्ध उक्ति है—"मैं वस्तुओं को विज्ञान नही बनाता मै विज्ञानों को वस्तु बना रहा हूँ।" विज्ञान ही सत्य विषय है और उसकी सत्ता आत्मा के बाहर नही है आत्मा का अर्थ यहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों है। बहुत से विज्ञान मेरी आत्मा के बाहर है किन्तु परमात्मा के बाहर नही। संसार के समस्त दृश्य पदार्थ, घट, पट, मेज, कुर्सी, पेड़, पौधे सूरज, चाँद, तारे आदि सब हमारे ही विज्ञान है; सब आत्मा में विद्यमान है। प्रतीति होना या अनुभव किया जाना अस्तित्व का द्योतक है। मान लीजिये, मेरे सामने मेज रक्खी है। मेज कोई 'ब्राह्य जड़ पदार्थ' नही है, वह 'विज्ञान मात्र' है और आत्मा की सृष्टि है। जब तक मैं मेज को देख रहा हूँ उसका अस्तित्व है। किन्तु जब मैं कमरे के बाहर चला जाऊँगा तो क्या मेज की सत्ता नहीं रहेगी? बर्कले का उत्तर है—अवश्य रहेगी। 'प्रतीति का विषय होना सत्ता का सूचक है'—इस वाक्य के अनुसार 'प्रतीति का विषय बनने का सामर्थ्य' भी इसके अन्तर्गत आ जाता है यदि मै कमरे में न रहूँ तो भी मेज की सत्ता बनी रहेगी, क्योकि, (१) यदि मै कमरे मे होता तो मुझे मेज की प्रतीति हो सकती थी, अर्थात मेज में मेरी प्रतीति का विषय बनने का सामर्थ्य विद्यमान है, (२) अन्य कोई व्यक्ति उस मेज की प्रतीति कर रहा हो, (३) ईश्वर को उस मेज की प्रतीति सदा हो रही है। अत: बर्कले के अनुसार विज्ञानों की सत्ता बनी रहती है; क्योकि उनमे प्रतीति के विषय बनने का सामर्थ्य है, क्योकि कोई न कोई जीव उनकी प्रतीति कर रहा है, और क्योकि ईश्वर को उनकी प्रतीति सदा हुआ करती है।

बर्कले ने जो 'विज्ञान' शब्द का अर्थ किया (अर्थात 'अनुभव का विषय')। उसे न समझकर और उसे साधारण प्रचलित अर्थ में ब्राह्य वस्तुओ द्वारा जनित संस्कार या मानसिक कल्पनामात्र मानकर लोगों ने बर्कले पर व्यर्थ के दोष थोपे है। बर्कले ने स्वयं इस सिद्धान्त पर किये जानेवाले आक्षेपों को पूर्वपक्ष बनाकर उनका उत्तर दे दिया है। इस प्रकार के कुछ आक्षेप ये हैं:—यदि ब्राह्य पदार्थ केवल हमारे मानसिक विज्ञान है, तो क्या हम विज्ञानों को खाते हैं, विज्ञानों को पीते है और विज्ञानों को पहनते हैं? फिर तो, "मैं जल पी रहा हूँ।" इस वाक्य का अर्थ हुआ। 'मेरा विज्ञान जल के विज्ञाग को पी रहा है।' बर्कलेकृत ब्राह्यपदार्थों का खण्डन सुनकर, सुनते हैं, डाक्टर जाँनसन ने जोर से जमीन पर पैर पटका। उनका तात्पर्य, यह बताकर

कि यदि वस्तुयें नहीं है तो पैर जमीन पर-पटकने से आवाज क्यों निकली, इस 'मूर्खता-पूर्ण सिद्धान्त' को पैर के नीचे कुचल देने का था। बाइरन की उक्ति है 'यदि जड़ तत्व नही है और बर्कले ने इसे सिद्ध किया है, तो उनके कथन में कोई तत्व नहीं[१]।' ये सब आक्षेप निर्मल है; क्योंकि 'बर्कले ने विज्ञान' का प्रयोग 'प्रतीति-विषय' के अर्थ में किया है, 'काल्पनिक विचार के अर्थ में नहीं[१]।

असली दार्शनिक आक्षेप जो इस सिद्धान्त पर प्रायः किया जाता है वह यह है: यह सिद्धान्त बर्कले को 'दृष्टिसृष्टिवादी' वा 'जीवसृष्टविज्ञानवादी' (Subjective Idealist) और 'अहंवादी' (Solipsist) बना देता है। इसके अनुसार जीवात्मा ही, इन्द्रियसंवेदनरूप विज्ञानों द्वारा प्रतीति के समय जगत् की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण-जगत् जीव की सृष्टि है और जबतक प्रतीति है तब तक ही जगत है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'मैं और मेरे विज्ञान' के अतिरिक्त और कोई सत्ता नही। इसके अनुसार ज्ञान को इन्द्रिय संवेदनों से जकड़ दिया गया है, क्योंकि इन्द्रिय संवेदनों के अतिरिक्त मेरे मन की कल्पनाओं को छोड़कर और कोई अनुभव का विषय नही। किन्तु ये आपेक्ष भी निर्मूल है। बर्कले का अभिप्राय न दृष्टिसृष्टिवाद है और न अहंवाद। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जीवात्मा जगत् की सृष्टि नहीं करता। जगत अर्थात् विज्ञान जगत् की सृष्टि उन विज्ञानों की सृष्टि जो इन्द्रियसवेदन के रूप में हमारी आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, ईश्वर करते हैं। उनका तात्पर्य इतना ही है कि जगत् आत्मा-बाह्य नही है। जीवात्मा के बाहर तो है, किन्तु परमात्मा के बाहर नहीं "मैं और मेरे विज्ञानों के अतिरिक्त अन्य जीव और उनके विज्ञान भी हैं और ईश्वर तथा उनके विज्ञान भी। 'सत्ता अनुभवमूलक है"—इस सिद्धान्त में 'अनुभव' शब्द से केवल 'इन्द्रियानुभव' का ही तात्पर्य नहीं है, अपितु इसमें 'अन्तर्बोध' या 'निर्विकल्प स्वानुभूति' का भी समावेश हो जाता है। वास्तविक सत्ता ईश्वरीय ज्ञान की है। उसके आगे इन्द्रियानुभव तुच्छ है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए बर्कले ने अपने इस सूत्र को कि 'सत्ता अनुभव-मूलक है।" (Esse Est Conicipi) बाद में इस सूत्र में बदल दिया—"सत्ता अन्तर्बोध-मूलक है।" (Esse Est Percipi)। प्रायः आलोचक इन बातों को भूल जाते हैं और बर्कले पर मिथ्या दोषारोपण करने में नहीं हिचकिचाते। बर्कले के अनुसार जगत् की सत्ता हमारे इन्द्रियानुभव पर आश्रित न होकर ईश्वर के ज्ञान पर आश्रित है।"[२]

---

1. If there is no matter and Berkeley has proved it, it is no matter what he said.

२. बर्कले का मत असंग, बसुबन्ध आदि नित्यज्ञानवादी बौद्धों के मत से आंशिक समानता रखता है, किन्तु बाद के दिङ्नाग धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित आदि अनित्यविज्ञानवादियों के मत से इसकी समानता नहीं है।

बर्कले ने आत्म-तत्व का प्रतिपादन किस प्रकार किया, यह भी जान लेना चाहिए। हमारे ज्ञान के विषय केवल विज्ञान ही हैं फिर हम 'आत्मा' का कैसे करते हैं ? आत्मा तो 'ज्ञाता' है विज्ञान उसके 'ज्ञेय' हैं। इस ज्ञाता का ज्ञान कैसे होता है ? बर्कले का उत्तर है कि अपनी आत्मा का ज्ञान तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वानुभूति से प्रत्यक्ष हो रहा है। इसके विषय में किसी को कोई शंका नहीं। विज्ञान ज्ञान के विषय हैं, अतः इनका ज्ञाता अवश्य होना चाहिए। वह ज्ञाता आत्मा ही हैं जो विज्ञानों से पृथक है और जो विज्ञानों का अधिष्ठान है। आत्मा का कार्य ईश्वर सृष्ट संवेदनों को ग्रहण करना और स्वसंवेदनों का निर्माण करना है। लॉक ने आत्मा को निष्क्रय बताकर बड़ी भूल की है। आत्मा का अस्तित्व उसकी सक्रियता में है, उसकी चिन्तन शक्ति में है।

अन्य जीवात्माओं का ज्ञान हमें 'विज्ञानों' से नहीं होता, क्योंकि विज्ञान या तो इन्द्रिसंवेदनरूप हैं या उनके स्वसंवेदनरूप और इनकी पहुँच 'आत्मा' तक नहीं होती, क्योंकि आत्मा इन्द्रियानुभव का विषय नहीं है। अन्य आत्माओं का हमें 'अन्तर्बोध (Notion) होता है, विज्ञान (Idea) नहीं आत्मा की विशेषता उसकी क्रियाशीलता में है। वह चिन्तन-शक्ति से अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। अन्य जीवों की चिन्तन-शक्ति के कार्यों को देखकर हम उनके अस्तित्व का अनुमानकर लेते हैं, क्योंकि हम यह जान सकते हैं कि जो कार्य हम अपनी चिन्तन-शक्ति से कर सकते हैं वे ही कार्य ये लोग भी कर रहे हैं, अतः ये भी आत्म-रूप हैं।

'अन्तर्बोध' और 'विज्ञान' में बर्कले ने चार भेद बताये हैं—

(१) विज्ञान इन्द्रियानुभव से होता है, अन्तर्बोध प्रज्ञा से।

(२) विज्ञानों का ज्ञान विशेषों का ज्ञान है, अन्तर्बोध सामान्य और सार्वभौम ज्ञान है।

(४) विज्ञान पशुओं को भी होता है, अन्तर्बोध केवल मानवों को और ईश्वर को।

(४) जहाँ विज्ञान की गति नहीं होती, वहाँ अन्तर्बोध होता है।

अन्तर्बोध विज्ञान नहीं है और न वह सामान्य होने के कारण 'अमूर्त विज्ञान' हो सकता है। 'अमूर्त विज्ञान' एक असंगत कल्पना है। अन्तर्बोध का स्वसंवेदनरूप विज्ञान से सादृश्य तो है, किन्तु महत्वपूर्ण भेद यह है कि स्वसंवेदन इन्द्रियज्ञान है, क्योंकि अन्तःकरण से होता है, और अन्तर्बोध प्रज्ञा से होता है, इन्द्रियों से नहीं। अन्तर्बोध बुद्धि विकल्पों से भी भिन्न है, क्योंकि अन्तर्बोध निर्विकल्प और साक्षात् होता है, परोक्ष नहीं। अतः अन्तर्बोध इन्द्रियानुभव और सविकल्प बुद्धि दोनों से भिन्न है। अन्तर्बोध में हमें (१) अन्य आत्माओं का, (२) अपनी मानसिक क्रियाओं का और

(३) सम्बन्धों का ज्ञान होता है। अन्तर्बोध का विषय विज्ञान नहीं हो सकता, हाँ विज्ञान अन्तर्बोध के विषय (आत्मा) का विषय होता है।

परमात्मा होने के कारण ईश्वर का भी हमें अन्तर्बोध होता है। अन्य आत्मायें जीवात्मायें हैं, ईश्वर परम और अनन्त आत्मा है ईश्वर के विषय में बर्कले की अनुमान-प्रक्रिया इस प्रकार है : यह मेरी आत्मा में विज्ञानों का अनवच्छिन्न प्रवाह चलता रहता है जिसकी मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है। विज्ञानों का कोई कारण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि कोई कार्य अकारण नहीं होता। इन विज्ञानों के चार संभावित कारण हो सकते है—(१) विज्ञान (२) जड़ तत्व (३) जीवात्मा या (४) परमात्मा। विज्ञान स्वयं निष्क्रिय और विषय-रूप है। अतः एक विज्ञान दूसरे विज्ञान का कारण नहीं हो सकता। जड़तत्व की कोई सत्ता नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है। जीवात्मा भी जगत-विज्ञान का कारण नही हो सकती, क्योंकि जीवात्मा इन इन्द्रियसवेदनरूप विज्ञानों को ग्रहण करती है, इन्हे उत्पन्न नही, कर सकती। ये विज्ञान जीवात्मा की इच्छा या संकल्प पर निर्भर नही होते। यदि मेरी इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती है और मेज मेरे सामने है, तो मुझे मेज-विज्ञान का ग्रहण करना ही पड़ेगा। पुनश्च, ये विज्ञान किसी विशेष आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। और इन जगत-विज्ञानों में एकतन्त्रता और निश्चित क्रम है। अतः इनको जीव-सृष्ट न मानकर ईश्वर सृष्ट ही मानना पड़ता है। अतः ईश्वर की सत्ता में हमें अनिवार्य रूप से विश्वास करना पड़ता है। यह विश्वास अन्धविश्वास नही है। यह युक्ति-युक्त और अन्तर्बोध का विश्वास है। ईश्वर की सत्ता इसी विश्वास पर निर्भर है—Esse Est Credi.

बर्कले के अनुसार आत्मा का स्वरूप चित्-शक्ति है जिसमें बोध और संकल्प दोनों का समावेश है। हमारी आत्मा का ज्ञान हमें अपनी चित्-शक्ति से प्रत्यक्ष हो रहा है। अन्य आत्माओं का ज्ञान हमें अन्तर्बोध से होता है और यह अन्तर्बोध अनुमान से पुष्ट किया जाता है। अन्य आत्माओं का ज्ञान हम उनकी चित्शक्ति को कार्यों से करते हैं अन्य जीवात्माओं का अनुमान हम उनकी चित्शक्ति के कार्यों से करते हैं जो कार्य हमारी चित्-शक्ति के कार्यों के समान होते हैं। ईश्वर का अनुमान हम उनकी चित्-शक्ति के कार्यो से अर्थात् जगत-विज्ञानो से करते है जिनमें सार्वभौमता, निश्चित क्रम और एकतन्त्र होती है और जो संवेदनरूप से हमारी आत्माओं में प्रविष्ट होते हैं। जीवसंवेदन ग्रहण करने मे निष्क्रिय और स्वसंवेदन उत्पन्न करने में सक्रिय होते हैं।

ईश्वर में अटल विश्वास रखने और जगत्-विज्ञानों को ईश्वरसृष्ट (जीव-सृष्ट नहीं) मानने के कारण बर्कले दृष्टिसृष्टिवादी (Subjective Idealism) मानसवाद (Mentalism) और अहंवाद (Solipsism) के दोषों से सर्वथा बच

जाते हैं। जगत् विज्ञान, जो स्वयं निष्क्रिय और विषयरूप है, ईश्वर सृष्ट होने के कारण सत्य हैं। अतः बर्कले के दर्शन में जगत् न तो हमारी मनोमय कल्पना है और न असत् है। उनके दर्शन को न सम्झने के कारण प्रायः ये निर्मूल आक्षेप उन पर किये जाते हैं। 'विज्ञान' शब्द से उनका तात्पर्य है—'अनुभव का विषय' और चूंकि जगत् हमारी अनुभूति का विषय है, इसीलिये वह 'विज्ञान' है। 'विज्ञानका' अर्थ उनके दर्शन में 'कोरी मानसिक कल्पना' नहीं है। कोई विज्ञान काल्पनिक (Abstract) नही हो सकता। प्रत्येक विज्ञान एक विशेष पदार्थं (Particular thing) और अनुभव-विषय (Concrete object)। विज्ञान दो प्रकार के हैं—संवेदनरूप और स्वसंवेदन रूप। संवेदनरूप विज्ञान ईश्वर-सृष्ट हैं, ये ही तथाकथित बाह्य जगत् है। स्वसंवेदन रूप विज्ञान, इनके आधार पर, जीवात्मा की सृष्टि हैं। अनुभविता आत्मा और अनुभूत विज्ञान अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय—इन दो के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नही है। ये दोनों अनुभव के ही दो रूप हैं। अतः सत्ता अनुभवमूलक है जिसे हम 'जगत्' कहते हैं वह हमारा 'संवेदनपुंज' मात्र है। अतः अनुभव-बाह्य नहीं है। 'जगत्' की सृष्टि आत्मा (परमात्मा) द्वारा होती है और इसका ज्ञान भी आत्मा (परमात्मा और जीवात्मा) द्वारा ही होता है। अतः जगत् अपनी उत्पत्ति और ज्ञान दोनों के लिए आत्मा-साक्षेप है। क्या लकड़ी-पत्थर-अग्नि-जल आदि विविध दृश्य पदार्थों का यह समस्त जगत् हमारी आत्मा में स्थित है और क्या हम अपने विज्ञानों को ही खाते, पीते, पहनते, ओढ़ते, बिछाते हैं? आदि सस्ते और बाजारू आक्षेपों का उत्तर देते हुए बर्कले कहते हैं कि "इस दृश्य जगत् को विज्ञानरूप कहने का मेरा तात्पर्य यही है कि यह हमारा सम्वेदन पुंज मात्र है और अनुभव-बाह्य नहीं। इसकी सत्ता हमारी अनुभूति का विषय बनने में है। अनुभविता के बिना इसका अस्तित्व नही हो सकता। यह आत्मसापेक्ष है। जब मैं कहता हूँ कि जगत्-पदार्थ मेरी आत्मा में स्थित हैं य मेरी इन्द्रियों पर अंकित हैं तो मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि ये आत्मा में उस रूप में। 'स्थित' या 'अंकित' हैं जिस रूप में (तथाकथित) 'भौतिक-पदार्थ' आकाश में स्थित रहते हैं या जिस रूप में मोहर चपड़ी पर अकित होती है। मेरा अभिप्राय इतना ही है कि ये आत्मा द्वारा 'ज्ञात' या 'अनुभूत' होते हैं मैं वस्तुओं को विज्ञानों में परिणत नहीं करता; मैं तो विज्ञानों को वस्तुओं में प्ररिणत कर रहा हूँ।" आगे चलकर बर्कले यह स्पष्ट करते हैं कि "इस इन्द्रियसंवेदन पुंज-रूप जगत् की सृष्टि मैं स्वयं नहीं करता; मैं तो इसे ग्रहण करता हूँ। इसकी सृष्टि परमात्मा द्वारा होती है।"

एक समस्या और रह जाती है। क्या यह विज्ञानरूप जगत् नित्य है अथवा परिवर्तनशील? क्या इसकी सत्ता वास्तविक है अथवा व्यावहारिक? बर्कले को परमार्थ और व्यवहार का भेद मान्य है उन पर प्लेटो का प्रभाव पड़ा है। उनका उत्तर है कि ईश्वर के विज्ञानरूप में यह जगत, नित्य, सत्य और शाश्वत है, किन्तु हमारे विज्ञानरूप में यह अनित्व और क्षणिक है। हमारा इस जगत् का ज्ञान इन्द्रिया-

नुभव मात्र है (Perception), अतः क्षणिक और क्षीण है। ईश्वर का ज्ञान सदा दिव्य अन्तर्बोध (Conception or Notion) रूप होता है, अतः वह नित्य और सत्य है। ईश्वर के विज्ञान "नित्य और मौलिक बिम्ब" (Eternal Archetypes) है। हमारे विज्ञान "अनित्य और गौण प्रतिबिम्ब" (Temporal Ectypes) हैं। बिम्ब-विज्ञानों का ज्ञान ईश्वर को होता है, हमें नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बविज्ञान ईश्वर द्वारा सृष्ट होते हैं, किन्तु इनका ज्ञान हमें होता है। ईश्वर की प्रतिबिम्ब विज्ञानों के ज्ञान की अपेक्षा नही, क्योंकि उन्हें सदा ही इसके मूल बिम्बों का ज्ञान होता रहता है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता ईश्वर द्वारा अनुभूत होने में हैं (Esse Est Concipi), हमारी अनुभूति का विषय बनने में जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता है (Esse Est Percipi)।

विधि का यह विचित्र विधान है कि पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में 'प्लेटो के इस मानस-पुत्र' को (Spiritual Child of Plato) इन्द्रियानुभववादी लॉक और ह्यूम के बीच की श्रृङ्खलामात्र माना जाता है और एक ओर इन्हें "दोष रहित लॉक" (Locke Purged) और दूसरी ओर "अपूर्ण ह्यूम" (Incomplete Hume) कहा जाता है। इस कथन में आंशिक सत्य तो है, किन्तु इसी को पूर्ण सत्य मान लेना बर्कले के साथ घोर अन्याय करना है। यह सत्य है कि बर्कले लॉक के दोषों की आलोचना से अपना दर्शन प्रारभ करते है। यह भी है कि व्यावहारिक पक्ष में उनको लॉक के इन्द्रियानुभववाद के कुछ मौलिक सिद्धान्त मान्य हैं। यह भी सत्य है कि ह्यूम ने उन्ही युक्तियों से जिनके द्वारा बर्कले ने लॉक के जड़त्व का खण्डन किया, बर्कले के आत्म-तत्व का खण्डन करने का प्रयास किया है किन्तु बर्कले को विशुद्ध इन्द्रियानुभववादी मानना उतना ही असत्य है जितना अशोभनीय। मानव-विज्ञान का स्रोत इन्द्रियानुभव में है, किन्तु यह असली ज्ञान नहीं। यह व्यावहारिक प्रतीतिमात्र है। विशुद्ध ज्ञान ईश्वरी ज्ञान है जो इन्द्रियानुभवरूप न होकर निर्विकल्प अन्तर्बोधरूप है। बर्कले को जगत् की व्यावहारिक सत्यता, उसकी ईश्वर द्वारा सृष्टि, उसका अनुभव-वाह्य न होना, उसका आत्मा का प्रतीति का विषय बनना आदि सर्वथा मान्य है। बर्कले को, जड़वाद' सन्देहवाद और अनीश्वरवाद के कट्टर शत्रु और ईश्वरीय विज्ञान के उपासक बर्कले को दृष्टिसृष्टिवादी, क्षणिकवादी, मानसवादी और अहंवादी मानना न केवल बर्कले का अपमान करना है, किन्तु साथ ही अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना भी है। जड़वाद के खण्डन में बर्कले के तर्क अकाट्य हैं।

बर्कले के दर्शन में दोष भी हैं। उनका दर्शन एकांगी रह गया है। इन्द्रियानुभव और अन्तर्बोधानुभव का सामजस्य वे पूर्णरूप से नहीं कर पाये हैं। विविध जीवात्माओं के अनुभव का, जीवात्मा और जगत् का, जीवात्मा और परमात्मा का, परमात्मा और जगत् का समन्वय उसके दर्शन में नहीं हो सका है।

द्वादश अध्याय

अनुभववाद : ह्यूम

डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) :—ह्यूम (David Hume) का जन्म स्काटलैंड में हुआ। एडिनबरा विश्वविद्यालय में पढ़े। ग्रीक और लैटिन भाषायें जानते थे। ग्रीक और रोमन साहित्य का अच्छा अयध्यन किया था। साहित्य, दर्शन और इतिहास के प्रति अभिरुचि थी। इसाई धर्म के क्रूर आलोचक थे। २५ वर्ष की आयु में ही फ्रांस में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक 'मानव स्वभाव पर निबन्ध' (Treatise on Human Nature) लिखी थी। उस समय दर्शन की इस युगान्तरकारी रचना की लोगों ने उपेक्षा ही की। ह्यूम ने स्वयं लिखा है 'प्रेस से मानों वह मृतक उत्पन्न हुई थी।' ह्यूम को जीवन में काफी निराशा मिली थी। उनकी 'इङ्गलैंड के स्टुअर्ट राज्य का इतिहास' बहुत प्रसिद्ध और निष्पक्ष रचना है। विख्यात अर्थशास्त्री एडम स्मिथ और इतिहासज्ञ एडवर्ड गिबन पर उनका काफी प्रभाव पड़ा है। रूसों से उनका अच्छा परिचय था। वे एडिनबरा के पुस्तकालयाध्यक्ष इंगलैण्ड के पेरिस स्थित राजदूत के सेक्रेटरी और स्टाकलैंड में सहायक राजमंत्री रहे थे। जीवन का अन्तिम समय एडिनबरा में बिताया। मृत्यु के समय भी वे सदा की भाँति प्रसन्न रहे।

ह्यूम में इन्द्रियानुभववाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा है। ह्यूम अपने लक्ष्य पर पहुँच गये—यह कहना तो कठिन हैं, हाँ यह अवश्य सत्य है कि वे वहाँ तक पहुँच गये जिसके आगे जाने का कोई मार्ग नहीं है। इस दिशा में लॉक और बर्कले के अधुरे काम को उन्होंने पूरा कर दिया। लॉक के इन्द्रियानुभववाद के मूल सिद्धान्तों को मानकर ह्यूम चले और जहाँ लॉक और बर्कले आधे रास्ते से ही लौट आये, ह्यूम ने मार्ग के अन्त तक पहुँच कर ही दम लिया। इन्द्रियानुभववाद को गले लगाकर भी लॉक ने देकार्त के तीनों तत्वों की ईश्वर, जीव और जगत् की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की। बर्कले ने गड़तत्व का खण्डन करके केवल आत्म-तत्व को—जीवात्मा और परमात्मा दोनों को—माना। ह्यूम ने आत्म-तत्व की सत्ता का भी निराकरण करके जीव और ईश्वर दोनों को ठुकरा दिया। ह्यूम ने निर्भीक होकर घोषणा की कि इन्द्रियानुभव को मानने पर किसी 'तत्व' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती—न ईश्वर की न जीव की और न जगत् की। ह्यूम का यह कथन सर्वथा सत्य है। लॉक के हाथों पड़कर दर्शन तत्व-मीमांसा से अजिक ज्ञान मीमांसा बन गया। बर्कले ने ज्ञान-मीमांसा को महत्व देते हुए तत्व-मीमांसा को भी निभाया। ह्यूम ने ज्ञान-मीमांसा

को ही अपनाया और उसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं आलोचना बना दिया। इन्द्रियानुभववाद, ह्यूम में, सन्देहवाद और अज्ञेयवाद बन गया।

ह्यूम लॉक से इस बात में सहमत है कि हमारे ज्ञान का एक मात्र स्रोत इन्द्रियानुभव है जिसके सवेदन और स्वसवेदन ये दो रूप हैं जिन पर हमारे विज्ञान निर्भर है। बर्कले से वे इस बात मे सहमत है कि सत्ता इन्द्रियानुभवमूलक है और सारे विज्ञान विशेष तथा वास्तविक होते है एव संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नही है। लॉक के अनुसार विज्ञान या बाह्य पदार्थों के मूल गुणों के प्रतिविम्ब है, या संवेदनरूप उपगुण और स्वसंवेदन द्वारा उत्थापित विचार है। बर्कले के अनुसार विज्ञान किसी के प्रतिबिम्ब नही है, अपितु संवेदन या स्वसंवेदन ही विज्ञान है। ह्यूम के अनुसार विज्ञान किसी बाह्य वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं हैं अपितु संवेदन या स्वसवेदन के ही प्रतिबिम्ब है। लॉक के विज्ञानों को संवेदन और स्वसंवेदन से भिन्न माना। बर्कले ने इस भेद को मिटा दिया और संवेदन या स्वसवेदन को ही विज्ञान माना। ह्यूम ने लॉक के इस भेद की पुनः स्थापना की किन्तु इसको केवल स्पष्टता की न्यूनाधिक मात्रा का भेद ही माना।

ह्यूम के अनुसार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान केवल दो विषयों पर आश्रित है—इन्द्रियसंस्कारों पर और विज्ञानों पर। इन्द्रिय-संस्कार (Impression) शब्द का प्रयोग ह्यूम ने सर्वप्रथम किया। किन्तु इसका अर्थ नवीन नही है। संवेदन और स्वसंवेदन के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। विज्ञान इन संस्कारों के प्रतिबिम्ब है। सस्कार और विज्ञान का भेद गौण है अर्थात् अनुभव की स्पष्टता और तीव्रता की न्यूनाधिकता का भेद है। संस्कारों की प्रतीति सुस्पष्ट और तीव्र होती है, विज्ञानों की अस्पष्ट और क्षीण। संस्कार इन्द्रियज होते है। चूंकि इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती है अर्थात् पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ जिनसे बाह्य पदार्थो का अनुभव होता है और अन्तःकरण जिससे मनोभावों का अतः संस्कार भी दो प्रकार के हैं—एक तो पञ्चज्ञानेन्द्रियों के संस्कार जिनको सवेदन कहते है और दूसरे अन्तःकरण के संस्कार जिनको स्वसंवेदन कहते है। ह्यूम ने संवेदन और स्वयंवेदन दोनों को मिलाकर इन्द्रिय-संस्कार का नाम दिया है। ये संस्कार हमारे मानस पर जो प्रतिबिम्ब या प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं उनको विज्ञान कहते है। ह्यूम के ही शब्दों से—"इन दोनों का भेद उस तीव्रता और स्पष्टता की मात्रा में है जिसके साथ ये हमारे मानस से टकराते है और हमारी आत्मा में प्रवेश करते हैं। उन प्रत्यक्षों को जो बड़ी शक्ति और तेजी के साथ आते है, हम 'संस्कार' (Impressions) कहते है, और इस नाम के अन्तर्गत मैं अपनी सभी इन्द्रियसंवेदनों (Sensations) को, मनोवेगों (Passions) को और भावनाओं (Emotions) को समझता हूँ जो आत्मा में सबसे पहले प्रवेश करती हैं। 'विज्ञानों' (Ideas) से मेरा तात्पर्य, विचार या चिन्तन पर बनने वाले इनके (संस्कारों के) प्रतिरूपों

(Images) से है।" रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द की साक्षात् प्रतीति संवेदन-संस्कार है। सुख, दुःख, प्रेम, घृणा, क्रोध आदि की साक्षात् प्रतीति स्वसंवेदन-संस्कार है। इनकी साक्षात् प्रतीति तीव्र और स्पष्ट होती है। किन्तु जब इनकी साक्षात् प्रतीति हट जाती है और इनका वेग कम हो जाता है, तब चिन्तन या स्मृति में इनके क्षीण प्रतिबिम्ब रह जाते हैं जिनको हम विज्ञान कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इनके भेद का अनुभव स्वयं होता है। जिस प्रकार लॉक के 'सरल विज्ञान' सारे ज्ञान के आधार हैं, उसी प्रकार ह्यूम के 'संस्कार' भी सारे ज्ञान के आधार हैं। लॉक के समान ह्यूम ने भी विज्ञानों को सरल और मिश्र माना है, किन्तु दोनों के अर्थों में भेद हैं। लॉक के अनुसार सरल विज्ञान वे हैं जो संवेदन या स्वसंवेदन या दोनों से प्राप्त होते हैं और मिश्र विज्ञान वे हैं निको आत्मा सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनाती है। ह्यूम के अनुसार सरल विज्ञान वे हैं जो अपने मूल संस्कारो के प्रतिरूप होते हैं और मिश्र विज्ञान वे हैं जिनके मूलसंस्कारो का होना अनिवार्य नहीं। पहले ह्यूम ने यह कहा कि विज्ञान संस्कारो के प्रतिबिम्ब होते हैं। बाद में जब उन्होंने देखा कि यह नियम सार्वभौम नहीं, तो इस में सुधार करने के लिये विज्ञानों के सरल और मिश्र, ये दो भेद कर दिये और कहा कि सरल विज्ञानो के मूल बिम्बो का होना आवश्यक है; किन्तु मिश्र विज्ञानो के लिये यह नियम नहीं है। बिना संस्कार के सरल विज्ञान नहीं हो सकता। जन्मान्ध को कभी प्रकाश या रूप का विज्ञान नहीं हो सकता और बहरे को शब्द का। ह्यूम ने संस्कारो को भी सरल और मिश्र माना है। सरल विज्ञान प्रधान हैं। ये संस्कार ही ज्ञान के मूल स्रोत हैं। जहाँ संस्कार नहीं, वहाँ विज्ञान नहीं हो सकता। जिस वस्तु का संस्कार नहीं होता उसका ज्ञान केवल भ्रम है।

ह्यूम के अनुसार संस्कारों और विज्ञानों को छोड़कर और कोई हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः हमारा ज्ञान संस्कारो और विज्ञानों तक ही सीमित है। हम यह नहीं जानते कि संस्कार कैसे उत्पन्न होते हैं। लॉक ने संस्कारों को बाह्य जड़ पदार्थों के कारण उत्पन्न और बर्कले ने ईश्वर की चितशक्ति के कारण उत्पन्न माना था। ह्यूम ने दोनों की ही जड़ काट दी और कहा कि जब हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष तक ही सीमित है और जब हमें प्रत्यक्ष केवल संस्कारों और उनके विज्ञानों का ही होता है, तो यदि संस्कारों का कोई कारण हो भी, तो वह हमारे लिए अज्ञात ही रहेगा।

हमारे मानस में विज्ञानों का प्रवाह नियमित रूप से चलता रहता है। एक के बाद दूसरा विज्ञान आता रहता है। यदि इनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो ये विज्ञान अर्थहीन हो जाते। ये आकस्मिक और असम्बद्ध नहीं हैं। इनमें निश्चित क्रम रहता है। इन नियमों को अनुषंग-नियम (Law of Association)

कहते हैं। ह्यूम स्पष्ट कहते हैं कि इन नियमों में कोई सार्वभौम सिद्धान्त या अनिवार्यता नहीं है। इनमें केवल स्वाभाविक अपेक्षा या आनन्तर्य है अर्थात् एक के बाद दूसरे का अपना स्वभाव मात्र है। दूसरी बात जो इनमें है वह अत्यन्तिक विरोध का त्याग। जिसके कारण प्रत्येक विज्ञान अपने अत्यन्त विरोधी विज्ञान को साथ नहीं लेता। एक विज्ञान के अनन्तर जो दूसरा विज्ञान आता है वह पहले विज्ञान का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता।

ह्यूम ने इन विज्ञानों में तीन प्रकार का सम्बन्ध माना है। पहला है सादृश्य-सम्बन्ध (Association of Resemblance or Similarity)। दो वस्तुयें यदि समान हों तो एक का विज्ञान होने पर दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है। है कालगत या देशगत साहचर्य सम्बन्ध (Association of Contiguity in Time or Space)। यदि दो घटनायें एक के बाद घटित हो अथवा एक ही स्थान में घटित होती हों, तो एक के विज्ञान से दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जायगा। तीसरा है कार्य-कारण-सम्बन्ध (Association of Casuality) जिसमें एक विज्ञान से दूसरे का विज्ञान होता है। इन तीनों नियमो से हमारे विज्ञानों में संयोग, वियोग आदि होते हैं और इनसे ही हमारा ज्ञान बनता है। जड़ जगत के समान विज्ञान जगत् में भी आकर्षण का नियम है। इन तीनों नियमों का वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान आकर्षण-नियम (Law of Gravitation) का है।

इसके बाद ह्यूम कार्य-कारण-सम्बन्ध की आलोचना करने में अग्रसर होते हैं। ह्यूम के दर्शन में 'द्रव्य' का स्थान 'कारण' ले लेता है। जड़ द्रव्य का अस्तित्व लॉक ने इसीलिए स्वीकार किया कि वह हमारे संवेदनों का कारण है। आत्म-द्रव्य का अस्तित्व बर्कले ने इसीलिए स्वीकार किया कि वह हमारे संवेदनों का कारण है। अतः ह्यूम ने द्रव्य का खण्डन करने के पूर्व उस कार्य-कारण सम्बन्ध का ही खण्डन करना आश्यक समझा जिस सम्बन्ध के कारण द्रव्य की सत्ता में विश्वास किया जाता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध सार्वभौम नियम माना जाता है और विज्ञान, दर्शन और धर्म इन तीनों क्षेत्रों में इसका अखण्ड साम्राज्य है। इसी नियम के आधार पर विज्ञान अपने जड़ तत्व की, दर्शन अपने आत्म-तत्व की और धर्म अपने ईश्वर-तत्व की सिद्धि करता है। ह्यूम ने तत्वों का खण्डन करने के पूर्व इनके इस मूल नियम पर ही कुठाराघात किया। आत्मा और परमात्मा को न माननेवाले भौतिक तत्व के वैज्ञानिक भी इस नियम के आगे नतमस्तक होते हैं। यह कार्यकारण नियम भौतिक विज्ञान की एक मौलिक मान्यता है और इस नींव पर विज्ञान का प्रसाद निर्मित हुआ है। भौतिक विज्ञान का लक्ष्य इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त विशेषों में सामान्य नियम की खोज करना है। इन व्यापक कारणों के अन्वेषण से प्रकृति के नियमों का निर्धारण किया जाता है। किन्तु इन्द्रियानुभव से तो केवल विशेषों का ही प्रत्यक्ष होता है, सामान्य का ज्ञान नहीं। अतः

जब तक कार्यकारण नियम का खण्डन न हो तब तक इन्द्रियानुभव की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

ह्यूम ने अपनी आलोचना इस प्रकार प्रारम्भ की :—क्या इंद्रियानुभव से कार्यकारणभाव सिद्ध हो सकता है ? यह तो स्पष्ट है कि हम कारण और कार्य कही जानेवाली घटनाओं को अलग-अलग जानते हैं, पर क्या हम अनुभव से यह भी जानते हैं कि कार्य और कारण नामक घटनाओं में कोई आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्ध है ? अनुभव से तो हम इतना ही जानते हैं कि एक घटना के बाद दूसरी घटना घटती है एक घटना के संवेदन के अनन्तर हमें दूसरी घटना का संवेदन होता है। किन्तु इन घटनाओं के आनन्तर्य सम्बन्ध (अर्थात् एक के अनन्तर दूसरी का होना) के अतिरिक्त कोई आन्तरिक और अनिवार्य सामान्य नियम हमारे अनुभव का विषय नहीं होता। अत: कार्यकारणभाव तथा कथित सार्वभौम नियम इंद्रियानुभूति द्वारा लभ्य नहीं है। यह हमारी कल्पनामात्र है। जब एक घटना का संवेदन या उसे सम्बद्ध विज्ञान हमारे प्रत्यक्ष का विषय बनता है और उसके बाद तुरन्त ही दूसरी घटना का संवेदन या उससे संबद्ध विज्ञान हमारे मानस पर आ जाता है, और इस आनन्तर्य की पुनरावृत्ति हमारे अनुभव में कई बार होती रहती है, तो यह हमारा स्वभाव बन जाता है कि हम एक घटना के संवेदन या विज्ञान के बाद दूसरी घटना के संवेदन या विज्ञान की आशा करें। यह आशा ही कार्यकारणभाव की जननी है। हमारे इस स्वभाव में ही कार्यकारणभाव की कल्पना का बीज निहित है। यह हमारी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता मात्र है, यह वस्तु-गत आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। दो घटनाओं का कई बार नियमित रूप से एक दूसरी के तुरन्त बाद अनुभव किया जाना इस कार्यकारणभावनियम की कल्पना का जनक है। मुझे कई बार पानी पीनेका और उसके तुरन्त बाद प्यास बुझने का संवेदन हुआ तो मैंने यह कल्पना कर ली कि पानी पीना प्यास बुझने का कारण है। मैंने कई बार धुँआ देखा और उसके बाद वहाँ आग भी देखी तो मैंने यह कल्पना कर ली कि जहाँ धुँआ है वहाँ आग भी अवश्य होनी चाहिये। कोई भी बालक पहली बार आग देखकर यह नहीं सोच सकता कि आग में दाहक शक्ति है या भोजन में भूख बुझाने की शक्ति है। एक बार हाथ जल जाने पर ही इसका अनुभव होता है कि आग से हाथ जल सकता है किन्तु इस शक्ति को हम नहीं देखते। अग्नि की दाहक शक्ति का हमें इन्द्रियानुभव नहीं होता। हमें अनुभव होता है केवल 'अग्नि' का और 'हाथ के जलने' का। इन दोनों में कोई आन्तरिक अनिवार्य सम्बन्ध है—ऐसा अनुभव हमें नहीं होता। हाँ, बार बार इन दोनों घटनाओं का अनुभव करने के कारण हम इन घटनाओ के कार्यकारण-भावसम्बन्ध की कल्पनाकर लेते हैं। आन्तरिक घटनाओं का भी यह हाल हैं। मैं इच्छा करता हूँ और मेरा हाथ हिलता है। मुझे इन घटनाओं का अलग-अलग अनुभव

होता है, किन्तु मेरी इच्छा में मेरे हाथ हिलने की शक्ति का मुझे अनुभव नहीं होता। बार-बार ऐसा अनुभव साथ-साथ होने पर मैं कल्पना कर लेता हूँ कि मेरी इच्छा में मेरे हाथ हिलाने की शक्ति है। इन्द्रियानुभव हमें किसी 'अनिवार्य आन्तरिक सम्बन्ध' का, किसी 'कारण' का या 'शक्ति' का परिचय नहीं देता। वस्तुयें किसी अनिवार्य सम्बन्ध से बँधी हुई नही है। हमारे संवेदनों या विज्ञानों की उसी रूप में बार-बार आवृत्ति होने के कारण हमारा अभ्यास हो जाता है कि एक सवेदन या विज्ञान के होने पर विज्ञानों के आनन्तर्य सम्बन्ध (Succession) का अनुभव होता है, उनके आन्तरिक अनिवार्य सम्बन्ध (Causation) का अनुभव नही होता। वस्तुओं में ऐसा कोई सम्बन्ध हमें प्रतीत नही होता। हमारे विज्ञानों के आनन्तर्य भाव को, उनकी इस 'अपेक्षा' को एक के बाद तुरन्त दूसरा आता है, हम अपने अभ्यास के कारण भ्रमवश एक आन्तरिक और अनिवार्य कार्यकारणभाव नामक सम्बन्ध मान बैठते हैं।[१] विश्व की एकरूपता के नियम (Uniformity of Nature) का हमें अनुभव नहीं हो सकता। इंद्रियों के द्वारा हम किसी प्रकार की सार्वभौकिकता या अनिवार्यता के सिद्धान्त पर नही पहुँच सकते।

ह्यूम की सुविधा यह है कि आनन्तर्य सम्बन्ध को मानते हुए भी वे कार्यकरण सम्बन्ध को नहीं मानते। वे इस समस्या को स्वीकार करते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि हमें इसका संतोषजनक समाधान नहीं मिल सकता। कार्यकारणभाव के अनिवार्य नियम को न तो बुद्धि सिद्ध कर सकती है और न इन्द्रियाँ। अनिवार्य नियम सामान्य या सार्वभौम होना चाहिए किन्तु विशेषों में कोई ऐसी सार्वभौमता नहीं मिलती। और जब हमारा सारा अनुभव विशेषों तक ही सीमित हैं, तो हमें विशेषों की सीमा को अतिक्रमण करने का कोई अधिकार नहीं। इन्द्रियानुभव से हमें विशेष और पृथक्-पृथक् संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान नहीं होता। बुद्धि से भी हम इस अनिवार्यताकी सिद्धिनहीं कर सकते; क्योकि बुद्धिका कार्य केवल संवेदनों या विज्ञानों का संयोग या वियोग, पृथक्-करण एकीकरण या करण है और जहाँ संवेदनकी गति नहीं वहाँ बुद्धि की पहुँच नही। विशेषों से सामान्य का अनुमान करना हमारी बुद्धिकी भ्रान्त कल्पना हो सकती है, वास्तविक ज्ञान नहीं। हमारे अनुभव से केवल संभावना (Probability) प्राप्त हो सकती है; अनिवार्यता (Necessity) नहीं। ह्यूम ने स्वयं कहा, "मैं इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता कि कोई भी कार्य अकारण हो सकता है। मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि कार्यकारणभाव के

---

१. ह्यूम का यह मत क्षणिक विज्ञान बौद्धों के मत से बहुत मिलता है—'स आनन्तर्यनियमः सैवापेक्षाभिधीयते'—शान्तरक्षित।

अनिवार्य और आवश्यक सम्बन्ध का ज्ञान न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न अनुमान से।" यह सम्बन्ध हमारी मनोवैज्ञानिक कल्पना से है, वस्तु-जगत् का नियम नहीं।

ह्यूम के अनुसार मानव-ज्ञान के दो प्रकार हैं—एक तो विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान (Knowledge of the Relations of Ideas) और दूसरा वस्तु-जगत् का ज्ञान (Knowledge Of the Matters Of Fact)। गणितशास्त्र और तर्कशास्त्र में प्रथम प्रकार का ज्ञान होता है। अतः गणित और तर्क में निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ दो और दो चार ही हैं। यहाँ सार्वभौम और अनिवार्य सिद्धान्तों की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि यह कोरी कल्पना (Formal Knowledge) है। और इसका वस्तु-जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु वस्तु-जगत् इंद्रियानुभव (Empircal Knowledge) पर प्रतिष्ठित है। अतःयहाँ निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वस्तु-जगत् में सार्वभौम अनिवार्य सम्बन्ध संभव नहीं। यहाँ केवल विशेष घटनाओं का पृथक्-पृथक् संवेदन या विज्ञान होता है और विशेषों के आधार पर उनकी सीमा का अतिक्रमण करके सामान्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ केवल आनन्तर्य सम्भव है, अनिवार्यता संभव नहीं। वस्तु जगत् के सम्बन्ध में हमारे अनुभव के लिये सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की सिद्धि असम्भव है और इसलिये वस्तु-जगत् का ज्ञान सदा सम्भावित होता है, निश्चित नहीं। अतः भौतिकविज्ञान वास्तविक अर्थ में असम्भव है। अनिवार्यता की कल्पना मनोवैज्ञानिक आवश्यकता हो सकती है, किन्तु वास्तविक तथ्य नहीं।

ह्यूम बर्कले से इस बात में सहमत हैं कि हमें जड़तत्व का अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि जड़तत्व हमारी इन्द्रियानुभूति का विषय नहीं। हमारे ज्ञान के विषय केवल संवेदन या विज्ञान हैं और इनके आधार पर जड़तत्व की सिद्धिनहीं हो सकती। किन्तु बर्कले ने आत्मतत्व को स्वीकार किया था; क्योंकि अनुभव के लिए अनुभविता की सत्ता मानना आवश्यक हैं। आत्मतत्व को उन्होंने विज्ञानों का अधिष्ठान माना था। ईश्वर की कल्पना भी बर्कले ने हमारे संवेदनों को उत्पन्न करनेवाले कारण के रूप में की थी। ह्यूम का मत है कि जब कार्यकारणसम्बन्ध ही वस्तुतः सत्य नहीं तो संवेदनों या विज्ञानों के कारण के रूप में किसी तत्व की प्रतिष्ठा शक्य नहीं—चाहे वह लॉक का जड़तत्व हो, चाहे बर्कले का आत्मतत्व। विज्ञानों के लिए भी उनके किसी अधिष्ठान को मानना उचित नहीं; क्योंकि हमें किसी ऐसे अधिष्ठान का अनुभव नहीं होता। ह्यूम ने कहा कि उन्हीं तर्कों से, जिनसे बर्कले ने लॉक के जड़तत्व का खण्डन किया, स्वयं बर्कले के आत्म-तत्व का भी खण्डन किया जा सकता है। 'सत्ता अनुभवमूलक हैं', इस सिद्धान्त को मानने पर आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि हमें आत्मा का इन्द्रियानुभव नहीं होता। बर्कले के अनुसार हमें अपनी आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति होती है और अन्य जीवात्माओं का और परमात्मा का अन्तर्बोध

होता है। ह्यूम का उत्तर है कि संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अन्तर्बोध की कल्पना व्यर्थ है। वस्तुजगत् में हम विशेष संवेदनों और विशेष विज्ञानों के आगे नहीं जा सकते और इनके द्वारा न अन्य जीवों का बोध होता है और न ईश्वर का। अतः जीवों की और ईश्वर की कल्पना कोरी कल्पना है वास्तविक तथ्य नहीं। हमें अपनी आत्मा की भी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती। जिनकी हमें अनुभूति होती है वे हैं—पृथक्-पृथक् विशेष और क्षणिक संवेदन या विज्ञान। इन विज्ञानों के किसी नित्य और एक अधिष्ठान की प्रतीति हमें नहीं होती। इन क्षणिक विज्ञानों की धारा निरन्तर बह रही है। इनमें सादृश्य और आनन्तर्य है, किन्तु तादात्म्य और नित्यत्व नहीं। अनुभव कभी नित्य संवेदन या नित्य विज्ञान उपस्थित नहीं करता। अतः नित्य आत्मा का विज्ञान या संवेदन कभी नहीं हो सकता।

ह्यूम ने लिखा है—"मैं उन दार्शनिकों से, जो अपने विचारों का आधार द्रव्य और पर्याय के भेद को मानते हैं और कल्पना करते हैं कि उनको इनका स्पष्ट ज्ञान होता है; पूछना चाहूँगा कि द्रव्य का विज्ञान संवेदन-संस्कार से उत्पन्न होता है या स्वसंवेदन संस्कार से? यदि द्रव्य का हमें संवेदन होता है, तो मैं पूछता हूँ कि किन इन्द्रियों से और किस प्रकार? यदि द्रव्य की प्रतीति आँख से होती हो तो उसका रूप होना चाहिये; यदि कान से तो शब्द होना चाहिये; यदि रसना से तो रस होना चाहिये; और इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में प्रतीति होनी चाहिये। किन्तु मेरा विश्वास है कि कोई यह नहीं कहेगा कि द्रव्य रूप है या शब्द है या रस है। अब यदि द्रव्य सत्य है तो उसका विज्ञान स्वसंवेदन-संस्कार से आना चाहिये। किन्तु स्वसंवेदन संस्कार या तो हमारी भावनाएं हैं या हमारे मनोवेग और इन दोनों में से कोई भी द्रव्य नहीं हो सकता। अतः द्रव्य का विज्ञान वस्तुतः कल्पना द्वारा संयुक्त सरल विज्ञानों के उस समूह के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है जिस समूह को द्रव्य का नाम दे दिया जाता है।" यह लॉक के विचारों की व्याख्या है। लॉक ने इन विचारों को मानते हुए भी जड़तत्व की सत्ता स्वीकार की और बर्कले ने उसका निराकरण किया। किन्तु बर्कले ने स्वयं इन विचारों को भुलाकर आत्म-तत्व का प्रतिपादन किया। ह्यूम ने उसका भी खण्डन किया। वे लिखते हैं—"मैं चाहता हूँ कि वे दार्शनिक जो यह बहाना बनाते हैं कि उन्हें आत्मतत्व के विज्ञान की प्रतीति होती है, यह बताएँ कि वह विज्ञान किस संस्कार से उत्पन्न होता है? क्या वह संवेदन का विज्ञान है अथवा स्वसंवेदन का? क्या यह सुखरूप है अथवा दुःखरूप अथवा तटस्थ? क्या यह सदा बना रहता है अथवा रुक-रुककर उत्पन्न होता है?.........कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो यह कल्पना करते हैं कि हमें अपने आत्म-तत्व की प्रतिक्षण ज्वलन्त अनुभूति होती रहती है, कि हमें सत्ता का और इस सत्ता की अविच्छिन्नता का साक्षात अनुभव होता है, और जो इस आत्मा की प्रमाणातीत पूर्ण एकता और कूटस्थता

में विश्वास रखते हैं।..........जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो जब-जब अपनी इस 'आत्मा को' देखने के लिए इसके भीतर खूब गहरा घुसता हूं तब-तब किसी-न-किसी विशेष संवेदन या विज्ञान से ही टकराकर रह जाता हूँ; जो सवेदन या विज्ञान गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, दुःख या सुख आदि के होते हैं। बिना किसी संवेदन या विज्ञान के मैं तो अपनी 'आत्मा' को कभी नहीं पकड़ पाता और न मुझे संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी की अनुभूति होती है। मुझसे अलग हो जाते हैं, जैसे गाढ़ निद्रा में 'तब मुझे अपनी आत्मा' का अनुभव नहीं होता और उस समय सचमुच मेरा अस्तित्व नहीं रहता। यदि मृत्यु द्वारा मेरे ये सब अनुभव मिटा दिया जावेंगे तो मुझे पूर्ण असत् बना देने के लिए और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि किसी अन्य व्यक्ति को गम्भीर और निष्पक्ष विचार के बाद भी, अपनी आत्मा का इससे भिन्न अनुभव होता हो, तो मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं उससे तर्क नहीं कर सकता। अपने विषय में मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मुझमें कोई 'आत्म-तत्व' नहीं है। आत्मा का अस्तित्व मानने वाले कुछ दार्शनिक महानुभावों को छोड़कर अन्य सब लोगों के लिए तो मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि वे लोग उस विभिन्न संवेदनों के पुञ्ज या समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो संवेदन अकल्पनीय वेग से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं और जिनके परिवर्तन तथा गति की अक्षुण्ण धारा निरन्तर बह रही हैं।"[1]

ह्यूम के विचारों का निस्कर्ष यह है: सवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त हमें किसी सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियानुभव से किसी नित्य और अपरिणामी द्रव्य की, चाहे वह जड़ हो या चेतन, सिद्धि नहीं हो सकती। तथाकथित 'आत्म-तत्व' वस्तुतः क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विज्ञानों के अनुभविता के रूप में आत्मा की कल्पना करना असंगत है; क्योंकि क्षणिक विज्ञान ही स्वयं अपना अनुभविता है। विद्वानों के अधिष्ठान के रूप में भी आत्मा की कल्पना व्यर्थ हैं क्योंकि न तो इस अधिष्ठान की आवश्यकता है और न इसकी प्रतीति होती है। नित्य, एक समरस और कूटस्थ आत्मा का हमें कभी अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि हमारे विज्ञान, जिनका ही हमें अनुभव हो सकता है, अनित्य: अनेक विशेष और क्षणिक हैं। इन क्षकिक संवेदनों या विद्वानों में सादृश्य और आनन्तर्य है, एकता और नित्यता नहीं। जल-प्रवाह और दीप-शिखा के समान, इन क्षणिक विद्वानों की धारा बड़े बेग से निरन्तर बह रही है। तीव्र वेग-और अनवच्छिन्नता के कारण 'समानता' (Similarity) 'एकता' (Identity) की भ्रान्ति का रूप ले लेती है और 'अजस्र प्रवाह' 'नित्यता' की भ्रान्ति का। तथाकथित 'आत्मा' वस्तुतः क्षणिक

---

१. ह्यूम का यह मत क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मत से बिल्कुल मिलता है। बौद्धों ने इसके लिये 'जल प्रवाह' और दीपशिखा' की उपमायें दी हैं।

सवेदनों या विज्ञानों का निरन्तर प्रवाह मात्र है। सुषुप्ति में यह धारा टूट जाती है, अतः हमें 'आत्मा' का अनुभव नही होता। इस सवेदन-पुञ्ज को हम 'आत्मा' का रूप दे देते हैं। यह हमारी कल्पना है, वास्तविक तथ्य नहीं।

इस प्रकार ह्यूम के खण्डन-प्रहारों के आगे कोई तत्व नही टिक पाता—न ईश्वर, न आत्मा और न जड़ जगत्। हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है और इस ज्ञान से किसी एक या नित्य तत्व की सत्ता सिद्ध नहीं होती। यह ज्ञान विशेषों का ही है, सामान्य का नही। संवेदनों मे कभी निश्चतता, सार्वभौमता या अनिवार्यता नहीं मिल सकती। अतः हमारा सारा ज्ञान सभावित मात्र है, निश्चित नहीं। जड तत्व पर प्रतिष्ठित भौतिक-विज्ञान, आत्म-तत्व पर प्रतिष्ठित मनोविज्ञा या दर्शन और ईश्वर-तत्व पर प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र – तीनों का अस्तित्व वास्तविक अर्थ में असभव है। तीनों कल्पना पर प्रतिष्ठित है, सत्य पर नही। हम अपने संवेदनों या विज्ञानों को हो जानते हैं। हम उनके सम्बन्धों को, सादृश्य, साहचर्य और आनन्तर्य के सम्बन्धो को भी जानते हैं। किन्तु इन सम्बन्धों मे हमें वस्तुओं के आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्धों का ज्ञान नहीं होता। हम विद्वानों के आनन्तर्य संबंध को, भ्रमवश, वस्तुओं का अनिवार्य कार्यकारण सम्बन्ध मान बैठते हैं और फिर इन पर भौतिक विज्ञान, दर्शन तथा धर्म के प्रासाद बनाने लगते हैं। ये सब कल्पना की भित्ति पर बने हुए प्रासाद है। हमारी बुद्धि में कोई ऐसा तत्व नहीं जो इन्द्रियों से नहीं आया हो। कल्पना में हम अपने विज्ञानों को उनके यथार्थ मूल संवेदनों से न मिलाकर गलत तरीके से मिला देते हैं। यही हमारा भ्रम है। सवेदनों या विद्वानो के पारस्परिक सम्बन्ध को वस्तुजगत् के सम्बन्ध समझ लेना सबसे बड़ा भ्रम है। हमारे संवेदन में किसी समान्य का, किसी निश्चित और सार्वभौम सत्य का प्रवेश नहीं हो सकता, अतः हमारा इन्द्रियानुभव जो हमारा एकमात्र सत्य ज्ञान है; सदा अनिश्चित और सम्भावित ही रहता है। यही ह्यूम का प्रसिद्ध सन्देहवाद या संशयवाद है। इसी सन्देहवाद ने जर्मनी के सुप्रसिद्ध महान दार्शनिक कान्ट को "मोह-निद्रा से जगाया था।"

ह्यूम एक युग प्रवर्तक दार्शनिक हैं। बुद्धिवाद की रूढ़ियों का खण्डन उनकी मुख्य सफलता है। जिस अनुभववाद को मानकर वे चले हैं उसके अन्त तक निर्भय होकर पूर्ण निष्पक्ष रीति से विचार करते हुए, वे पहुंचे हैं। उनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक रही है। उनको 'अज्ञेयवादी' (Agnostic) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार तत्व हमारे लिए अज्ञेय है। उनको 'संदेहवादी' (Sceptic) कहा जाता है, क्योंकि उसके अनुसार हमारा ज्ञान कभी निश्चयात्मक और अनिवार्य नहीं हो सकता। उनको 'व्यवहारवादी' (Phenomenalist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार हमारा सारा ज्ञान, विद्वानों का ज्ञान होने के कारण व्यवहार मात्र है। उनको 'प्रत्यक्षवादी' (Positivist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार केवल संवेदन या

उनके प्रतिरूप विज्ञान ही हमारे ज्ञान के विषय बन सकते है। उनको 'इन्द्रियानुभव-वादी' (Empiricist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार सत्य का ज्ञान इन्द्रियानुभूति में ही सीमित है। उनको 'सवेदनवादी' (Sensationist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार हमारे ज्ञान में कोई ऐसा तत्व नहीं आ सकता जो संवेदन में न रहा हो।

ह्यूम की आलोचना भी बहुत अधिक हुई है। बट्रेन्ड रसेल ने कहा है कि "ह्यूम का खण्डन करना दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है।" वस्तुतः यदि इन्द्रियानुभववाद को स्वीकार कर लिया जाय तो ह्यूम के विचारों से सहमत होने के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। ह्यूम ने जो कुछ कहा है प्रायः सत्य कहा है। यह सत्य है कि इन्द्रियानुभव के द्वारा कभी निश्चयात्मक, सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान नहीं हो सकता। यह सत्य है कि यदि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय सवेदन या विज्ञान ही हों, तो न ईश्वर की प्रतिष्ठा हो सकती है, न आत्मा की और न जड़ जगत् की। ह्यूम की इन तत्वों की आलोचना, इन तत्वों के मूल कारण कार्य कारण सम्बन्ध की आलोचना इन्द्रियानुभव को भाषा एक मात्र ज्ञान मान लेने ही पर सर्वथा सत्य है। किन्तु सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि इन्द्रियानुभव को ही एकमात्र ज्ञान क्यों माना जाय? ह्यूम ने सबकी आलोचना की, किन्तु इन्द्रियानुभव की आलोचना नहीं की। उसको उन्होंने चुपचाप नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया। यही उनका सबसे बड़ा दोष है। यदि वे इन्द्रियानुभव की आलोचना से अपना दर्शन प्रारम्भ करते, तो उनके दर्शन का रूप ही और होता। इन्द्रियानुभववाद का सन्देहवाद में परिणत होना स्वाभाविक है। किन्तु यह सत्य है कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण सन्देहवादी हो ही नहीं सकता। ह्यूम भी नहीं हो सके हैं। पूर्ण सन्देहवादी का कोई दर्शन कोई विचार, कोई मन्यता, कोई निश्चय नहीं हो सकता। सन्देहवाद की प्रवृत्ति आत्मघाती है, क्योंकि सन्देहवाद के अनुसार स्वयं सन्देहवाद ही सन्देह का विषय बन जाता है। सन्देहवादी का एकमात्र दर्शन है–मौन। सन्देहवाद उस औषध के समान है जो रोग के साथ-साथ रोगी को भी और स्वयं अपने आपको भी समाप्त कर देती है। पूर्ण संदेहवादी पर तर्क-प्रहार करना मृतक को मारना है। ह्यूम भी अपने संदेहवाद को अक्षुण्ण नहीं रख सके है। वे विज्ञानों के आनन्तर्य सम्बन्ध को मानते हैं। तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र के क्षेत्रों में उनको निश्चित और अनिवार्य सिद्धान्त मानने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

सत्य यह है कि इन्द्रियानुभव के आधार पर तो ह्यूम का इन्द्रियानुभववाद भी स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि हमारा ज्ञान केवल संवेदन या विज्ञान तक ही सीमित है तो हम केवल मौन रहकर पशुओं के समान ही इन्द्रियानुभव कर सकते हैं। बुद्धि के विकल्पों की सहायता के बिना इन्द्रियानुभव में वाणी नहीं आ सकती। यह सत्य है कि इन्द्रियानुभव से हमें केवल विशेष, पृथक्-पृथक्, भिन्न और क्षणिक

संवेदनों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है और इस आधार पर कार्यकारणसंबंध की सार्वभौमता, निश्चितता और अनिवार्यता की सिद्धि नहीं की जा सकती। यह भी सत्य है कि इस मूल सत्य की सिद्धि अनुमान या बुद्धि के विकल्पों से नहीं हो सकती; क्योंकि वे स्वय इस पर निर्भर है। फिर प्रश्न यह है कि हमें इस नियम की कल्पना ही क्यों हुई ? ह्यूम का उत्तर है हमारी कल्पना के कारण। किंतु यदि कल्पना बुद्धि का खेल है और बुद्धि में ऐसा कोई तत्व नही आ सकता जो संवेदन मे न रहा हो, तो बुद्धि में इस नियम की कल्पना भी कैसे आयी ? ह्यूम का इसके लिए कोई उत्तर नहीं। इससे सिद्ध है कि इस कल्पना का मूल अन्यत्र खोजना होगा। यह कल्पना नहीं है, यह मौलिक सत्य है। यह बुद्धि की सविकल्प बुद्धि की, धारणाओं का मूलाधार है यह निर्विकल्प स्वतःसिद्ध स्वानुभूति का नियम है। इस नियम के आधार पर बुद्धि कार्य करती है और बुद्धि के आधार पर इन्द्रियानुभूति। विशुद्ध ज्ञान यह निर्विकल्प और स्वतः सिद्ध स्वानुभूति ही है। यह बुद्धि को उसके विकल्प देती है जिनसे वह इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित करके सवेदन मात्र के स्तर से ज्ञान के स्तर पर लाती है। इन्द्रियानुभव ज्ञान के इन बीजों को पल्लवित, पुष्पित और फलित करता है, उनको उत्पन्न नहीं करता। ज्ञान का स्तर स्वतः सिद्ध स्वानुभूति में न खोजकर इन्द्रियानुभूति में खोजना भयंकर भूल है और इसका आत्मघाती परिणाम वही होगा जो ह्यूम के दर्शन मे हुआ। यह स्वतः सिद्ध स्वानुभव ही असली-आत्म स्वरूप है। इसका निराकरण नहीं हो सकता-ह्यूम भी नहीं कर सके। वे देकार्त को भूल गये। क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह इसी अधिष्ठान पर होता है। विज्ञान स्वयं अपना अनुभविता नहीं हो सकता। क्षणिक विज्ञानों को मानने पर सम्पूर्ण व्यवहार का अपलाप हो जाता है जो ह्यूम के दर्शन में हुआ। यह 'आत्मा' द्रव्य नही है। इन्द्रियाँ और सविकल्प बुद्धि इसको ग्रहण नहीं कर सकती। यह विशुद्ध और स्वतःसिद्ध ज्ञाता है। यह सिद्धि और असिद्धि की उपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि ये धर्म इसी पर आश्रित हैं। क्षणिक विज्ञानों की सहायता लेकर इसको ढूँढ़ना, जलती हुई मोमबत्तियाँ लेकर दिन में सूर्य को खोजने के समान है। ह्यूम ने यह हास्यास्पद कार्य किया। आगे चलकर कान्ट ने ह्यूम के दोषों को दूर करके बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के दीर्घ संघर्ष को समाप्त कर दिया।

त्रयोदश अध्याय

आलोचनात्मक विज्ञानवाद : कान्ट

इमान्युएल कान्ट (Immanuel Kant) (१७२४-१८०४):—जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट की गणना विश्व के महत्तम दार्शनिको में है। कान्ट का जन्म कोनिग्जबर्ग (Konigsberg) नगर के एक दरिद्र परिवार मे हुआ था। उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण मे हुआ। कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में वे गणित, विज्ञान और दर्शन के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे। शिक्षा समाप्त करके वे कुछ दिनों तक जीविका-निर्वाह के लिये इधर-उधर के सम्पन्न परिवारों मे शिक्षक का कार्य करते रहे। बाद में विश्वविद्यालय मे शिक्षक के रूप मे उनकी नियुक्ति हो गई। कुछ वर्षों बाद वे वहीं प्रधानाध्यापक और फिर अध्यक्ष हो गये। उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी और वे गम्भीर अध्ययन मे तल्लीन रहते थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनका प्रत्येक कार्य यथासमय और यथानियम हुआ करता था। जब वे घूमने निकलते थे तो लोग उनको देखकर अपनी घड़ियाँ मिलाया करते थे। वे कर्तव्यपरायण और उदार-हृदय थे। उनका बाह्य जीवन घटना-शून्य था। वे अपने प्रान्त के बाहर कभी नही निकले। कान्ट का जीवन साधारण, सरल और घटनाशून्य होने पर भी उनके विचार अत्यन्त असाधारण, जटिल और क्रांतिकारी थे।

कान्ट पर लाइबनित्ज़ और वोल्फ के बुद्धिवाद का, लॉक और बर्कले के अनुभववाद का, ह्यूम के सन्देहवाद का, वोल्तेयर के ज्ञानवाद का, रूसो के भावुकतावाद का, न्यूटन के भौतिक विज्ञान का और पाइटिस्ट सम्प्रदाय के धार्मिक आचार का प्रभाव पड़ा। और सभी परवर्ती दार्शनिकों पर कान्ट का भारी प्रभाव पड़ा है।

कान्ट के विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ हैं:—(१) 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' (Critque of Pure Reason), (२) 'आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा' (Critque of Practical Reason), और (३) 'कला और सौन्दर्यमूलक ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Judgment)।

बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के दीर्घकालीन संघर्ष को समाप्त कर देने का श्रेय कान्ट को है। बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद इन दोनों में अपने-अपने गुण-दोष हैं। दोनों एकांगी हैं। दोनों में आंशिक सत्य है। दोनों में एक भी पूर्णतः सत्य नहीं है। इस संघर्ष में दोनों ही हारकर थक गये; विजय किसी की नही हुई। कान्ट इन दोनों की असफलता को ध्यान में रखकर अपने दर्शन को प्रारम्भ करते हैं।

कान्ट अपने दर्शन को 'आलोचनात्मक' (Critical) और 'अतीन्द्रिय' (Transcendental) 'विज्ञानवाद' (Idealism) कहते है। इन तीनो शब्दों का अर्थ

जान लेना चाहिए। पहले 'आलोचनात्मक' शब्द को लें। बुद्धिवादियों ने आँख मूंद-कर बुद्धि का विश्वास किया है। उनके अनुसार बुद्धि अपने स्वतःसिद्ध और सार्वभौम नियमों द्वारा तत्व-ज्ञान कर सकती है। गणित का ज्ञान उनका आदर्श रहा है। इसके विपरीत अनुभववादियों ने हमारे सारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत इन्द्रियानुभव में ही माना है। बुद्धि के कोई नियम अनुभव-निरपेक्ष और सहज नहीं हो सकते। कान्ट के अनुसार बुद्धिवाद का पर्यवसान अन्धविश्वास में और अनुभववाद का पर्यवसान संदेहवाद में हुआ है। कान्ट के अनुसार तत्व-समीक्षा के पूर्व ज्ञान-समीक्षा अत्यावश्यक है। ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा जान लेना दर्शन का सर्वप्रथम कार्य होना चाहिए। यद्यपि लॉक ने तत्व-मीमांसा के पहले ज्ञान-मीमांसा आवश्यक और महत्वपूर्ण समझी, तथापि उनकी प्रणाली केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मात्र रह गई और ये ज्ञान की सही आलोचना नहीं कर पाये। यही कारण था कि लॉक का इन्द्रिानुभववाद ह्यूम में जाकर सन्देहवाद बन गया। अतः कान्ट ने सर्वप्रथम ज्ञान की आलोचना को ही अपना लक्ष्य बनाया। ज्ञान की आलोचना किये बिना, ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा को जाने बिना, तत्व-समीक्षा करना व्यर्थ है। न तो बुद्धिवादियों के समान ज्ञान मे अन्ध-विश्वास करना चाहिए और न इन्द्रियानुभववादियों के समानज्ञान में आत्मघाती और अनावश्यक सन्देह। बुद्धिवाद के अन्ध-विश्वास (Dogmatism) और इन्द्रियानुभववाद के आत्मघात सन्देह (Scepticism), इन दोनों से बचकर ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा की सही आलोचना को दर्शन का सर्वप्रथम और अत्यावश्यक कार्य मानने के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को 'आलोचनात्मक' (Critical) कहा है। द्वितीय 'अतीन्द्रिय' शब्द पर विचार करें। कान्ट के अनुसार ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय-संवेदन ज्ञान की सामग्री है। बुद्धि-विकल्प इस अस्त-व्यस्त सामग्री को ज्ञान रूप देते हैं। इन्द्रिय-संवेदन वेदनामात्र है, ज्ञान कहलाने का पात्र नहीं। ज्ञान बनने के लिए संवेदनों का बुद्धि-विकल्पों द्वारा संगृहीत और निर्धारित होना पड़ता है। अनुभव-वादियों ने ज्ञान को इन्द्रिय संवेदनों से ही बाँध दिया और फलतः अनुभववाद का पर्यवसान ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवाद में हुआ है। वस्तुतः इन्द्रियानुभव के ही आधार पर किसी भी दर्शन की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं हो सकती, इन्द्रियानुभववाद की भी नहीं। अतः ज्ञान अपनी सामग्री के लिए इन्द्रिय-संवेदन पर निर्भर रहता हुआ भी, अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये अर्थात् ज्ञान बनने के लिए, इन्द्रियातीत बुद्धि-विकल्पों की शरण लेता है। ज्ञान के इस अतीन्द्रिय स्वरूप के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को 'अतीन्द्रिय' (Transcendental) कहा है। तृतीय, 'विज्ञानवाद' शब्द पर विचार करें। कान्ट अपने आपको एक विशिष्ट अर्थ में विज्ञानवादी कहते हैं। उनके अनुसार ज्ञान अतीन्द्रिय होते हुए भी, अपनी सामग्री के लिए इन्द्रियानुभव पर

निर्भर रहता है। अतः वास्तविक ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनों के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहता है। अतः वास्तविक ज्ञान इन्द्रिय संवेदनों के बिना ही नहीं हो सकता। ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है परमार्थ तक उसकी गति नहीं। कान्ट दृष्टिसृष्टिवाद या जीव सृष्टि विज्ञानवाद (Subjective Idealism) के प्रबल विरोधी हैं। यह सत्य है कि हमें अपने विज्ञानों का ही ज्ञान होता है, किन्तु ये विज्ञान हमारी कल्पना की सृष्टि नहीं हैं। ये विज्ञान पारमार्थिक स्वलक्षणों (Things in themselves) द्वारा उत्थापित होते हैं, जिन स्वलक्षणों या परमार्थों का हमें कदापि ज्ञान नहीं हो सकता। हमारा व्यवहार (Phenomena) का ज्ञान सत्य, असंदिग्ध-निश्चित और सार्वभौम है—सत्य इसलिए कि इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय संवेदन या स्वसंवेदन द्वारा प्रसूत होने से इस ज्ञान के संवादी परमार्थ वस्तुतः विद्यमान हैं, और निश्चित एवं सार्वभौम इसीलिए कि इस सामग्री को हमारे बुद्धि विकल्पों ने निरूपित किया है। किन्तु अतीन्द्रिय परमार्थो (Nounene) के विषय में हमारा ज्ञान केवल हमारे काल्पनिक विज्ञानों का ही ज्ञान है; क्योंकि इन विज्ञानों के सम्वादी परमार्थ, संवेदन या स्वसंवेदन के अभाव के कारण, वस्तुतः विद्यमान नही हैं। अतः कान्ट व्यवहार के ज्ञान में वस्तुवादी (Empirically Realist) और परमार्थ के ज्ञान में विज्ञानवादी (Transcendentally Idealist) हैं।

उपर्युक्त तीनों विशेषणों से, जिनसे कान्ट ने अपने दर्शन को विशिष्ट किया है, अर्थात् आलोचनात्मक, अतीन्द्रिय और विज्ञानवादी इन तीन विशेषणों से कान्ट के ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा विषयक विचार भी स्पष्ट हो जाते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के मिलन से होती है। ये दोनों हमारे ज्ञान के माता-पिता हैं। दोनों में से एक का भी यदि अभाव हुआ तो, या तो ज्ञान 'ज्ञान' ही नहीं बनेगा (बुद्धि-विकल्प के अभाव में) या अयथार्थ होगा (इन्द्रिय-संवेदन के अभाव में)। प्रामाण्य के विषय में कान्ट का विचार है कि व्यवहार का ज्ञान तो निश्चित एवं प्रामाणिक है; किन्तु परमार्थ के ज्ञान के प्रामाण्य को जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं। सीमा के विषय में कान्ट का मत स्पष्ट है कि हमारा ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ तक उसकी गति नहीं।

इस पृष्ठभूमि के बाद हम अब इस विषय पर विचार करें कि कान्ट ने बुद्धि-वाद और अनुभववाद के लम्बे संघर्ष को किस प्रकार समाप्त किया। पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का श्रीगणेश बुद्धिवाद के उदय से हुआ। मध्ययुग की धार्मिक पर-म्परा के विरुद्ध, शास्त्र के अयुक्त अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध और व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा तर्क को दबाने के प्रयत्नों के विरुद्ध आधुनिक भौतिक विज्ञान एवं दर्शन बुद्धि का प्रबल शस्त्र लेकर उठ खड़े हुए और विरोधियों को कुचल कर ही दम लिया। विरो-धियों की पराजय के बाद भौतिकविज्ञान और दर्शन अपने अलग-अलग मार्ग पर चलने लगे। भौतिक विज्ञान इन्द्रियानुभूति का आलिंगन करके प्रकृति-निरीक्षण और

वैज्ञानिक प्रयोगों की सहायता लेता हुआ आगमत तर्कपद्धति द्वारा, बाह्य पदार्थों के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को बताने वाले निश्चित और सार्वभौम नियमों के अन्वेषण में लगा, और दर्शन, बुद्धि के सहज, स्वतःसिद्ध और सार्वभौम ज्ञान का आलिंगन करके इन्द्रियानुभूति को हेय और प्रकृति-निरीक्षण को व्यर्थ समझता हुआ निगमन तर्कपद्धति द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् के विवेचन में लगा। देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्ज और वोल्फ जैसे बुद्धिवादियों ने गणित के ज्ञान को आदर्श मानकर दर्शन में भी उसी पद्धति को अपनाया। वे यह भूल गये कि गणित और दर्शन एक नहीं हैं। वे यह भूल गए कि गणित केवल बुद्धि-विकल्पों पर निर्भर है और वस्तु-सत् का विचार उसका लक्ष्य नहीं है; किन्तु दर्शन बुद्धि-विकल्पों का आश्रय लेकर वस्तु-जगत् के तथ्यों को खोजना चाहता है। गणित को केवल इसी से प्रयोजन है कि दो और दो मिलकर चार होते हैं, गणित को इससे प्रयोजन नहीं कि 'दो' और 'दो' पदार्थों मे किन पदार्थों की गणना की जायगी। दो और दो ईटें मिलकर चार ईटें होंगी और दो और दो जीव मिलकर चार जीव। किन्तु दर्शन का लक्ष्य तो यह जानना है कि ईटें और जीव हैं भी या नहीं। इसके लिए इन्द्रियानुभव का सहारा लेना आवश्यक है, किन्तु बुद्धिवाद इन्द्रियानुभव को क्षीण और मन्द ज्ञान कह कर ठुकराता ही रहा। धार्मिक अन्ध-विश्वासों पर प्रहार करनेवाली बुद्धि अपनी शक्ति का निर्णय किये बिना ही, अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान का दम्भ करने लगी और अपने ही अन्ध-विश्वासों की दासी बन गई। इन्द्रियानुभव की उपेक्षा करके बुद्धि के सहज, स्वयंसिद्ध, सार्वभौम और अनुभवनिरपेक्ष (A Priori) नियमों को ही ज्ञान का एकमात्र उद्गम स्थान मान लिया गया और दर्शन का लक्ष्य इन नियमों में तिरोहित ज्ञान को प्रकट करना समझा गया। इन नियमों की नींव पर ईश्वर, जीव और जगत् की सिद्धि के लिए क्रमशः ईश्वर-विज्ञान, मनोविज्ञान और प्रकृति-विज्ञान के तीन बौद्धिक प्रासाद निर्मित किये गये। और आश्चर्य की बात तो यह कि नींव एक होते हुए और निर्माण-प्रक्रिया एक होते हुए भी बुद्धिवादियों ने अपने दर्शन-प्रासादों को विभिन्न रूप दिया। आधार और पद्धति समान होने पर भी निष्कर्ष भिन्न-भिन्न निकले।

बुद्धिवाद की नींव को सर्वप्रथम हिलाया लॉक के अनुभववाद ने। लॉक ने कहा कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियानुभूति पर निर्भर है। बुद्धि की कोई सहज, स्वतः सिद्ध और अनुभव निरपेक्ष धारणायें नहीं हैं। सारा ज्ञान अनुभव सापेक्ष (A Posteriori) है। आत्मा कोरे कागज या अँधेरे कमरे के समान है जिस पर अनुभव संवेदन और स्वसंवेदन रूपी उँगलियों से ज्ञानरूपी अक्षर लिखता है या जिसमें संवेदन या स्वसंवेदन की खिड़कियों से ही ज्ञानरूपी प्रकाश भीतर जाता है। लॉक ने तत्व-मीमांसा के पूर्व-ज्ञान-मीमांसा को आवश्यक माना। ईश्वर जीव और जगत् के विषय में विचार प्रकट करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य

और सीमा कैसे, क्यों और कहाँ तक है। बर्कले ने इसी के आधार पर बाह्य जगत् का खण्डन किया, प्रतीति को ही सत्ता माना और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय विज्ञान ही हैं। ह्यूम मे यह अनुभववाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा और आत्मघाती सन्देहवाद बन गया। इसके आधार पर न ईश्वर का न जीव का और न जगत् का प्रतिपादन हो सकता है; क्योंकि इनमें से कोई भी इन्द्रियानुभूति का विषय नही। सम्वेदन और ज्ञान ही हमारे ज्ञान के विषय है और उनके आधार पर ज्ञान में कार्यकारणभाव जैसे निश्चित, सार्वभौम और असंदिग्ध नियम के लिए कोई स्थान नही—समस्त ज्ञान सभावना मात्र है।

प्रारम्भ मे कान्ट पर लाइबनित्ज और वोल्फ का भारी प्रभाव था। केवल बुद्धि ही निश्चित और सार्वभौम ज्ञान उत्पन्न कर सकती है, इन्द्रियानुभव नहीं। किन्तु ह्यूम के प्रहारों ने बुद्धिवाद का प्रासाद ढहा दिया था। कान्ट इस सन्देहवाद से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने यहाँ तक लिख दिया कि "ह्यूम ने मुझे अन्ध-विश्वास की मोह-निद्रा से जगा दिया।" कान्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद की निष्पक्ष आलोचना प्रारम्भ की और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि दोनो एकांगी हैं, कि दोनो मे आंशिक सत्य है और आंशिक असत्य और इसीलिए दोनो असफल हुए हैं। दोनों मे से किसी ने भी ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा को नही समझा। यद्यपि लॉक ने इसका प्रयत्न किया, किन्तु उनका प्रयत्न मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मात्र रह गया, वास्तविक अन्वेषण नही। यदि बुद्धिवाद सत्य है तो फिर आधार और पद्धति एक होने पर भी विभिन्न निष्कर्ष क्यो निकाले जाते है? गणित के सिद्धान्त भी; विशेषतः रेखागणित के, जिन पर बुद्धिवादियों की अगाध आस्था है, अपनी उत्पत्ति के लिये अनुभव की अपेक्षा रखते हैं। और फिर गणित तो अपने आपको वस्तु-विज्ञान कहने का दावा नही करता। किन्तु दर्शन करता है। फिर दर्शन को गणित का दास बनाने की क्या आवश्यकता? बुद्धिवाद की यह मान्यता, कि जो भी विचार बुद्धि को स्पष्ट प्रतीत होता हो वह सत्य है; अनिश्चित और अनुचित है। बुद्धिवाद, दर्शन और धर्म दोनों क्षेत्रों मे असफल हुआ है। इसका मूलकारण है इन्द्रियानुभव की उपेक्षा करके बौद्धिक कल्पनाओं को ही मान्य समझना। बुद्धिवाद का पर्यवसान अन्धविश्वास में हुआ है। उधर अनुभववाद भी सत्य नहीं है। यदि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिया-नुभव से ही उत्पन्न हो और उस तक ही सीमित हो, तो ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवाद के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। इन्द्रियानुभव के आधार पर कोई निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियानुभव से केवल अस्त-व्यस्त और क्षणिक सम्वेदन ही उपलब्ध हो सकते हैं जो ज्ञान कहलाने के अधिकारी नही हैं। सम्वेदनों के आधार पर किसी निश्चित सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। ईश्वर और आत्मा जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों की तो बात ही क्या, इन्द्रियानुभव से तो बाह्य जगत् की भी सत्ता सिद्ध नही हो सकती। कार्यकारणभाव आदि सार्वभौम

नियम भी नहीं बन सकते। और स्वयं सन्देहवाद की भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। किन्तु हमें निश्चित और सार्वभौम नियमों का ज्ञान होता है। स्वयं ह्यूम ने भी गणित के ज्ञान को निश्चित माना है। उनका कथन यही है कि यह वस्तु-जगत् का ज्ञान नहीं, केवल विज्ञानों का सम्बन्ध मात्र है। किन्तु यह सत्य नहीं, क्योंकि गणित भी अनुभव की अपेक्षा रखता है। और फिर प्रश्न यह है कि इन्द्रियानुभव के आधार पर तो विज्ञानों के सम्बन्ध में भी निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। फिर तो निश्चित और सार्वभौम ज्ञान की कल्पना तक नहीं होनी चाहिये। किन्तु ऐसा ज्ञान वस्तुतः सत्य है। केवल गणित के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी। यह ज्ञान इन्द्रियानुभव से आ नहीं सकता। यह बुद्धिविकल्पों से ही आता है। अतः यह कथन कि समस्त ज्ञान इन्द्रियानुभव प्रसूत हैं, मिथ्या है इस प्रकार कान्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के दोष दिखाये। अब उनके गुणों को बताते हैं। बुद्धिवाद का यह कथन कि हमें निश्चित और सार्वभौम ज्ञान होता है और यह ज्ञान इन्द्रियानुभव से न आकर हमारी बुद्धि के स्वतःसिद्ध और सहज नियमों से आता है, सत्य है। ज्ञान की सार्वभौमता, असंदिग्धता, निश्चितता और अनिवार्यता बुद्धि से ही आ सकती है, इन्द्रियानुभव से नहीं। साथ ही साथ, अनुभववादियों का यह कथन कि इन्द्रियानुभूति के बिना सत्य ज्ञान नहीं हो सकता, सत्य है। हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हमारे संवेदन या विज्ञान ही हैं। जिस ज्ञान की सामग्री संवेदन से न आयी हो वह ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। अतः हमें व्यवहार का ही ज्ञान हो सकता है, परमार्थ का नहीं।

इस प्रकार बुद्धिवाद के अनुभववाद के गुण-दोष दिखाकर कान्ट अपना समन्वयात्मक मत प्रस्तुत करते हैं। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से बनता है। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए द्रव्य (Matter) औरस्वरूप (Form) की आवश्यकता होती है जिनको उपादानकारण और स्वरूपकारण कहा जाता है। घट का द्रव्य या उपादान है मिट्टी और स्वरूप है उसकी विशिष्ट आकृति। केवल मृत्तिका से घट का काम नहीं चल सकता और यदि मृत्तिका न हो तो भले ही कुम्हार के पास घड़े का सांचा हो, घड़ा नहीं बन सकता। सोने की अंगूठी के लिए सोना और अंगूठी का सांचा जिसमें ढलकर सोना अंगूठी का रूप ले लेते है, दोनों आवश्यक है। केवल सोने के डले को उंगली में नहीं पहना जा सकता, और यदि सोना न हो तो भले ही सुनार के पास अंगूठी का सांचा हो, अंगूठी नहीं बन सकती। इसी प्रकार ज्ञान के लिए इन्द्रिय-संवेदन रूपी उपादान या द्रव्य की और बुद्धि-विकल्प रूपी स्वरूपदेने वाले सांचे की आवश्यकता है। बुद्धि-विकल्प के अभाव में हमें केवल अस्त-व्यस्त, विशृंखल और असम्बद्ध इन्द्रिय संवेदनों की वेदना (Feeling) मात्रहोगी और इस वेदना को, जो पशुओं को भी होती है, ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह निर्विकल्पइन्द्रिय-प्रत्यक्ष मात्र है और प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलानेका अधिकार इसे नहीं है। इस इन्द्रिय-संवेदन को, ज्ञान बनने

के लिए, बुद्धि विकल्प के साँचे में ढलना पड़ता है। बुद्धि-विकल्प इन अस्त-व्यस्त, विशृंखल और असम्बद्ध इन्द्रिय-संवेदनों को संगृहीत करके इन्हें नियमित और सम्बद्ध ज्ञान का रूप देते हैं। इसीलिए ज्ञान सदा सविकल्प होता है। अनुमान तो सविकल्प है ही प्रत्यक्ष-ज्ञान भी सदा सविकल्प होता है।[1] यदि इन्द्रिय-सम्वेदन न हों, तो ज्ञान की सामग्री या उपादान के अभाव में, बुद्धि-विकल्प निष्क्रिय रहेंगे; और यदि बुद्धि-विकल्प न हों, तो इन्द्रिय-सम्वेदन असम्बद्ध रहेंगे और ज्ञान नहीं बन सकेंगे। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है: इन्द्रिय-संवदनों के बिना बुद्धि-विकल्प पंगु या शून्य हैं और बुद्धि-विकल्पों के बिना इन्द्रिय संवेदन अन्ध है।[2] हमारे ज्ञान में सत्यता या यथार्थता इन्द्रिय-संवेदनों के कारण आती है; क्योंकि इन्द्रिय-संवेदन, हमारी कल्पना न होकर, वास्तविक पदार्थों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। इसीलिए इन्द्रिय सवेदना के अभाव में वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। हम परमार्थों को नहीं जान सकते। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनों और विज्ञानों तक ही सीमित है। अतः हमें व्यवहार का ही सत्य ज्ञान हो सकता है, परमार्थ का नहीं। हमारे ज्ञान में जो सार्वभौमता निश्चय और अनिवार्यता होती है, वह बुद्धि-विकल्पों से आती है; वह इन्द्रिय सवेदनों से नहीं आ सकती। अतः हमारा व्यवहार का ज्ञान सदा सत्य और निश्चित होता है। हमारी आत्मा निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-सवेदनों को ग्रहण नहीं करती; वह सक्रिय होकर अपने बुद्धि-विकल्पों द्वारा इन्द्रिय-संवेदनों को ज्ञान का रूप देती है। इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में आत्मा को अपने बुद्धि-विकल्पों द्वारा ज्ञान का रूप देने के लिए कोई सामग्री या द्रव्य उपलब्ध नहीं होता है। अतः ज्ञान के लिये इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों अनिवार्य है। ज्ञान सत्य और निश्चित होता है। सत्यत्व इन्द्रिय-संवेदनों से और निश्चय बुद्धि-विकल्पों से आता है। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों तक ही सीमित नहीं है; उसे ज्ञान बनने के लिए अतीन्द्रिय बनना पड़ता है। स्वरूपतः अतीन्द्रिय होने पर भी ज्ञान को अपनी सामग्री, द्रव्य या उपादान के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहना पड़ता है। ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है जो उसकी बुद्धि विकल्पों में अन्तर्निहीत रहता है। ज्ञान का स्वरूप बाहर से नहीं आता। ज्ञान का स्वरूप सार्वभौम, निश्चित और अनिवार्य है और इसीलिये इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष है। गणित शास्त्र और भौतिक-विज्ञानशास्त्र के सार्वभौम और अनिवार्य नियम इसके प्रमाण हैं। किन्तु इन अनुभवनिरपेक्ष सार्वभौम नियमों को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनुभव-सापेक्ष होना पड़ता है। ये अनिवार्य नियम बीजवत् हैं

१. न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, जैन आदि भारतीय दर्शनों ने भी प्रत्यक्ष ज्ञान को सविकल्प ही माना है और निर्विकल्प प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-सम्वेदन मात्र कहा है

२. सांख्य ने भी प्रकृति के बिना पुरुष को पंगु और पुरुष के बिना प्रकृति को अन्ध माना है।

जो बुद्धिरूपी क्षेत्र में विद्यमान हैं। इनको पल्लवित, पुष्पित और फलित होने के लिये इन्द्रियानुभव रूपी खाद, जल और प्रकाश की आवश्यकता है। इन्द्रियानुभव के अभाव में ये बीज वैसे ही पड़े रह जाते हैं, विकसित नहीं हो पाते। इन्द्रियानुभव इनको उत्पन्न नहीं करता, केवल विकसित करता है। यही कारण है कि बालकों और मूर्खों को इन नियमों का ज्ञान नहीं होता। बुद्धि के सहज और अनुभवनिरपेक्ष नियमों को अपनी अभिव्यक्ति के लिये अनुभव की आवश्यकता होती है। अतः बुद्धि के सार्वभौम, सहज और अनिवार्य नियम अपनी उत्पत्ति की दृष्टि से इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष और अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन्द्रियानुभव-सापेक्ष हैं। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है: 'समस्त ज्ञान का आरम्भ अनुभव से होता है, किन्तु उसकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती।'

बुद्धिवाद की तर्क-पद्धति निगमनात्मक थी और अनुभववाद की आगमनात्मक। बुद्धिवाद के अनुसार दर्शन का मुख्य कार्य बुद्धि के स्वतःसिद्ध, सहज और सार्वभौम नियमों के आधार पर ईश्वर, जीव और जगत् के विषय में निष्कर्ष निकालना मात्र है। अनुभववाद के अनुसार बुद्धि के कोई सहज और सार्वभौम नियम नहीं हैं; क्योंकि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदन से उत्पन्न होता है और सम्वेदनों के आधार पर कोई निश्चित तथा सार्वभौम ज्ञान नही हो सकता। अतः दर्शन का लक्ष्य इन्द्रियानुभूति के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना है। निगमन तर्क के वाक्य (प्रतिज्ञा) इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष (A Priori) और वियोजक या विश्लेषक (Analytic) होते हैं। आगमन तर्क के वाक्य अनुभव-सापेक्ष (A posteriori) और संयोजक या संश्लेषक (Synthetic) होते हैं। वियोजक वाक्यों में सार्वभौमता और अनिवार्यता होती है किन्तु नवीनता नहीं। संयोजक वाक्यों में नवीनता होती है, किन्तु सार्वभौमता और अनिवार्यता नही नवीनता से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है और सार्वभौमता या अनिवार्यता से ज्ञान असंदिग्ध या निश्चित होता है। वियोजक वाक्य में विधेय (Predicate) उद्देश्य (Subject) में अन्तर्निहित रहता है और वाक्य का कार्य उसे उद्देश्य के बाहर प्रकट कर देना ही है। विधेय के उद्देश्य की धारणा का विश्लेषण मात्र करने के कारण यह वाक्य. विश्लेषक या वियोजक कहलाता है। उदाहरण के लिये 'त्रिभुज तीन भुजाओंवाली आकृति है,' 'मनुष्य बुद्धियुक्त प्राणी है' 'जड़ पदार्थ आकाश में विस्तृत होता है', आदि। इनमें विधेय उद्देश्य के लिये कोई नयी बात नहीं बताता। तीन भुजाओंवाली आकृति होना त्रिभुज का स्वभाव है; बुद्धि युक्त होना मनुष्यों का स्वभाव है और विस्तृत होना जड़ पदार्थ का स्वभाव है। इन वियोजक वाक्यों में निश्चित सत्य तो है, किंतु इनसे नवीनता या ज्ञान वृद्धि नहीं प्राप्त होती। संयोजक वाक्य इन्द्रियानुभव के आधार पर बनते हैं और उनमें नवीनता होती है अर्थात उनसे कुछ नया ज्ञान मिलता है, किन्तु वे सार्वभौम और निश्चित नहीं होते।

उदाहरणार्थ, 'सोमवार को लू चली थी' 'मंगलवार को पानी बरसा था' 'राम लम्बा है,' आदि । इन वाक्यों में विधेय उद्देश्य के अन्तर्गत नहीं रहता, अपितु उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ नई बात बताता है लू चलना सोमवार का धर्म नहीं है और न पानी बरसना मंगलवार का धर्म है। न हर सोमवार को लू चलती है और न हर मंगलवार को पानी बरसता है। इसी प्रकार लम्बा होना मनुष्य का धर्म नहीं। हर मनुष्य लम्बा नहीं होता। किन्तु एक विशिष्ट मनुष्य राम लम्बा है। इन संयोजक वाक्यों से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। किन्तु ये निश्चित नहीं है अर्थात इनमें सार्वभौमता नहीं। कान्ट के समक्ष मुख्य समस्या यह थी कि क्या ऐसे भी वाक्य हैं जो सयोजक होते हुए भी अनुभव निरपेक्ष हों, जो नवीन होते हुए भी सार्वभौम और निश्चित हो ? 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' नामक ग्रन्थ इस समस्या को लेकर ही प्रारम्भ होता है। कान्ट का उत्तर है कि ऐसे वाक्य होते हैं जो हमारे ज्ञान की वृद्धि करते हैं। किन्तु सम्भाव नाममात्र नहीं होते और जो अनिवार्य और सार्वभौम रूप से सत्य होते हैं, किन्तु वियोजक नहीं होते। ऐसे वाक्य संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष (Synthetic Apriori Judgment) होते हैं। गणित विशेषत: रेखागणित और भौतिक विज्ञान के सभी वाक्य स्वरूपत: संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष होते हैं। गणित के वाक्यों को लोग वियोजक तथा सार्वभौम और भौतिक विज्ञान के वाक्यों को संयोजक तथा सम्भावित मानते हैं। कान्ट के अनुसार यह अनुचित है। गणित के वाक्य भी संयोजक होते हैं और भौतिक विज्ञान के वाक्य भी सार्वभौम होते हैं। गणित का उपपत्तियाँ देश (Space) के अनुभव की अपेक्षा रखती हैं और गणित के सिद्धांत वस्तु-जगत् में भी लागू होते हैं। भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त अनुभव सापेक्ष होने पर भी सार्वभौम और निश्चित होते हैं। अत: गणित और भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त, अपने स्वरूप की दृष्टि से अनुभव-निरपेक्ष एवं सार्वभौम होते हैं और इस स्वरूप की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनुभव-सापेक्ष एवं संयोजक होते हैं। यही कारण है कि इनमें, संयोजक होने पर भी, सार्वभौम और असंदिग्ध सत्य रहता है। ये सिद्धान्त स्वत:सिद्ध और अनिवार्य कार्य-कारण भाव सम्बन्ध पर आश्रित होते हैं। अत: इनमें भी अनिवार्य सत्य का होना अनिवार्य है। 'मनुष्य मरण शील है,' 'जड़ पदार्थ का परिमाण होता है' 'पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है,' जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है', इत्यादि वाक्य संयोजक और सार्वभौम हैं। ये हमें नई बात बताते हैं और उस बात में सार्वभौमता और अनिवार्यता है। इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रियानुभव उपस्थित करती है और बुद्धि-विकल्प इस सामग्री को सार्वभौम नियम के रूप में परिणत करता है। प्रत्येक वैज्ञानिक प्रतिज्ञा में एकअंश इन्द्रिय-सम्वेदन द्वारा प्रस्तुत होता है और दूसरा अंश बुद्धि-विकल्प द्वारा। बुद्धिवाद इसे भूल जाता है कि जन्मान्ध व्यक्ति को रूप का बोध नहीं हो सकता। अमुभववाद इसे भूल जाता है कि मूर्ख व्यक्ति की सर्वोत्तम

इन्द्रियाँ भी उसे सार्वभौम ज्ञान का बोध नहीं करा सकतीं। आलोचनावाद सम्वेदन की सामग्री को और बुद्धि-विकल्प की सार्वभौमता को स्वीकार करता है और इन दोनों को संयोजक तथा अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों के लिये आवश्यक मानता है। इस ज्ञान की सामग्री अनुभव-प्रसूत हैं, किन्तु इस ज्ञान का स्वरूप अनुभव-जन्य नहीं है। इसका स्वरूप बुद्धि के सहज, सार्वभौम और अनिवार्य नियमों से बनता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब बुद्धि और बाह्य जगत् में सामंजस्य हो। बुद्धि अपने सहज विकल्पों द्वारा बाह्य जगत् का सफल और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त कर लेती है। भौतिक विज्ञानों की सफलता इस बात को बताती है कि बाह्य जगत् को सुव्यवस्थित तथा नियमित करने में बुद्धि का हाथ है। 'मनुष्य मरणशील' है—यह वाक्य इन्द्रियानुभव तक सीमित नहीं। इन्द्रियानुभव से हम दो, चार, दस, बीस, सौ, दो सौ मनुष्यों को मरणशील देख सकते हैं, किन्तु भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त मनुष्यों को मरणशील कहते ही इन्द्रियानुभव की सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। यह सार्वभौम सत्य अनुभव पर प्रतिष्ठित नहीं है। यह कार्य-कारण-भाव रूपी बुद्धि के सहज नियम पर आधारित है साथ ही यदि इन्द्रियानुभव द्वारा कुछ मनुष्यों की मरणशीलता का ज्ञान हो, तो यह सहज नियम अभिव्यक्त नहीं हो सकता। अनुभववादियों का यह कथन कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियसम्वेदनों से उत्पन्न होता है, सर्वथा असत्य है। हमारी बुद्धि इन्द्रियसम्वेदनों को निष्क्रिय होकर ग्रहण नहीं करती। बुद्धि 'कोरा कागज' या 'अंधेरा कमरा' नहीं है। बुद्धि अपने सहज नियमों से इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित और नियमित करके उसे सार्वभौम ज्ञान का रूप देती है। कान्ट का यह मत दर्शन-शास्त्र में कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति माना जाता है। कॉपरनिकस के पहले पश्चिम में यह मत प्रचलित था कि पृथ्वी स्थिर है और सृष्टि का केन्द्र है और सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है। कॉपरनिकस ने सिद्ध किया कि सृष्टि का केन्द्र सूर्य है, पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। इस मत को पाश्चात्य ज्योतिविद्या में कॉपरनिकस की क्रान्ति कहते हैं। कान्ट ने भी दर्शन के क्षेत्र में कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति उपस्थित की। कान्ट के पहले अनुभववादियों की यह मान्यता जम चुकी थी की मानवी बुद्धि निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-सम्वेदनों को ग्रहण करती है कि हमारे ज्ञान को प्रकृति निर्मित करती है कि हमारा ज्ञान अनुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कान्ट ने बताया कि मानवी बुद्धि सक्रिय होकर इन्द्रिय-संवेदनों को व्यवस्थित और नियमित बनाती है, कि हमारी बुद्धि प्रकृति के अस्त-व्यस्त, विशृंखल और क्षणिक संवेदनों को संगृहीत करके उनको व्यवस्थित, नियमित और नित्य ज्ञान के रूप में परिणत करना मानवी बुद्धि का ही कार्य है। प्राकृतिक नियमों की सार्वभौमता और अनिवार्यता बुद्धि से ही आती है। यह सत्य है कि हमें पारमार्थिक स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं होता और

हमारा ज्ञान अपने इन्द्रियसम्वेदनों की सामग्री तक ही सीमित रहता है, किन्तु इस सामग्री को व्यवस्थित एवं नियमित करना हमारी बुद्धि का ही कार्य है। बुद्धि प्रकृति के पास शिष्य बनकर नहीं जाती: वह न्यायाधीश के समान प्रकृति से प्रश्न पूछती है और उनका उत्तर देने के लिए प्रकृति को बाध्य करती है। भौतिकविज्ञानों के सार्वभौम नियम इस बात के साक्षी हैं। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है 'बुद्धि प्रकृति को नियामित करती है। प्रकृति के असम्बद्ध और क्षणिक सम्वेदनोंको सम्बद्ध, व्यवस्थित और नियमित ज्ञान का रूप देकर प्राकृतिक नियमों में सार्वभौमता तथा अनिवार्यता लाना बुद्धि का ही कार्य है। इसीलिये गणित में और भौतिकविज्ञानों में संयोजक और अनुभवनिरपेक्ष वाक्यों द्वारा सार्वभौम सत्य प्रतिष्ठापित किया जाता है। गणित के नियम स्वतः सिद्ध हैं। भौतिकविज्ञानों के नियम अनुभव से सिद्ध किये जा सकते हैं। अतः गणित और भौतिकविज्ञान को बुद्धि जन्य सार्वभौमता अनिवार्य है।

अब प्रश्न यह है कि जिस प्रकार गणित में और भौतिक विज्ञानों में संयोजक तथा अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों द्वारा सार्वभौम और सत्य ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार दर्शन में भी सार्वभौम और सत्य ज्ञान मिल सकता है? क्या दर्शन के वाक्य भी संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष हैं? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए कान्ट दर्शनको दो क्षेत्रों में विभाजित करते हैं-एक तो व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक। व्याहारिक क्षेत्र में ज्ञानकी सामग्री इन्द्रिय सम्वेदनों द्वारा आती है। पारमार्थिक क्षेत्र में इन्द्रिय-सम्वेदनों की गति नहीं है; यहाँ ज्ञान अपने ही विकल्पों को नियमित करता है। अतःव्यवहार में संयोजक और अनुभवनिरपेक्ष वाक्यों द्वारा सत्य और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त हो सकता है किन्तु परमार्थ में विषय अतीन्द्रिय होने के कारण, सत्य और निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं। ईश्वर, जीव और जड़त्व आदि अतीन्द्रिय हैं। इनके विषय में जो ज्ञान हमें होता है उसकी सामग्री अनुभव-जन्य नहीं होती। इस ज्ञान को अनुभव से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-सम्वेदन के अभाव में हम यह नहीं जान सकते कि इस ज्ञान के विषय वस्तु-जगत् में भी है या नहीं। अतः ईश्वर, जीव और जगत् का प्रतिपादन करनेवाला दर्शन-शास्त्र, गणित और भौतिक विज्ञानों के समान कभी सत्य और निश्चित ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। परमार्थ-क्षेत्र में हमारा ज्ञान सम्भावना मात्र है।

कान्ट ने तत्व-मीमांसाके पूर्व ज्ञान-मीमांसा आवश्यक समझी। आलोचनात्मक दर्शन के लिए, बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के दोषों से बचने के लिए पहले हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा जान लेना अत्यावश्यक है। कान्ट के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति, इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से होती हैं। इन्द्रिय सम्वेदनों से ज्ञान में सत्यत्व और बुद्धि विकल्पों से सार्वभौमता तथा अनिवार्यता आती है। प्रामाण्य के विषय में, वही ज्ञान प्रमाणिक है जो पारमार्थिक स्वलक्षणों द्वारा उत्थापित किया जाय अर्थात् जिसकी सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों के रूप में पार-

मार्थिक स्वलक्षण प्रस्तुत करे और जिस सामग्री को बुद्धि विकल्प सार्वभौम निश्चय प्रदान करें। संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान ही प्रामाणिक है। सीमा के विषय में ज्ञान व्यवहार तकही सीमित रहता है, परमार्थतक उसकी पहुँच नहीं। गणित और भौतिक विद्वानों में संयोजक तथा अनुभव निरपेक्ष ज्ञान सम्भव है। अतः यह ज्ञान सत्य और सार्वभौम है। दर्शनके व्यावहारिक क्षेत्रमें भी यह ज्ञान सम्भव है। किन्तु दर्शन के पारमार्थिक क्षेत्र में यह ज्ञान सम्भव नहीं। इन सिद्धान्तों के कारण 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' नामक ग्रन्थ को तीन भागों मे विभाजित किया गया है। प्रथम भाग का नाम'इन्द्रिय सम्वेदन परीक्षा' (Transcendental Aesthetic) है। द्वितीय भाग का नाम 'बुद्धि-विकल्पपरीक्षा' (Transcendental Analytic) है। तृतीय भाग का नाम 'प्रज्ञापरीक्षा' (Transcendental Dialectic) है। अब हम इन तीन भागो का क्रमशः विवेचन करेंगे।

पहले इन्द्रिय सम्वेदन-परीक्षा को लें। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सवेदन और बुद्धि विकल्प के मिश्रण से बनता है। इन्द्रियां सम्वेदन के रूप में ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत करती हैं और बुद्धि अपने सहज विकल्पों से इन असंबद्ध सम्वेदनों को सम्बद्ध बनाकर इन्हें ज्ञान का रूप देती है। ज्ञान बनने के लिए सम्वेदनों को बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढालना पड़ता है। कान्ट के अनुसार इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प के बीच में दो द्वार हैं जिनका नाम है देश और काल। इन्द्रिय सम्वेदन इन दोनों द्वारों में होते हुए बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। सम्वेदन सीधे विकल्पों तक नहीं पहुँच सकते। वहाँ जाने के लिए संवेदनों को देश और काल के द्वारों में होकर निकलना पड़ता है। तब वे विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान का रूप लेते हैं। देश और काल का आवरण लेकर ही इन्द्रिय सम्वेदन बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। देश और काल बाह्य पदार्थ नहीं हैं ये हमारे ही मानसिक चश्मे हैं जिनको लगाकर हम बाह्य जगत् को देख सकते हैं। हमारा बाह्य जगत् का ज्ञान अनिवार्यतया दिक्कालपरिच्छिन्न है। अतः हम परमार्थों का वास्तविक स्वरूप नही जान सकते। हम तो 'हमारी दुनियां' को ही देख सकते हैं जिस पर देश और काल का आवरण पड़ा हुआ है। बाह्य जगत् के साथ हमारा परिचय इन्द्रियों के द्वारा होता है। इन्द्रियों के उपादान गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है। अतःबाह्य जगत् हमारे लिए इन पाँच प्रकार के सम्वेदनो से ही बनता है। लॉकके अनुसार इन सवेदनो मे बाह्य पदार्थोंके वास्तविक गुणोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। ये प्रतिबिम्ब विज्ञान कहलाते हैं और हम इन्ही को जानते हैं। बाह्य पदार्थों से हमारा साक्षात् नही होता। बर्कले के अनुसार भी हम अपने विज्ञानों को ही जान सकते हैं। सम्वेदन बाह्य पदार्थों द्वारा उत्थापित न होकर ईश्वर के दिव्य विज्ञान द्वारा उत्थापित होते हैं और हमारी आत्मा इनको ग्रहण करती है। ह्यूम के अनुसार हम केवल सम्वेदनों और विज्ञानो को ही जानते हैं। ये संवेदन किस प्रकार और किस कारण उत्पन्न होते हैं, यह प्रश्न हमारे लिए अज्ञेय है। कान्ट के अनुसार भी

हमारे ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-संवेदनों के रूप में प्रस्तुत होती है और जिन वास्तविक अर्थों द्वारा ये संवेदन उपस्थित किये जाते है उनको हम नहीं जान सकते। किन्तु जहाँ लॉक, बर्कले और ह्यूम के अनुसार ये संवेदन समूह ही वस्तुओं के रूप में परिणत होते हैं, वहाँ काण्ट के अनुसार ये संवेदन-समूह अस्त-व्यस्त, अशक्त, अर्थहीन असम्बद्ध और क्षणिक हैं एव इनमें वह सामर्थ्य नहीं कि ये स्वयं ज्ञान के रूप में परिणत हो सके। हमारी आत्मा निष्क्रिय होकर इनको ग्रहण नहीं करती वह सक्रिय होकर इनको व्यवस्थित और नियमित बनाती है। बुद्धि का कार्य चींटियों के समान सामान जुटाना ही नहीं है और न मकडियों के समान अपने भीतर से ही तन्तु उत्पन्न करके जाला बुनना है। बुद्धि का कार्य मधु-मक्खियों के समान सामानको संगृहीत करके उसका समन्वय करना और उसको दूसरा नया रूप देना है। जैसे मधुमक्खियाँ फूलों के रसों को मधु में परिणत करती हैं, वैसे ही बुद्धि इन्द्रिय-संवेदनो को ज्ञान के रूप में परिणत करती है। शक्ति बुद्धि में है, सम्वेदनों में नहीं। इसके पहले कि ये संवेदन बुद्धि विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान के रूप मे निकले, यह आवश्यक है कि ये संवेदन देश और काल के द्वारों में से निकलकर बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचे। देश और काल अनुभव-जन्य नही है और न ये बाह्य पदार्थ है। ये प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार हैं और इनके अन्दर से निकलकर ही सवेदन अनुभव का रूप ले सकते हैं। अनुभूत होने के लिए बाह्य जगत् को देश और काल दोनों द्वारों मे से निकलना पड़ता है और आन्तर जगत् को केवल काल के द्वार से।

काण्ट ने देश और काल की व्याख्या इस प्रकार की है:—देश और काल न तो इन्द्रिय-संवेदन रूप हैं और न बुद्धि-विकल्प रूप। ये प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार हैं जिनमें से निकलकर संवेदन बुद्धि तक पहुँचते है और विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान का रूप लेते हैं। देश और काल अनुभव-निरपेक्ष हैं, किन्तु बुद्धि-विकल्प नहीं हैं। ये इन्द्रिय-संवेदन भी नहीं हैं और न उनके समान बाह्य पदार्थों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। यदि हम अपने ज्ञान में से इन्द्रिय-संवेदन का अंश और बुद्धि-विकल्प का अंश निकाल दें तो केवल देश और काल बच रहते हैं। अनुभव के आधार पर हम देश-काल की कल्पना नहीं करते, हम देश काल के कारण ही अनुभव कर सकते हैं। वस्तुओं के देश-गत होने का अनुभव है उनके आगे पीछे, यहाँ वहाँ पास-दूर आदि होने का अनुभव। यह अनुभव देशत्व के अनुभव के बिना नहीं हो सकता। पहले देशत्व का अनुभव होता है, फिर वस्तुओं के यहाँ या वहाँ होने का अनुभव। बाह्य पदार्थ के अनुभव के लिए उसका यहाँ-वहाँ, पास-दूर, आगे पीछे आदि होना अनिवार्य है। इसी प्रकार वस्तुओं या घटनाओं की सहस्थिति या पूर्वापर क्रम अथवा आनन्तर्य का अनुभव कालत्व के अनुभव के बिना नहीं हो सकता। पहले काल का अनुभव होगा फिर सहस्थिति या आनन्तर्य का। काल

के अनुभव के बिना किसी भी पदार्थ या घटना का, चाहे वह बाह्य हो चाहे मानसिक अनुभव नहीं हो सकता। यदि देश और काल का अनुभव न हो तो हमें देशगत और, कालगत संबन्धों का अनुभव भी नहीं हो सकता। हम किसी विशेष देश या विशेष काल के अनुभव को अपनी कल्पनासे पृथक्कर सकते हैं, किन्तु देशत्व और कालत्वकी भावना को हम अपने अनुभवसे कभी पृथक् नहीं कर सकते। देश और कालकी कल्पना इन्द्रियानुभव के आधार पर नहीं की जाती, अपितु स्वयं इन्द्रियानुभव देश और काल द्वारा आवृत होकर ही अनुभव बन सकता है। अतः देश और काल अनुभवजन्य न होकर अनुभव-निरपेक्ष है और अनुभव इन्हीं के कारण सभव होता है। अनुभव-निरपेक्ष होने पर भी देश और काल बुद्धि विकल्प नहीं है। ये शुद्ध सम्वेदनमात्र हैं, किन्तु अनुभव जन्य इन्द्रिय-संवेदन नहीं है। देश और काल दोनों अखण्ड, असीम और अनन्त हैं। इनके खण्ड या विभाजन नहीं हो सकते। विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की कल्पना हमारी कल्पनामात्र है। प्रत्यक्ष अनुभवरूप होने के कारण इनको विशुद्धसंवेदन कहा जाता है ये निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप हैं, सविकल्प बुद्धिरूप नहीं। फिरभी ये अनुभव-निरपेक्ष और सार्वभौम है, बुद्धि के विकल्प सामान्य विज्ञान रूप होते है, किन्तु देशकाल की प्रतीति सामान्य विकल्प के रूप में न होकर विशेष निर्विकल्प प्रत्यक्ष के रूप में होती है। देशमें और विशिष्ट देश खंडोंमें अनन्त और सान्तका सम्बन्ध हैं, सामान्य और विशेष का सम्बन्ध नहीं। जो सम्बन्ध गोत्व जातिमें और एक विशेष गो में है, वह सम्बन्ध देशत्व में और देश-खण्ड में नहीं है। यदि ऐसा हो तो देश बुद्धि-विकल्प हो जायगा। इसी प्रकार काल और काल-खंडों का सम्बन्ध समझना चाहिए। देश और काल की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है; इनको सविकल्प बुद्धिसे नहीं समझाया जा सकता। इधर-उधर; यहां वहां, पास-दूर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बांयें, अब-तब; नया-पुराना, बालक-वृद्ध, आदि की प्रत्यक्ष प्रतीतिही होती है। यदि किसी व्यक्ति को यह प्रतीति न हो तो उसे किसी प्रकार के तर्क से यह प्रतीति नहीं कराई जा सकती।

देश और काल बाह्य पदार्थ नहीं है। ये हमारे मानसिक धर्म हैं। ये प्रत्यक्षानुभूति के द्वार हैं जिनमें होकर संवेदन ज्ञान बनने के लिए बुद्धि विकल्पों तक जाता है। किन्तु मानसिक धर्म होने पर भी ये किसी व्यक्ति विशेष की कल्पना नहीं हैं। इसकी सता सार्वभौम और अनुभव के लिए अनिवार्य है।

देश और काल के कारण ही हमारा अनुभव सम्भव होता है। सारा अनुभव काल के द्वार मे से और बाह्य जगत् का अनुभव काल और देश दोनों द्वारों में से निकलकर ज्ञान बन सकता है। प्रत्येक अनुभव, चाहे वह बाह्य जगत् का हो चाहे मानसिक अवस्थाओं का काल से आवृत होकर ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त बाह्य जगत् के अनुभव को देश से भी आवृत होना पड़ता है। ये वे चश्मे है जिनको लगाकर ही हम वस्तुओं या घटनाओं को देख सकते हैं। हमारे व्यावहारिक विश्व का दिक्कालावच्छिन्न होना अनिवार्य है।

परमार्थ तक देश और काल की गति नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि जो कुछ भी सत् हो, वह दिक्कालावच्छिन्न है। हम केवल यही कह सकते हैं कि जिसका ज्ञान हमें हो सकता है, वह दिक्कालावच्छिन्न है। अतः परमार्थ हमारे लिए अज्ञेय है।

देश-काल की सत्ता व्यवहार के लिए वास्तविक और परमार्थ के लिए काल्पनिक है। हमें सत्य ज्ञान व्यवहार का ही हो सकता है क्योंकि इसकी सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों से आती है। और उन सम्वेदनों के सम्वादी परमार्थ विद्यमान होते हैं। सम्वेदन देश-काल के द्वारों में से निकलकर और बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान का रूप लेते हैं। अतः जहाँ सम्वेदन है, वहाँ देश-काल की सत्ता वास्तविक है। जो पदार्थ अतीन्द्रिय हैं, जिनका संवेदन नहीं होता, उन परमार्थों के लिए देश-काल की कोई सत्ता नहीं। कुछ लोग देशकाल को बाह्य पदार्थ मानते हैं और कुछ लोग केवल सम्बन्ध। दोनों ही मत गलत हैं। देश-काल हमारे मानसिक धर्म हैं, किन्तु सार्वभौम हैं और अनुभव निरपेक्ष हैं।

देश-काल के कारण ही गणित शास्त्र की प्रतिज्ञायें संयोजक और अनुभव निरपेक्ष होती हैं। देश-काल के कारण ही उनमें सार्वभौमता और निश्चयात्मकता आती है। रेखा-गणित देश पर निर्भर है। अंकगणित काल पर निर्भर है। यन्त्र गति का विज्ञान (Mechanics) देश और काल दोनों पर निर्भर है।

यह हुई देश-काल की व्याख्या। किन्तु ज्ञान बनने के लिए इन्द्रिय सम्वेदनों का देश और काल द्वारा व्याकृत होना ही पर्याप्त नहीं है; देश और काल के द्वारों में से निकलकर सम्वेदनों का बुद्धि तक पहुँचना और बुद्धि-विकल्प के साँचों में ढलकर ज्ञान के रूप में परिणत होना भी आवश्यक है।

अब कान्ट की बुद्धि-विकल्प-परीक्षा का विवेचन करें। यह कहा जा चुका है कि जब इन्द्रिय-संवेदन देश और काल के द्वारो में से होते हुए बुद्धि तक पहुँचते हैं तब बुद्धि, अपने विकल्पों द्वारा, उनको सगृहीत और सम्बद्ध करके ज्ञान का रूप दे देती है। हमारे ज्ञान की सार्वभौमता, असंदिग्धता, निश्चयात्मकता और अनिवार्यता बुद्धि-विकल्पों से आती है। गणित में संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष वाक्य क्यों होते हैं ?—इस प्रश्न का उत्तर है, देश और काल के कारण। भौतिक विज्ञान और व्यावहारिक दर्शन में संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष वाक्य क्यों होते हैं ?—इस प्रश्न का उत्तर है बुद्धि-विकल्पों के कारण। बुद्धि-विकल्पों का कार्य अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित, असम्बद्ध और निरर्थक इन्द्रिय सम्वेदनों को सगृहीत, व्यवस्थित, सम्बद्ध और सार्थक ज्ञान के रूप में परिणत करना है। प्रकृति के सार्वभौम नियम प्रकृति में नहीं होते; ये बुद्धि की देन है बुद्धि प्रकृति को नियमित करती है—यह कान्ट की कॉपरनिकस-जैसी क्रान्ति है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। बुद्धि का

कार्य समन्वय करना है। यह समन्वय जिनके द्वारा किया जाता है उन साधनों का नाम विकल्प या धारणा (Categories) है। ये वे साँचे हैं जिनमें ढलकर इन्द्रिय सम्वेदन ज्ञान के रूप में परिणत होते हैं। जितने न्याय-वाक्य हैं उतने ही विकल्प हैं। न्याय-वाक्य बारह प्रकार के होते है, अत: विकल्प या धारणायें भी बारह है। बारह न्याय-वाक्यों को चार भागों मे विभाजित्त करके प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत तीन-तीन न्याय वाक्य रक्खे जाते हैं। इसी प्रकार बुद्धि-विकल्पों को भी चार भागो में विभाजित करके प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत तीन-तीन विकल्प रक्खे जाते है।

न्याय-वाक्यों के चार-विभाग ये हैं—परिमाण-वाचक, गुण वाचक, सम्बन्ध वाचक और प्रकार-वाचक। इन चारों विभागों के बारह भेद सोदाहरण यहाँ दिये जाते है—

(क) परिमाण-वाचक (Quantitative)—

(१) पूर्ण व्याप्तिबोधक (Universal)—सब मनुष्य मरणशील हैं।

(२) अपूर्ण व्याप्तिबोधक (Particular)—कुछ मनुष्य विद्वान है।

(३) एकात्मक (Singular)—राम बुद्धिमान् है।

(ख) गुण-वाचक (Qualitative):—

(४) भावात्मक (Affirmative)—मनुष्य चेतन है।

(५) अभावात्मक (Negative)—पत्थर चेतन नहीं है।

(६) सीमित (Limited)—आत्मा अमर है।

(ग) सम्बन्ध-वाचक (Relational):—

(७) निरपेक्ष (Categorical)—अग्नि उष्ण है।

(८) सापेक्ष (Hypothetical)—यदि अग्नि के पास बैठोगे तो गर्मी लगेगी।

(९) वैकल्पिक (Disjunctive)—या तो विद्रोह करो, या सहन करो।

(घ) प्रकार-वाचक (Modal)

(१०) सम्भावित (Problematic)—सम्भव है कि ईश्वर हो।

(११) प्रतिपन्न (Assertoric)—वह चतुर है।

(१२) आवश्यक (Appodictic)-प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य है

इन बारह न्याय-वाक्यों के अनुसार बुद्धि ये हैं:—

(क) परिमाणात्मक—(१) पूर्णता (Unity)

(२) अनेकता (Plurality)

(३) एकता (Totality)

(ख) गुणात्मक— (४) सत्ता (Reality)

(५) अभाव (Negative)
(६) सीमा (Iimitation)
(ग) सम्बन्धात्मक—(७) द्रव्य-गुण-सम्बन्ध (Substance & Accident)
(८) कार्य-कारण-सम्बन्ध (Cause and Effect)
(९) अन्योन्य-सम्बन्ध (Reciprocity between the Active and the Passive)
(घ) प्रकारात्मक—(१०) सम्भावना-असम्भावना (Possibility and Impossibtlity)
(११) भाव-अभाव (Existence & Non Existence)
(१२) अनिवार्यता-आगन्तुकता (Necessity and Contingency)

इस प्रकार बारह न्याय वाक्यो के आधार पर बुद्धि के बारह विकल्पों की प्रतिष्ठा करने को कान्ट ने 'न्याय-वाक्यों के आधार पर बुद्धि विकल्पों की स्थापना' (Metaphysical Deduction of the Categortes) कहा है। इस स्थापना में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम इन बारह विकल्पों के पहले छह विकल्प 'अचल' (Mathematical) हैं और वस्तुओं के स्वभाव को बतलाते है, बाद के छह विकल्प 'चल' (Dynamic) हैं, द्वन्द्वात्मक हैं, और वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों को या वस्तुओ और बुद्धि के सम्बन्धों को बतलाते हैं। द्वितीय, ये बारह विकल्प चार विभागो मे विभाजित है और प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत तीन विकल्प आते है। इन तीन विकल्पों में तीसरा विकल्प दूसरे और पहले विकल्प के सम्मिश्रण से बनता है किन्तु यह (तीसरा विकल्प) दूसरे और पहले विकल्प का योगमात्र नहीं है; यह नवीन विकल्प है जो उनके समन्वय से निकलता है और इसीलिये इसकी अलग गणना की गई है। इस तृतीय विकल्प का निर्माण बुद्धि का एक स्वतन्त्र कार्य है। एकता, अनेकता और पूर्णता के समन्वय से बनती है; सीमा, अभाव और सत्ता के समन्वय से बनती हैं; अन्योन्यसम्बन्ध, कार्य-कारणभाव और द्रव्यगुणभाव के समन्वय से उत्पन्न होता है; और अनिवार्यता, भाव और सम्भावना के समन्वय से निर्मित होती है। तृतीय, इन चारों विभागों मे सम्बन्धात्मक विभाग सबसे प्रधान है; क्योंकि बुद्धि का मुख्य कार्य सम्बन्ध उत्पन्न करना ही है। चतुर्थ इन चार विभागों से कान्ट ने चार बातों का खण्डन किया है : परिमाण से अणुवाद का, गुण से शून्य का, कार्य-कारण-सम्बन्ध से सयोग या भाग्य का, और प्रकार से चमत्कार का खण्डन होता है। पंचम, ये बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-संवेदनों को व्यवस्थित और नियमित करके उनको ज्ञान का रूप देते हैं। ज्ञान की सार्वभौमता और अनिवार्यता इन विकल्पों से ही आती है। सम्वेदनों के अभाव मे बुद्धि-विकल्पों के पास

नियमित करने के लिये कोई सामग्री नहीं रहती, अतः सम्वेदनों के अभाव में सत्य ज्ञान नही हो सकता। बुद्धि-विकल्पों का कार्य व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ तक इनकी गति नही है। षष्ठ, हमारे ज्ञान के सारे सम्बन्ध इन बारह विकल्पो के अन्तर्गत आ जाते है। जिस प्रकार वर्णमाला से समस्त वाङ्मय का निर्माण होता है, उसी प्रकार इन बारह बुद्धि-विकल्पों से हमारा सारा व्यावहारिक ज्ञान बनता है। ये सार्वभौम और अनुभव-निरपेक्ष हैं। ये अनुभव के जनक हैं।

अब एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि अनुभव-जन्य इन्द्रिय-संवेदन और अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि-विकल्प परस्पर नितान्त विलक्षण हैं, फिर इनका योग कैसे होता है? इन्द्रिय-सवेदन तो वेदनारूप हैं और बुद्धि-विकल्प ज्ञानरूप; फिर बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को कैसे नियमित कर सकते हैं? ये दोनों तो एक दूसरे की भाषा नही समझते; अतः इनके लिए किसी मध्यस्थ या दुभाषिये की आश्यवकता है। कान्ट ने इस समस्या को स्वीकार करके 'काल' को इन दोनो का मध्यस्थ माना है। काल इन दोनो के बीच की शृंखला है। काल शुद्ध सम्वेदनरूप भी है और सार्व भौम एव अनुभव-निरपेक्ष भी। देश तो केवल बाह्य-जगत् और मानसिक-जगत् दोनो के अनुभव पर लागू है। बुद्धि-विकल्प काल के माध्यम से इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान का रूप दे देते हैं। हमारे अनुभव के सारे विषय काल के सार्वभौम प्रत्यक्ष (Schemate) द्वारा ही अनुभूत हो सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक बुद्धि-विकल्प की अपनी काल-प्रतीति (Scheme) होते हैं। पूर्णता की कालप्रतीति 'सब क्षण', अनेकता की 'कुछ क्षण', एकता की 'एक क्षण', सत्ता की 'पूर्ण काल, अभाव की 'शून्यकाल', सीमा की 'अपूर्ण काल', द्रव्य की 'नित्य काल', कार्य-कारण-सम्बन्ध की 'अनन्तर्य'; अन्योन्यभाव की 'सहस्थिति', सम्भावना की 'किसी काल में सत्ता', भाव की 'एक निश्चित काल मे सत्ता' और अनिवार्यता की 'सब कालों में सत्ता' है।

इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि बुद्धि-विकल्प अनुभव-निरपेक्ष और सार्वभौम होते हैं और इनका कार्य अव्यवस्थित, असम्बद्ध तथा निरर्थक इन्द्रिय-संवेदनों को व्यवस्थित, सम्बद्ध और सार्थक बनाकर ज्ञान के रूप मे परिणत करना है। भौतिक विज्ञान और व्यावहारिक दर्शन में संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष वाक्य इन बुद्धि विकल्पों के ही कारण सम्भव होते हैं। बुद्धि-विकल्प प्रकृति को नियमित करते हैं। हमारे ज्ञान में जो निश्चयात्मक और अनिवार्यता है वह संवेदनों से नही आ सकती, वह अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि विकल्पों से आती है बुद्धिभौतिक विज्ञान के सार्वभौम सत्य सिद्धान्त इस बात को सिद्ध करते हैं कि बुद्धि-विकल्प बाह्य जगत् को नियमित करते हैं। ह्यूम ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को वस्तु-जगत् का सम्बन्ध न बताकर केवल हमारे विज्ञानों का सम्बन्ध ही बताया था। कान्ट का मत है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध वस्तु-जगत् का सम्बन्ध है। ह्यूम का यह कथन तो ठीक है कि यह सम्बन्ध इन्द्रियसवेदनों से

प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु इसलिये इस सम्बन्धको काल्पनिक नहीं माना जा सकता। परन्तु अभी तक ह्यूम का समुचित खण्डन नहीं हो पाया है। भौतिक-विज्ञान के सिद्धान्तों की सत्यता के आधार पर कार्य-कारणभाव को वस्तु जगत् का सिद्धान्त मानना कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। बुद्धि के विकल्प बाह्य-जगत के नियमों की सृष्टि करते हैं, यह हम किस आधार पर और किस अधिकार से कह सकते हैं? ह्यूम के अनुसार कार्यकारण-सम्बन्ध को हमारे विज्ञानों का ही सम्बन्ध क्यों न माना जाय? इस अत्यन्त महत्वपूर्ण आक्षेप का उत्तर कान्ट ने इस प्रकार दिया है—यदि बुद्धि-विकल्प बाह्य जगत को निर्धारित न करे, तो बाह्य जगत् का कोई अनुभव नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्पों के बिना, सार्वभौम और अनिवार्य सत्य की तो बात ही दूर है, यह बाह्य जगत् भी हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। केवल निश्चित और सार्वभौम सत्योंकी उपलब्धि के लिए ही बुद्धि-विकल्पो को मानना आवश्यक नहीं है, अपितु विषयता की प्रतीति के लिए भी बुद्धि-विकल्पों को मानना आवश्यक है। इस बात की सिद्धि को, कि अनुभव निरपेक्ष बुद्धिविकल्पों के बिना हमें किसी प्रकार का अनुभव नहीं हो सकता, कान्ट ने विषमता के आधार पर अतीन्द्रिय बुद्धि-विकल्पों की स्थापना' (Transcendental Deduction of the Categories) कहा है। इससे ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवाद पर मर्मान्तिक प्रहार हुआ हैं और उसे सदा के लिए समाप्त कर दिया गया है। ह्यूम का कथन था कि हमें इन्द्रिय-सम्वेदनों का ही ज्ञान होता है और ये सम्वेदन क्षणिक और पृथक्-पृथक् होते है तथा इनके आधार पर सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन नहीं हो सकता। कान्ट का मुँहतोड़ उत्तर है कि अनुभवनिरपेक्ष और सार्वभौम बुद्धिविकल्पों के बिना क्षणिक तथा पृथक्-पृथक् इन्द्रिय-सम्वेदन भी हमारे अनुभव के विषय नहीं बन सकते। बुद्धि-विकल्पों के बिना इस सन्देहवाद का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-सम्वेदन क्षणिक, पृथक्-पृथक्, अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित, असम्बद्ध और निरर्थक हैं। स्वयं इनमे हमारे ज्ञान के विषय बनने की शक्ति नहीं है। इनको विषय बनाया जाता है। इनको संगृहीत, व्यवस्थित, सम्बद्ध और नियमित करके सार्थक ज्ञान के रूप में परिणत करने की शक्ति केवल हमारे बुद्धि-विकल्पों में है। बुद्धि-विकल्प स्वय अनुभव-निरपेक्ष और सार्वभौम है। उनकी शक्ति के कारण ये सम्वेदन हमारे ज्ञान के विषय बनते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या शक्ति बुद्धि-विकल्पों की अपनी है या किसी और वस्तु से आती हैं? कान्ट का उत्तर है कि बुद्धि-विकल्प तो सम्वेदनों को ज्ञान का रूप देने के साँचे हैं, उनमें स्वयं शक्ति नहीं है। यह शक्ति विशुद्ध आत्मा से आती हैं। आत्मा के प्रकाश से ही बुद्धि-विकल्प जगमगाते हैं और इसी की शक्ति से वे सम्वेदनो को ज्ञान का रूप देते हैं। इस विशुद्ध आत्मा का निराकरण शक्य नहीं, क्योंकि यह स्वतः सिद्ध है और समस्त अनुभव का आधार है। स्वीकरण और निराकरण,

मण्डन और खण्डन, विधि और निषेध आदि सब ज्ञान के धर्म हैं और स्वयं ज्ञान बिना आत्मा के उत्पन्न नही हो सकता। अतः ये धर्म आत्मा पर लागू नहीं होते। यह विशुद्ध आत्मा समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। इसका निराकरण सम्भव नही, क्योकि जो निराकर्ता है वही आत्म-स्वरूप है। यह विशुद्ध आत्मा व्यावहारिक 'जीवात्मा' नहीं है। व्यावहारिक जीव तो हमारे स्वसवेदना का विषय बनता है, किन्तु विशुद्ध आत्मा सदा ज्ञाता ही रहता है, कभी विषय नही बनता। ह्यूम इस विशुद्ध आत्मा को नहीं खोज सके तो कोई आश्चर्य नही, क्योंकि वे इस आत्मा को 'विषय' के रूपमें पकड़ना चाहते थे और यह कभी विषय बन नहीं सकता। यह स्वतःसिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान मे इसकी सत्ता झलकती है। इसको 'विषय' के रूप मे खोजना वैसा ही है जैसा ज्वलन्त सूर्य को दीपक के प्रकाश द्वारा देखना। इस विशुद्ध ज्ञाता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नही। इसी की ज्योति से और शक्ति से बुद्धि विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान का विषय बनाते हैं। यह विशुद्ध ज्ञाता नित्य और अनुभव-निरपेक्ष है। सग्रहण, समन्वय, सम्बन्ध नियम, सार्वभौमता और अनिवार्यता—सब इस ज्ञाता के कारण सम्भव हैं। इस विशुद्ध ज्ञाता को काण्ट ने 'अतीन्द्रियसमन्वयात्मक-अद्वय-विशुद्ध-अपरोक्षानुभूति (Transcendental Synthetic Unity of Pure Apperception) का नाम दिया है। यह विशुद्धज्ञाता विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। यह अद्वय, पूर्ण, नित्य और अनिर्वचनीय है। यह स्वत.सिद्ध, सार्वभौम और अनिवार्य है। यह अतीन्द्रिय और अनुभव-निरपेक्ष है। यह शरीर-परिछिन्न जीव नही है समस्त जीवों में इसी की ज्योति है। सारे जीवों के बुद्धि-विकल्प इसी की शक्ति से अनुप्रमाणित होते हैं। यह विशुद्ध और नित्य ज्ञाता हमारे सारे सम्वेदनों और विज्ञानों को एक सूत्रमें बाँधता है। इसीके कारण हमारे अनुभवों में एकरूपता होती है। इसीके कारण प्रत्येक जीवका जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता। इसीके कारण ज्ञान मे सार्वभौमता और अनिवार्यता आती है। यह हमारे सारे ज्ञान और अनुभव का एकमात्र स्रोत है। यह ज्ञाता ज्ञेय-ज्ञानकी व्यवहारिक त्रिपुटीके पार है उसका निर्विकल्प अधिष्ठान है। इसी की ज्योति और शक्ति के कारण जीव ज्ञाता और जगत ज्ञेय बनता है। व्यावहारिक ज्ञाता और परस्पर सापेक्ष है। 'अहं' के साथ 'इद' भी जुड़ा हुआ है। विषयी के साथ ही विषय की सत्ता भी है क्योंकि यदि विषय न हो तो विषयी व्यर्थ हो जाता है। ज्ञाता का ज्ञातृत्व ज्ञेय के ज्ञान के कारण ही सम्भव होता है। यदि ज्ञेय नही तो ज्ञाता भी नहीं। और यदि ज्ञाता नहीं तो ज्ञेय भी नही। इसलिये सुषुप्त मे ज्ञाता-ज्ञेय ज्ञान की त्रिपुटी का लय हो जाता है। व्यावहारिक जीव ज्ञाता है और इसके ज्ञातृत्व के लिये यह आवश्यक है कि उससे भिन्न जगत् की सत्ता हो जो उसका ज्ञेय बन सके। जीव के बुद्धि-विकल्प वस्तु-जगत् को ज्ञेय और अनुभूत बनाते हैं। बिना बुद्धि-विकल्पों के किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव सम्भव नही। और जिस चित्-शक्ति के कारण जीव ज्ञाता तथा जगत् ज्ञेय बनता है

वह विशुद्ध आत्मा-रूप अपरोक्षानुभूति ही है । यह नित्य और अद्वय है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में इसी की ज्योति है । सुषुप्ति में इस ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि जीव उस समय, विषयों के अभाव मे स्वयं भी नहीं रहता । किन्तु यह ज्योति बनी रहती है, अन्यथा सुषुप्ति के पश्चात् का अनुभव सुषुप्ति के पूर्व के अनुभव से सम्बद्ध नहीं हो सकता । यह 'विशुद्ध ज्ञाता' (I think) सारे अनुभव का आधार है और अनुभव के सामञ्जस्य, एकरूपता, सार्वभौमता और अनिवार्यता का कारण है । यह व्यावहारिक जीव नहीं है क्योंकि जीव स्वसंवेदनों का 'विषय' बनता है और जैसा ह्यूम ने कहा है, जीव क्षणिक सम्वेदनों और विज्ञानों का पुञ्जमात्र है। जीव में 'विषयत्व' और 'अनित्यत्व' है । विशुद्ध ज्ञाता केवल 'विषयी' है और 'नित्य' है । जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त देश और काल के खण्डों में पृथक्-पृथक् प्राप्त होनेवाले क्षणिक, असम्बद्ध और निरर्थक सम्वेदनों को सम्बद्ध, नियमित और सार्थक ज्ञान का रूप देकर उनको एक सूत्र में पिरोने और उनका जीव के "मेरे अनुभव" बनाने की शक्ति विशुद्ध ज्ञाता में ही है। यह विशुद्ध ज्ञाता अनिर्वचनीय है क्योंकि जीव इसको अपने बुद्धि-विकल्पों द्वारा नही पकड़ सकता । बुद्धि-विकल्पों का कार्य वस्तु को 'ज्ञान का विषय' अर्थात् ज्ञेय या अनुभूत बनाना है और विशुद्ध 'ज्ञाता कभी ज्ञान का विषय, या 'ज्ञेय' नहीं बन सकता । बुद्धि-विकल्प विशुद्ध ज्ञाता की ज्योति और शक्ति से कार्य करते हैं और इसलिये ज्ञाता पर लागू नही होते । जो समस्त अनुभव का आधार है वह स्वयं अनुभव में नहीं फँस सकता । अतः यह विशेषतः स्मरणीय है कि इस विशुद्धज्ञाता की 'एकता' या पूर्णता' बुद्धि विकल्पों की एकता या पूर्णता नहीं है । एकता और पूर्णता नामक 'बुद्धि-विकल्प भी हैं, किन्तु जब इस विशुद्ध ज्ञाता के लिए 'एकता' या पूर्णता का प्रयोग किया जाता है तो तात्पर्य इन बुद्धि-विकल्पों से नहीं है । 'एकता' और 'पूर्णता' के बुद्धि-विकल्प, अन्य बुद्धि-विकल्पों के समान, इस विशुद्ध ज्ञाता पर निर्भर हैं और इसलिये इस पर लागू नहीं हो सकते । अनिर्वचनीय का निर्वचन करने मे जो बुद्धि-गोचर नही है उसको जानने का प्रयत्न करने में ऐसी शाब्दिक कठिनाइयों का आना अनिवार्य है । किन्तु वाणी और बुद्धि के पार होने पर भी यह विशुद्ध ज्ञाता शून्यवत् नहीं है; क्योंकि इसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है । प्रत्येक ज्ञान या अनुभव मे इसकी ज्योति प्रकाशित होती है और इसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं। विज्ञाता का बुद्धि द्वारा विज्ञान न होने पर भी द्रष्टा का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन न होने पर भी, इस स्वतःसिद्ध विज्ञान के विज्ञान का, इस द्रष्टा के दर्शन का लोप कदापि नही हो सकता।[1] दूसरी बात जो विशेषतः स्मरणीय है यह है कि इस

१. कान्ट के ये विचार वेदान्त के आत्मतत्व के विचारों से बहुत मिलते हैं । विज्ञातारमरे । केन विजानयात् । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते । 'य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् ।'

विशुद्ध ज्ञाता की 'एकता' और 'पूर्णता' या 'सार्वभौम अनिवार्यता' वस्तु-जगत की एकता और अनिवार्यता है, जीव की काल्पनिक एकता नहीं। जीव अपने विज्ञानों में जो एकता लाता है, वह उसकी अपनी एकता है जो जीव के मानसिक जगत् में ही रहती है। किन्तु विशुद्ध ज्ञाता की एकता और अनिवार्यता वस्तु-जगत् की एकता और अनिवार्यता है, क्योंकि यह एकता और अनिवार्यता वस्तु-जगत् से प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय-सम्वेदनों में बुद्धि विकल्पों द्वारा स्थापित की जाती है। विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति लेकर बुद्धि-विकल्प प्रकृति को सम्बद्ध और नियमित करते हैं। भिन्न-भिन्न जीवों का जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता, क्योंकि समस्त जीवों के बुद्धि-विकल्पों में एक ही विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति संचरित होती है। व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् दोनों की सत्ता इस विशुद्ध आत्म-तत्व पर निर्भर है।

उपर्युक्त विवेचन से कान्ट ने यह सिद्ध किया कि बुद्धि-विकल्प, विशुद्धज्ञाता की शक्ति के आधार पर, इन्द्रियसवेदनों को सम्बद्ध और नियमित ज्ञान का रूप देते हैं और इसलिए यदि बुद्धि-विकल्प न हों तो कोई वस्तु हमारे ज्ञान या अनुभव का विषय नही बन सकती। किन्तु इस विवेचन से एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात निकलती है। वह यह कि हमारे सत्य ज्ञान के लिए इन्द्रिय संवेदन नितान्त आवश्यक है। बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय सवेदनों को ही ज्ञान का रूप दे सकते हैं। यदि संवेदन न हों, तो ज्ञान का रूप किसे दिया जायेगा? संवेदनों के अभाव में बुद्धि-विकल्प शून्य और निष्क्रिय रहेगे। जब तक इन साँचों में ढलने के लिए कोई सामग्री नहीं आयेगी, ये साँचे बेकार रहेंगे। अतःकान्ट के अनुसार हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनों के व्यवहार तक ही सीमित है। अतीन्द्रिय परमार्थ हमारे लिये अज्ञेय है। यह हमारे ज्ञान की सीमा हैं। इसे कान्ट का अज्ञेयवाद (Agnosticism) कहते हैं।

अब कान्ट के व्यवहार और परमार्थ के भेद पर कुछ अधिक विचार कर लेना चाहिए। ज्ञान बनने के लिए इन्द्रिय-संवेदनों को देश-काल के द्वारों में से निकल-कर बुद्धि-विकल्पों के साँचे में ढलना पड़ता है। अतः ज्ञान की सामग्री के लिए संवेदनों का होना अनिवार्य है। ज्ञान का सत्यत्व सवेदनों से आता है, क्योंकि संवेदन परमार्थों द्वारा उत्थापित होते है। संवेदन-जन्य ज्ञान के वास्तविक मूलरूप परमार्थ वस्तु-जगत् मे विद्यमान होते हैं। किन्तु संवेदनों में सार्वभौमता और अनिवार्य निश्चय नहीं हो सकता है। यह बुद्धि-विकल्पों से आता है। अतः हमारा ज्ञान सत्य और सार्वभौम होता है—इन्द्रिय संवेदनों के कारण सत्य और बुद्धि-विकल्पों के कारण सार्वभौम गणित में सत्यता और सार्वभौमता देश-काल के कारण आती है। भौतिक विज्ञानों में सत्यता और सार्वभौमता बुद्धि-विकल्पों के कारण आती हैं। ज्ञान या अनुभव बिना बुद्धि-विकल्पों के नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्प इन्द्रियसम्वेदनों को सम्बद्ध करके उन्हें ज्ञान का विषय बनाते हैं। अतः हमारा ज्ञान देश और काल की

सीमा से परिच्छिन्न और हमारे बुद्धि-विकल्पों से निर्मित होता है। हम वास्तविक पदार्थों को; परमार्थों को उनके वास्तविक रूप में नहीं देख सकते; क्योंकि ये पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। हम इनके द्वारा उत्थापित सम्वेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करके उन्हें ही देख सकते हैं। हमारा जगत् हमारे देश-काल की सीमा से परिच्छिन्न और हमारे बुद्धि-विकल्पों से निर्मित जगत् है। यह वस्तु-जगत् नहीं है। अतः कान्ट व्यवहार और परमार्थ में स्पष्ट भेद करते हैं। हम व्यवहार को ही जान सकते हैं, परमार्थ को नहीं। व्यवहार का ज्ञान सत्य और निश्चित होता है; क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करके बनाया गया है और इस ज्ञान के सम्वादी परमार्थिक पदार्थ वस्तु-जगत् में विद्यमान हैं। परमार्थ अतीन्द्रिय है। उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उसका कोई संवेदन नहीं। संवेदन के अभाव में ज्ञान के लिए कोई सामाग्री नहीं प्रस्तुत होती। संवेदन के अभाव में बुद्धि-विकल्प भी परमार्थों पर लागू नहीं होते। संवेदन के अभाव में देश-काल भी परमार्थों को परिच्छिन्न नहीं कर सकते। बुद्धि-विकल्प अपनी शक्ति विशुद्ध ज्ञाता से लेते हैं। किन्तु ज्ञान की सामग्री के अभाव में बुद्धि-विकल्प सक्रिय नहीं हो सकते और विशुद्ध ज्ञाता से शक्ति लेने का प्रश्न भी नहीं उठता। अतः यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव के कारण अतीन्द्रिय परमार्थों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता।

यहाँ एक समस्या है। यदि परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय है, तो हम यह भी नहीं जान सकते कि वह अज्ञेय है। अज्ञेयवाद भी, सन्देहवाद के समान, आत्मघाती है। यदि परमार्थ तक बुद्धि-विकल्पों की गति नहीं तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ वस्तुतः है और अज्ञेय है? इस प्रकार के कथन से हम परमार्थ को कम से कम 'सत्ता' और 'ज्ञान' के विकल्पों में तो जकड़ रहे हैं। परमार्थ के विषय में हमारा कम से कम इतना तो निश्चित ज्ञान है कि परमार्थ की सत्ता है और वह अज्ञेय है। फिर वह अज्ञेय कैसे हुआ? क्या यह वदतोव्याघात नहीं है? कान्ट इस विकट प्रश्न का उत्तर निर्भीक होकर इस प्रकार देते हैं: हम किसी वस्तु के विषय में दो प्रकार से विचार कर सकते हैं, एक तो विधिरूप से और दूसरे निषेधरूप से। हमारा सत्य ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यक्ष सदा विधायक होता है, निषेधक नहीं। अतः सत्य ज्ञान भी सदा विधिरूप ही होता है, निषेधरूप नहीं। यह सत्य है कि निषेध सदा विधान की अपेक्षा रखता है और उस पर निर्भर रहता है, किन्तु निषेध स्वयं ज्ञानरूप या सर्वदा अज्ञानरूप नहीं होता। निषेध वस्ततः ज्ञान की सीमा है। निषेध सर्वथा अज्ञानरूप नहीं होता, इससे यह सिद्ध होता है कि जिस वस्तु के ज्ञान का निषेध किया जाता है वह सर्वथा अज्ञेय नहीं है। यदि वह सर्वथा अज्ञेय हो, तो उसका निषेध भी नहीं हो सकता। निषेध का अर्थ इतना ही है कि हमारे ज्ञान की सीमा उस वस्तु तक जाकर समाप्त हो जाती है। ज्ञान को स्वयं अपनी सीमा का

'ज्ञान होता है और इसमें कोई विरोध नहीं। जिस प्रकार निषेध वस्तुतः अज्ञानरूप नहीं है उसी प्रकार निषेध वस्तुतः ज्ञानरूप भी नहीं है। है तो वह अज्ञान ही, क्योंकि ज्ञान सदा विधिरूप होता है। यदि कोई कहे—"मैं अमुक वस्तु को निषेधरूप से जानता हूँ।," तो इस वाक्य का अर्थ केवल यही है—"मैं अमुक वस्तु को नहीं जानता।" निषेध-रूपज्ञान और अज्ञान दोनों एक हैं, क्योंकि दोनों में विधान का अभाव है। फिर भी, निषेधरूपज्ञान सर्वथा अज्ञान नहीं है क्योंकि वह ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इस प्रकार विधि और निषेध का प्रतिपादन करके कान्ट यह बताते हैं कि परमार्थ को भी हम इन दो रूपों में देख सकते हैं। परमार्थ का विधिरूप ज्ञान असम्भव है क्योंकि विधिरूप ज्ञान सदा इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प इन दोनों पर निर्भर रहता है और इन दोनों की गति परमार्थ तक नहीं है। किन्तु परमार्थ का निषेधरूपज्ञान सम्भव ही नहीं, अपरिहार्य भी है; क्योंकि यह निषेधरूपज्ञान हमारे ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे ज्ञान की गति परमार्थ तक नहीं। यह 'नेति नेति' वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ की सीमा है यह 'नेति-नेति' न तो परमार्थ का निषेध करती है और न व्यवहार का अतिक्रमण। अनिर्वचनीय परमार्थ का सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति-नेति' है। इससे परमार्थ के विषय में किये जाने वाले निर्वचनों का निषेध होता हैं, स्वयं परमार्थ का निषेध नहीं होता। परमार्थ का निषेधरूपज्ञान केवल ज्ञान की सीमा का ज्ञान है, यह वस्तुतः परमार्थ का ज्ञान नहीं। अतः परमार्थ को अनिर्वचनीय और बुद्धि द्वारा अगम्य कहने में किसी प्रकार का विरोध या वदतोव्याघात नहीं हो सकता; क्योंकि कोई शक्ति ज्ञान को अपनी सीमा का ज्ञान करने में नहीं रोक सकती।

परमार्थ को अनिर्वचनीय और अज्ञेय मान लेने पर भी कान्ट के सम्मुख एक जटिल समस्या रह जाती है। वह यह है—यदि परमार्थ अज्ञेय है, तो क्या व्यवहार निरा भ्रम या कोरी कल्पना नहीं है? यदि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हमारे इन्द्रिय-सम्वेदन ही हैं तो दृष्टिसृष्टिवाद से और सर्वाहंवाद से रक्षा किस प्रकार हो सकती है? हम देख चुके है कि बर्कले के सामने भी यही समस्या थी और उन्होंने अपनी रक्षा ईश्वर की शरण लेकर की। बर्कले के अनुसार हमारे सम्वेदन ईश्वर के विज्ञान हैं। हम जगत् का निर्माण नहीं करते। इसीलिए भिन्न-भिन्न जीव एक ही जगत् का अनुभव करते हैं। इस प्रकार बर्कले ने अपनी रक्षा दृष्टिसृष्टिवाद और सर्वाहंवाद से कर ली। किन्तु कान्ट के सम्मुख तो अभी तक ईश्वर का प्रश्न नहीं उठा है। फिर कान्ट अपनी रक्षा इन दो ग्रहों से किस प्रकार करते हैं? ह्यूम के अज्ञेयवाद को अंशतः अपनाकर भी कान्ट इन ग्रहों से किस प्रकार बच सकते है? कान्ट ने इनसे बचने के लिए विशुद्ध ज्ञान की शरण ली। बुद्धि-विकल्पों में ज्योति और शक्ति विशुद्ध ज्ञाता से आती है। विशुद्ध ज्ञाता हमारे समस्त ज्ञान और अनुभव का एकमात्र

अधिष्ठान है। विभिन्न जीवों में इसी का प्रकाश और इसी की शक्ति है। अतः विभिन्न जीवों का व्यावहारिक जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता और न विभिन्न जीव अपने व्यावहारिक जगत् की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार काण्ट दृष्टि-सृष्टिवाद और सर्वाहंवाद से अपनी रक्षा कर लेते हैं। किंतु अभी एक प्रश्न और रह जाता है? यह हम कैसे जान सकते हैं कि हमारे इन्द्रिय-संवेदन वास्तविक अज्ञेय बाह्य पदार्थों से उत्थापित होते हैं? क्या काण्ट का यह 'अज्ञेय बाह्य परमार्थ' लॉक के 'अज्ञेय बाह्य पदार्थ का, जिसे बर्कले ने 'बुद्धि-शून्य जड़' कहकर उपाहासास्पद और असंभव सिद्ध किया था; परिवर्धित और सशोधित संस्करण नही है। जब परमार्थों का ज्ञान हमें नही हो सकता तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारे संवेदनों के मूलरूप परमार्थ वस्तु-जगत् मे विद्यमान हैं? बिम्ब के ज्ञान के अभाव में प्रतिबिम्ब को भी कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का काण्ट ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। इन्द्रियों का संवेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री उपस्थित करना, देश-काल के द्वार से इस सामग्री का निकालना और बुद्धि विकल्पों के साँचों में ढलकर सार्वभौम और निश्चित ज्ञान का रूप लेना, बुद्धि-विकल्पों की शक्ति का विशुद्ध ज्ञाता से आना, विशुद्ध ज्ञाता का स्वतः सिद्ध अनिर्वचनीय अद्वय परीक्षानुभूति रूप होना और समस्त ज्ञान या अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान बनना, जीवों और बाह्य-जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता होना, इन्द्रियसवेदनों और बुद्धि-विकल्पों की अतीन्द्रिय तथा अवाङ् मनोगोचर परमार्थ तक गति न होना आदि सिद्धान्त तो सत्य हैं, किंतु संवेदनों को प्रसूत करने वाले अनेक अज्ञेय जड़ बाह्य परमार्थों की कल्पना करना, विशुद्ध ज्ञान को भी संवेदन सापेक्ष मानना, सम्वेदनो के अभाव में विशुद्ध ज्ञाता को भी बेकार कर देना, विशुद्ध ज्ञाता का अज्ञेय बाह्य परमार्थों के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित न करना, व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को पारमार्थिक बना देना आदि दोष काण्ट के मत में रह गये हैं, जिनका काण्ट कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाये। इस विषय में काण्ट का एकमात्र उत्तर यही है कि सम्वेदनों को प्रस्तुत करने वाले पारमार्थिक अर्थों की सत्ता तो अवश्य है, किंतु वे अज्ञेय हैं और उनके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि काण्ट उपर्युक्त दोषों का समुचित निराकरण नहीं कर सके, तथापि दृष्टिसृष्टिवाद और सर्वाहंवाद के दोषों से तो वे पूर्णतया बच गये हैं। यद्यपि हमारे बुद्धि-विकल्प प्रकृति का निर्माण करते है, तथापि इस कार्य के लिए वे इन्द्रिय-संवेदनों पर निर्भर रहते हैं और ये संवेदन अज्ञेय परमार्थों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। अतः जगत न तो हमारी कल्पना है और न विभिन्न जीवों के जगत भिन्न-भिन्न हैं। व्यावहारिक ज्ञान मे सत्यत्व, सार्वभौम, निश्चय एवं अनिवार्यता होती है। बुद्धि-विकल्पों के नियम वस्तु-जगत् मे लागू होते हैं। व्यवहार हमारी भ्रान्ति नहीं है। यह सत्य है कि व्यवहार परमार्थों का ज्ञान नही है और वह

देश-काल तथा बुद्धि-विकल्प द्वारा निरूपित होता है, तथापि इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। और ये इन्द्रिय-संवेदन, परमार्थों द्वारा उत्थापित होने के कारण, सत्य हैं। यदि यह स्वप्न भी हो तो समष्टि का स्वप्न है और इसलिये यथार्थ है। जिस स्वप्न को सब लोग उसी रूप में देखते हैं वह स्वप्न नहीं है। कान्ट ने व्यवहार के भी दो भेद कर दिये हैं—एक तो समष्टि व्यवहार या प्रकृति, और दूसरा व्यष्टि-व्यवहार। समष्टि-व्यवहार (phenomena) प्रकृति है जिसमें हमारे ज्ञान का विषय बनने की योग्यता है। यह बुद्धि-विकल्पों द्वारा नियमित और सम्बद्ध सामूहिक संवेदन-पुञ्ज है। इसकी स्थिति देश-काल में है और इसके सार्वभौम तथा अनिवार्य नियम हैं। शक्ति विशेष द्वारा अनुभव न होने पर भी प्रकृति की सत्ता वैसी ही बनी रहती है। व्यक्ति के अनुभव के पूर्व और पश्चात भी यह प्रकृति अपने नित्य रूप में बनी रहती है। व्यष्टि व्यवहार (Our Representations of phenomena) वह है कि व्यक्ति विशेष द्वारा अनुभूत होता है। इस प्रकार कान्ट ने परमार्थ, समष्टि व्यवहार और व्यष्टि व्यवहार ये तीन भेद स्वीकार किये हैं। उदाहरणार्थ, परमार्थों में कोई गति नहीं है केवल गति उत्पन्न करने की शक्ति है; समष्टि व्यवहार मे पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, व्यष्टि व्यवहार में सूर्य पूर्व में उदित होता है और पश्चिम दिशा मे जाकर अस्त होता है। कभी कभी कान्ट परमार्थ और व्यवहार ये दो भेद मानते प्रतीत होते हैं। तब समष्टि व्यवहार व्यष्टि व्यवहार के अन्तर्गत मान लिया जाता है।

अब हम कान्ट की 'संवेदन परीक्षा' और 'बुद्धि विकल्प परीक्षा' के बाद उनकी 'प्रज्ञा परीक्षा' का निरूपण करते हैं। इसका विवेचन किया जा चुका है कि कान्ट के अनुसार हमें केवल व्यवहार का ही सत्य और निश्चित ज्ञान होता है, परमार्थ का नहीं। ज्ञान के लिए इन्द्रिय सवेदन और बुद्धि विकल्प दोनों आवश्यक हैं। गणितशास्त्र में देश काल के कारण और भौतिक विज्ञानों तथा व्यावहारिक दर्शनशास्त्र में बुद्धि विकल्पों के कारण सत्य एवं निश्चित ज्ञान सम्भव है, क्योकि यहाँ तक इन्द्रिय संवेदनों तक की पहुँच है। व्यावहारिक दर्शनशास्त्र से कान्ट का तात्पर्य ज्ञान मीमांसा से है। दर्शन का मुख्य कार्य ज्ञान मीमांसा अर्थात् हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा का निर्धारण करना है। इस कार्य में दर्शन सफल होता है। दर्शनशास्त्र का पारमार्थिक पक्ष है तत्व मीमांसा अर्थात् ईश्वर, जीव और जगत का विवेचन। अब प्रश्न यह है कि क्या तत्व मीमांसा में सत्य और निश्चित ज्ञान सम्भव है ? कान्ट का स्पष्ट उत्तर है—'नहीं। दर्शनशास्त्र के ये तत्व अतीन्द्रिय हैं। अतीन्द्रिय होने के कारण इन्द्रिय सम्वेदनों की पहुँच इन तत्वों तक नहीं है। इन्द्रिय सम्वेदनों के अभाव में बुद्धि विकल्पों की एकीकरण और समन्वय के लिए कोई सामग्री नहीं मिलती। अतः बुद्धि विकल्पों की गति भी इन तत्वों तक नहीं है। जब इन्द्रिय सम्वेदन ही प्रस्तुत नहीं

होते तो बुद्धि विकल्प ज्ञान का रूप किसी वस्तु को दें ? अतः इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प के अभाव में इन तत्वों का हमें कोई सत्य और निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। फलतः तत्वमीमांसा के अर्थ में दर्शन-शास्त्र अप्रामाणिक है। अब प्रश्न यह है कि यदि ऐसा है तो फिर तत्व-मीमांसा की ओर हमारी प्रवृत्ति ही क्यों होती है और इसका प्रयोजन ही क्या है ?

कान्ट का उत्तर है कि यह एक रहस्य है। मानव के भीतर एक अनन्त जिज्ञासा है! इन्द्रियानुभूति और बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण करने की एक प्रबल व्याकुलता है, सीमित से असीम की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, अनित्य से नित्य की ओर, परिचित से अपरिचित की ओर जाने की एक उत्कट इच्छा है, इन्द्रियानुभव और बुद्धि-विकल्पों के बन्धनों को तोड़ फेंकने की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति या जिज्ञासा के कारण ही तत्व-मीमांसा की ओर मानव अग्रसर होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। किन्तु फिर भी सत्य यही है कि इस अतीन्द्रिय तत्वों का हमें कोइ सत्य और निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। तत्व मीमांसा, इन्द्रियसंवेदन और बुद्धि·विकल्पों के अभाव के कारण, सत्य एवं निश्चित ज्ञात नहीं दे सकती-तत्व-मीमांसा का सारा ज्ञान सम्भावनामात्र है।

कान्ट ने 'बुद्धि' (Understanding) और 'प्रज्ञा' (Reason) में महत्वपूर्ण भेद किया है। बुद्धि अपने विकल्पो द्वारा संवेदनों का एकीकरण करके उनको ज्ञान का रूप देती है। हमारे व्यावाहारिक ज्ञान में सार्वभौम निश्चय और अनिवार्यता बुद्धि के कारण ही आती है। बुद्धि प्रकृतिको नियमित कर उसे हमारे ज्ञान का विषय बनाती है। बुद्धि का कार्य इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत संवेदन-सामग्री को ज्ञान के रूप में परिणत करना है। बुद्धि के अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं। बुद्धि जिन वस्तुओं का ज्ञान करती है, उनके मूलरूप वस्तु-जगत् में विद्यमान होते हैं। बुद्धि के नियम वस्तु-जगत् पर लागू होते हैं वे प्रकृति का निर्माण करते हैं। प्रज्ञा के 'उपादानरूप नियम' (Constitutive Principles) हैं। 'प्रज्ञा' का कार्य भी एकीकरण करके उनको नियमित करती है। प्रज्ञा का इन्द्रिय-संवेदनों से कोई सम्पर्क नहीं। प्रज्ञा का क्षेत्र बुद्धि है। अतः प्रज्ञा के अनुमान परोक्ष होते हैं अर्थात् बुद्धि के अनमानों के समान प्रज्ञा के समान प्रत्यक्षमूलक नहीं होते। बुद्धि जिन नियमों के आधार पर संवेदनों का समन्वय करती है, प्रज्ञा उन नियमों का समन्वय करती है। प्रज्ञा के सिद्धान्त वस्तु-जगत् पर लागू नहीं होते, क्योंकि प्रज्ञा का इन्द्रिय-संवेदनों से कोई सम्पर्क नहीं। प्रज्ञा से जिनका ज्ञान होता है उनके सम्वादी मूलरूप वस्तु-जगत् में नहीं होते, यह ज्ञान 'यथार्थ' नहीं होता। प्रज्ञा के नियम केवल 'नियामक' (Regulative Principles) हैं, बुद्धि-नियमों के समान 'उपादानरूप' नहीं।

तत्व मीमांसा के अतीन्द्रिय तत्वों का ज्ञान हमें प्रज्ञा के द्वारा होता है, बुद्धि के द्वारा नहीं। प्रज्ञा से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान 'यथार्थ' या सत्य नही हो सकता · प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व, प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से सिद्ध नही हो सकते। इन तत्वों का कोई इन्द्रिय संवेदन नही होता, अत: इनके मूलरूप परमार्थ वस्तु-जगत् में है या नही—यह नही कहा जा सकता। इन्द्रिय सवेदन के अभाव में और बुद्धि-विकल्पो के अभाव में प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्वो को सत्य और निश्चित नही कह सकते। ये सम्भावना मात्र है। यह हमारी प्रज्ञा की कल्पना मात्र है। इनका हमे कभी प्रत्यक्ष-निष्ठ ज्ञान नही हो सकता। इन्द्रिय गोचर और बुद्धि-गम्य नही होने से इन तत्वो को सत्यत्व के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता और न इनको बुद्धि से सिद्ध किया जा सकता। बुद्धि के विकल्प इन पर लागू नही होते, और जब प्रज्ञा बलात् बुद्धि को अपने विकलपो को इन तत्वो पर फेकने के लिए बाध्य करती है, तो बुद्धि-विकल्प इन तत्वो से टकराकर वापस चले आते है। फलत: द्वन्द्वो की सृष्टि होती है अर्थात् प्रज्ञा द्वारा इनके विषय मे परस्परविरोधी पक्ष और विपक्ष की कल्पना की जाती है दोनो मे तुल्यबल होने से किसी की भी स्थापना नही हो सकती। इस प्रकार कान्ट के अनुसार हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सवेदनो में उचित होकर देश-काल के द्वारों से बुद्धि-विकल्पो तक पहुँचता है और अन्त मे प्रज्ञा मे जाकर समाप्त हो जाता है। प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व हमारी कल्पनामात्र है और इनके आधार पर तत्वमीमासा की, सत्य एवं निश्चित ज्ञान के रूप में, कभी प्रतिष्ठा नही हो सकती।

प्रज्ञा के जगत्, जीव और ईश्वर रूपी तत्व-त्रय के आधार पर तीन शास्त्रों की स्थापना की गई है। जगत् की विराट प्रकृति के रूप मे सत्ता सिद्ध करने के लिए 'सृष्टि बिज्ञान' (Rational Cosmology) की स्थापना जीवात्मा का अमर चेतन तत्व सिद्ध करने के लिए 'आत्मनिष्ठ-मनोविज्ञान' (Rational Psychology) की स्थापना; और ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए 'अर्थशास्त्र' (Rational Theology) की मानव मष्तिष्क ने की है। किन्तु, जीव और ईश्वर, ये तीनों प्रज्ञा के काल्पनिक विज्ञान मात्र है; इनको वस्तु सत के रूप में सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रिय-गोचर और बुद्धि गम्य नही है। अत: इनके सम्बन्ध में द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectic) की सृष्टि होती है, जो वस्तुत: भ्रान्ति मात्र (Logic of the False Show) है। ये तत्व वस्तुत: अव्याकृत (Uuknowable) हैं और इनकी व्याकृत करने की चेष्टा मे परस्पर विरुद्ध पक्ष-विपक्ष की सृष्टि होती है और दोनों के तुल्य बल होने के कारण किसी प्रकार का निर्णय नही हो सकता ये तीनों शास्त्रविरोधियों के दलदल मे बुरी तरह फँसे है। सृष्टि विज्ञान के विराधो को कान्ट ने (Antinomies) आत्मनिष्ठ मनो विज्ञान के विरोधों (Paralogisms) और धर्मशास्त्र के विरोधों को (Contradictions) के नाम दिये हैं। तीनों का अर्थ एक ही है अर्थात् परम्पर-विरोधी तर्क।

पहले सृष्टि-विज्ञान के विरोधों पर विचार करें। सृष्टि की, प्रकृति या विराट् समष्टि के एक समन्वयात्मक रूप में कल्पना करना प्रज्ञा के लिये स्वाभाविक है किन्तु वह कल्पनामात्र। जब इस कल्पना को सत्य वस्तु मान लिया जाता है तब विरोधों का जन्म होने लगता है। यह समस्या प्रज्ञा के लिए स्वाभाविक समस्या है, किन्तु इसका समाधान करने मे वह असमर्थ है। सृष्टि-विज्ञान मे कान्ट ने चार विरोध बताये है। प्रत्येक विरोध के अन्तर्गत दो कल्पनाये आती है, जिनमें एक पक्ष है और दूसरा प्रतिपक्ष और ये दोनों परस्पर-विरुद्ध है। बुद्धि की गति इन कल्पनाओं तक नही है; वह इनको न तो सिद्ध कर सकती है और न असिद्ध। किन्तु प्रज्ञा इन दोनों कल्पनाओं को या तो सिद्ध कर सकती है या असिद्ध। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के तर्क तुल्य-बल है। इनमें से किसी को भी स्वीकार करना विरोध को आमन्त्रित करना है। सृष्टि-विज्ञान के चार विरोध निम्नलिखित है :—

(१) **प्रथम विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि, देश और काल में, सादि और सान्त है अर्थात् सृष्टि का आरम्भ काल मे हुआ है और वह देश से परिच्छिन्न है।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि, देश और काल से परिच्छिन्न नही है; वह अनादि और अनन्त है।

(२) **द्वितीय विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि के परम तत्व अविभाज्य परमाणु हैं।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि अविभाज्य परमाणुओं से नहीं बनी है।

(३) **तृतीय विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि का विकास स्वतन्त्र-संकल्प वाले जीवो के सोद्देश्य विकास के लिए है।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि यान्त्रिक कार्यकारणभाव से बँधी है।

(४) **चतुर्थ विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि का कारण कोई निरपेक्ष तत्व है।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि का कोई ऐसा कारण नही है।[१]

इन चार विरोधों में प्रथम और द्वितीय विरोध के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों असिद्ध किये जा सकते हैं और तृतीय तथा चतुर्थ विरोध के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो सिद्ध किये जा सकते हैं। तृतीय और चतुर्थ विरोधों के पक्ष नैतिक और धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। सृष्टि स्वतन्त्र संकल्पवाले जीवो के सोद्देश्य विकास के लिये है और सृष्टि का मूल कारण परमात्मा है—ये सिद्धान्त नैतिक और धार्मिक दृष्टिवाले दर्शनों को मान्य है। बिना संकल्प-स्वातन्त्र्य के कर्मवाद और नैतिकता, एव बिना

१. इस प्रकार के चौदह अव्याकृत प्रश्न बौद्धदर्शन में भी है।

परमात्मा के धर्म सम्भव नहीं है। किन्तु भौतिक विज्ञानों का झुकाव इनके प्रतिपक्षों की ओर है। वे सृष्टि में यान्त्रिक कार्यकारण-भाव मानते हैं और किसी परमतत्व को स्रष्टा के रूप मे स्वीकार नहीं करते। सम्भव है कि ब्राह्य प्रकृति में यान्त्रिक कार्य-कारणभाव का साम्राज्य हो और इसका कोई स्रष्टा न हो; सम्भव है कि नैतिक जीवन में आत्मा की स्वतन्त्र संकल्पशक्ति हो और धर्म में परमात्मा की सत्ता हो। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से तो पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही हमारी प्रज्ञा की कल्पनामात्र हैं। इनके लिये लड़ना व्यर्थ है। कान्ट ने कहा है—'पक्ष और प्रतिपक्ष के इस युद्ध-क्षेत्र में विजय उसकी होती है जो आक्रमण करता है और उसको पीछे हटना पड़ता है जो रक्षार्थ लड़ता है। . इस युद्ध में एक दूसरे को घायल करने की अपेक्षा ये दल एक दूसरे को थकाते अधिक है। जब दोनों दल थककर चूर हो जावेंगे तो इनको पता चलेगा कि ये व्यर्थ लड़ रहे थे और तब ये आपस में मित्र बनकर अलग हो जावेंगे।'

अब आत्मनिष्ठ-मनोविज्ञान के विरोधों पर दृष्टिपात करना चाहिए (प्राचीन) मनोविज्ञान आत्मा को एक अमर, नित्य और चेतन द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु इसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। जो स्वसंवेदन का विषय बनता है, वह शुद्ध आत्मा नहीं है। वह तो व्यावहारिक जीव है जो हमारे संवेदनों और विज्ञानों का पुञ्जमात्र है। यह सत्य है कि विशुद्ध ज्ञाता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता। किन्तु इस ज्ञाता को 'द्रव्य' (Substance) के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। यह विशुद्ध ज्ञाता केवल विषयी (Subject) है, यह कदापि विषय नहीं बन सकता। यह 'अद्वय', अतीन्द्रिय, अपरोक्षानुभूतिरूप है। इसका न तो इन्द्रिय-संवेदन से प्रत्यक्ष हो सकता है और न बुद्धि-विकल्पों से ज्ञान। बुद्धि-विकल्प स्वयं इस पर निर्भर हैं, अतः वे इस पर लागू नहीं होते। इस पर 'एकता', 'द्रव्य', आदि के विकल्प थोपना उचित नहीं। अतः मनोविज्ञान अपने कल्पित जीव को अमर चेतन द्रव्य मानकर विरोधों में फँस रहा है।

इसी प्रकार धर्मशास्त्र के भी विरोध हैं। विद्वानों ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण दिये हैं, किन्तु ईश्वर भी हमारी प्रज्ञा की ही कल्पना है। वस्तुतः ईश्वर की सत्ता प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। कान्ट ने ईश्वर की सिद्धि के प्रमाणों को तीन प्रकार का माना है। प्रथम है, प्रयोजन मूलक तर्क जिसके अनुसार सृष्टि एक निश्चित प्रयोजन या लक्ष्य को ध्यान में रखकर बनाई गई है और यह प्रयोजन चेतन सत्ता द्वारा ही संभव है, अतः ईश्वर है। सृष्टि में समन्वय और वैश्वरूप्य है। एक साधारण घड़ी बनाने के लिए भी चेतन घड़ीसाज की आवश्यकता होती है। ईंट, चूना, पत्थर, आदि स्वयं मकान के रूप में परिणत नहीं हो सकते, मकान बनाने के लिए भी कुशल चेतन कारीगर की आवश्यकता होती है। तब इस विशाल सृष्टि के निर्माण के लिये, जिसमें आश्चर्यजनक समन्वय और प्रयोजन निहित हैं, एक चेतन परमात्मा की सत्ता अनिवार्य है, कान्ट ने इस तर्क का खण्डन करते हुए

कहा है कि यह तर्क अधिक से अधिक सृष्टि के एक निमित्त कारण को सिद्ध कर सकता है, स्रष्टा ईश्वर को नहीं। इससे अधिक से अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि सृष्टि में एक निश्चित उद्देश्य या प्रयोजन है जो किसी चेतन सत्ता से आया है। इससे जगत् के उपादानकारण की या सृष्टि-कर्ता ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। द्वितीय तर्क है कार्यकारण-भाव मूलक, जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि यह सृष्टि कार्य है, सीमित है, सान्त है, परिणामी है और इसलिए इसके असीम, अनन्त और अपरिणामी कारण की आवश्यकता है; जो ईश्वर है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। यह सृष्टि भी कार्य है, अतः इसका भी कारण होना चाहिए। और अनवस्था दोष को दूर रखने के लिए इस कारण को स्वयंभू मानना चाहिए। हम सान्त से अनन्त की ओर, सीमित से असीम की ओर, और कार्य से कारण की ओर जाते है। यह स्वयंभू कारण अनादि और अनन्त ईश्वर के अतिरिक्त और नहीं हो सकता। कान्ट ने इन तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि कार्य-कारण-भाव तो हमारे व्यावहारिक जगत् का सम्बन्ध है, यह हमारी बुद्धि का एक विकल्प है; इस बुद्धि-विकल्प को परमार्थ पर लागू करना उचित नहीं। इस तर्क से अधिक से अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि सृष्टि का कोई कारण है; यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वह कारण ईश्वर ही है। तृतीय तर्क है सत्तामूलक, जिससे यह सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर की पूर्णता के विचारमात्र से ही उनकी सत्ता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो वे अपूर्ण होते और 'अपूर्ण ईश्वर' की कल्पना में विरोध में विरोध है। इस तर्क का प्रयोग पहले सन्त एन्सेल्म ने किया था और देकार्त ने भी इसे अपनाया था। एन्सेल्म के समकालीन गौनिलो ने इसका खण्डन कर दिया था कि इससे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही होती, केवल ईश्वर की सत्ता का विचार सिद्ध होता है। हमें 'पूर्ण ईश्वर' का विचार होता है और इस विचार से यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसकी सत्ता भी होनी चाहिए; इससे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती। कान्ट ने भी गौनिलो के खण्डन को स्वीकार किया है। ईश्वर की पूर्णता के विचार से केवल ईश्वर की सत्ता का विचार सिद्ध होता है, उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि कोई विचार करे कि उसके पास सौ रुपये हैं, तो इस विचारमात्र से उसकी जेब में सौ रुपये नहीं आ जाते। यदि किसी के पास सौ रुपये हों और वह हिसाब में एक शून्य और बढ़ाकर सौ के स्थान पर हजार बना दे, तो उससे वास्तविक सम्पत्ति में वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार कान्ट ने यह सिद्ध किया कि तर्कों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

ईश्वर, जीव और जगत्—ये हमारी प्रज्ञा की कल्पनामात्र है, इनको वस्तु-सत् के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमारा सत्य और निश्चित ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है। ये अतीन्द्रिय हैं, अतः इन्द्रियगोचर और बुद्ध-गम्य नहीं। इस प्रकार

कान्ट ने दार्शनिक रीति से यह सिद्ध किया कि तत्व-मीमांसा के अर्थ में दर्शन-शास्त्र असम्भव है; किन्तु साथ ही साथ कान्ट ने साग्रह यह भी कहा कि यदि प्रज्ञा इन तत्वों को सिद्ध नही कर सकती तो वह उन्हें असिद्ध भी नही कर सकती। ईश्वर, सकल्प-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता यदि सिद्धान्त नैतिक और धार्मिक जीवन के आधार-स्तम्भ है। किन्तु ये श्रद्धा या विश्वास के विषय हैं, तर्क या बुद्धि के नहीं। प्रज्ञा इनको सिद्ध नही कर सकती। कान्ठ का स्वय इन पर विश्वास था और उनका जीवन पूर्ण नैतिक एवं धार्मिक था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' को समाप्त करते हुए कान्ट ने यह लिखा है—"श्रद्धा को लाने के लिए मुझे प्रज्ञा को समाप्त करना पड़ा।" जिसे दुद्धि सिद्ध नही कर सकती, उसे श्रद्धा सिद्ध करती है। जिसका प्रति-पादन, 'शुद्ध ज्ञान' नही कर सका, उसकी प्रतिष्ठा "आचार-मूलक ज्ञान", ने की है।

कान्ट ने अपने दूसरे प्रसिद्ध 'आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा' में ईश्वर, जीव और जगत, तीनो तत्वो को, श्रद्धा के कारण, स्थापित किया है। मनुष्य अपनी सकल्पशक्ति मे स्वतन्त्र है और इसीलिये कर्म करने और शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने मे भी स्वतन्त्र है। जैसा कम करेगा, वैसा ही फल भोगेगा। कान्ट का नैतिक नियम है 'कर्तव्य समझकर ही निष्काम भाव से कार्य करना'। यह नियम गीता के 'निष्काम-कर्मयोग' से बहुत-कुछ मिलता है। नैतिक, नियम का आदेश अनिवार्य आदेश (Categorical Imperative) है, प्रभु-सम्मत आदेश है, जिसका अतिक्रमण कोई मनुष्य- मनुष्य रहकर, नही कर सकता। आत्मा की अमरता और ईश्वर की आव-श्यकता, नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य है। नैतिक जीवन का लक्ष्य, 'परम कल्याण' (Highest Good) की भावना है, जो महत्तम पुण्य और महत्तम सुख का समन्वय है। ज्ञान के लिए तो कान्ट ने इन्द्रिय-संवेदनो को आवश्यक सामग्री माना है, किन्तु नैतिक जीवन के लिये इन्द्रिय-जित् होना आवश्यक समझा है। नैतिक जीवन मे इन्द्रियाँ सहायक होने की अपेक्षा, बाधक अधिक है। इन्द्रियों की इच्छाओं और वासनाओं से मुक्ति पाना चिरकालीन साधना द्वारा शक्य हो सकता है। मनुष्य को वासनाओं से जितनी मुक्ति मिलती है, उतना ही वह परम कल्याण की ओर अग्रसर होता है।

यह कान्ट के दर्शन का सक्षिप्त परिचय है। कान्ट की गणना यूरोप के महत्तम दार्शनिकों में हैं। इन्द्रियों का संवेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री उपस्थित करना देश काल के द्वारों से इस सामग्री का निकालना और फिर बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलकर सार्वभौम एवं निश्चित ज्ञान के रूप में परिणत होना, बुद्धि की ज्योति और शक्ति का विशुद्ध ज्ञाता से आना, विशुद्ध ज्ञाता को स्वतःसिद्ध, अनिर्वचनीय, अद्वय, अपरो-क्षानुभूति रूप मानना और उसे समस्त ज्ञान या अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान स्वीकार करना, जीवों और जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करना, इन्द्रिय-संवेदनों और बुद्धि-विकल्पों की अतीन्द्रिय और बुद्धि द्वारा अगम्य परमार्थ तक गति

न मानना आदि सिद्धान्त कान्ट की महत्ता के सूचक हैं। किन्तु संवेदनों को अनेक अज्ञेय जड़ बाह्य पदार्थों द्वार, प्रसूत मानना, विशुद्ध ज्ञान को भी संवेदन-सापेक्ष मानना, संवेदनों के अभाव मे विशुद्ध ज्ञाता तक को बेकार बना देना, विशुद्ध ज्ञाता का अज्ञेय बाह्य परमार्थों के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित न करना, व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को पारमार्थिक बना देना, बुद्धि-विकल्पों को केवल साँचों का रूप देना और संवेदनों के अभाव में उनको निष्क्रिय मानना आदि दोष कान्ट के दर्शन में रह गये हैं जिनका सन्तोषजनक समाधान नहीं हो पाया है। कान्ट की सबसे बड़ी भूल विशुद्ध ज्ञाता को भी इन्द्रिय-संवेननों की शृङ्खला में बाँध देना है। इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में विशुद्ध ज्ञाता भी कुछ नहीं कर सकता। कान्ट ने प्रज्ञा के साथ अन्याय किया है। प्रज्ञा को विशुद्ध ज्ञाता का स्वरूप न मानकर उसे केवल 'नियामक' मानना अनुचित है। इसीलिये बुद्धि विकल्प भी कोरे साँचे ही रह गये हैं। मानों ये बुद्धि-विकल्प, जगत् के विभिन्न गोदामों के, जिनमें अनुभव का 'संवेदनरूपी कच्चा माल' बन्द है, तालों को खोलने की कुंजियाँ मात्र हो! जगत् के पदार्थों को संवेदन उत्थापित करनेवाले परमार्थ मानना भूल है। कान्ट का यह 'अज्ञेय बाह्य परमार्थ' लॉक के 'अज्ञेय बाह्य पदार्थ' का, जिसे बर्कले ने 'बुद्धि-शून्य जड़' कहकर उपहासास्पद और असम्भव सिद्ध किया था, परिवर्धित और संशोधिन संस्करण मात्र है। यदि बाह्य परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय हैं तो ज्ञान-संवेदन उत्पन्न करने वाले जड़ पदार्थों के रूप में किस प्रकार हो सकता है? यह कैसे कहा जा सकता है कि संवेदनों के मूलस्वरूप ये बाह्य अज्ञेय परमार्थ है? बिम्ब के ज्ञान के अभाव में प्रतिबिम्ब का ज्ञान कैसे हो सकता है? कान्ट ने बर्कले के अकाटच तर्कों की पूर्ण उपेक्षा की है। केवल विशुद्ध ज्ञाता ही अद्वय परमार्थ हो सकता है। अन्य सब कुछ उसी की अभिव्यक्ति है। कान्ट ने विशुद्ध ज्ञाता के स्वरूप को तो समझा, किन्तु उसे इन्द्रिय-संवेदनों के साथ नत्थी करके भारी भूल की। संवेदन भी वस्तुतः प्रज्ञा के ही क्षीण रूप हैं। इसे न मानने के कारण व्यवहार और परमार्थ का द्वैत भी पारमार्थिक हो गया है जो महाअनर्थकारी है। प्रज्ञा केवल नियामक ही नहीं, उपादान रूप भी है प्रज्ञा विशुद्ध ज्ञाता का स्वरूप है और जीव तथा जगत् दोनों उसी की अभिव्यक्ति हैं। कान्ट ने इसे न मानकर भारी भूल की है। विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति प्रज्ञा है, इन्द्रिय-संवेदना नहीं। प्रज्ञा के उपेक्षक कान्ट ने पुरोहित बनकर विशुद्ध ज्ञाता के साथ इंद्रिय-संवेदन को वैवाहिकसूत्र में बाँध दिया। इस 'अनुचित सम्बन्ध' से 'द्वैतवाद' और 'अज्ञेयवाद' रूपी दो वर्ण-संकर उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने न केवल अपने पिता के विशुद्ध नाम को ही कलंकित किया है, किन्तु उस पुनीत पुरोहित पर भी कलंक के छीटे मारे हैं जिसने इनके माता-पिता को एक सूत्र में बाँधने का दुःसाहस किया। इन दोषों के होने पर भी कान्ट की कीर्ति महनीय और उनकी महत्ता व्यापक है। उनकी कोटि के दार्शनिक संसार में विरले ही हुए हैं।

चतुर्दश अध्याय

निरपेक्ष विज्ञानवाद : हेगल

कान्ट के पश्चात् यूरोप के दूसरे महत्तम दार्शनिक हेगल हुए। कान्ट से हेगल तक के संक्रमण काल में फ़िक्टे और शेलिंग नामक दो और उल्लेखनीय दार्शनिक हुए हैं जिनका हेगल के दर्शन पर काफी प्रभाव पड़ा है। अतः हेगल के दर्शन का विवेचन करने के पूर्व फ़िक्टे और शेलिंग के दार्शनिक विचारों को जान लेना आवाश्यक है।

फिक्टे (Fichte) (१७६२-१८१४) :—जर्मनी के एक साधारण गाँव के एक दरिद्र परिवार में फ़िक्टे का जन्म हुआ था। उनकी प्रतिभा को देखकर एक धनी सज्जन ने उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी थी। उक्त सज्जन की मृत्यु के बाद फ़िक्टे को फिर मुसीबतें उठानी पड़ी। १८ वर्ष की आयु में वे जेना विश्वविद्यालय में भर्ती हुए। अर्थाभाव के कारण बीच-बीच में उनको अपना अध्ययन बन्द करना पड़ता था और गृह-शिक्षक के रूप में कुछ कमाकर फिर पढ़ाई चालू करते थे। प्रारम्भ में उन पर स्पिनोजा के दर्शन का काफी प्रभाव पड़ा। बाद में लीपजिक नगर में उन्होंने कान्ट का अध्ययन और अध्यापन प्रारम्भ किया। कान्ट के दर्शन से, विशेषतः कान्ट की 'आचार-मूलक ज्ञान की परिक्षा' से वे अत्यधिक प्रभावित हुए और कोनिग्जबर्ग जाकर उन्होंने कान्ट से साक्षात् सम्पर्क स्थापित किया। उनकी 'श्रुति-परीक्षा' (Critique of All Revelation) नामक रचना को देखकर कान्ट अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने ने फ़िक्टे की इस प्रथम रचना के प्रकाशन की व्यवस्था कर दी तथा फ़िक्टे को अध्यापक का पद भी दिला दिया। विवाह करने के दो वर्ष बाद फ़िक्टे जेना विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। विभिन्न विषयों पर उनके कई निबन्ध प्रकाशित होते रहे। उन्होंने एक दार्शनिक पत्र का सम्पादन भी किया। इस पत्र में एक लेख प्रकाशित हुआ जिस पर फ़िक्टे की टिप्पणी भी थी। इस लेख और टिप्पणी को धर्मविरुद्ध घोषित किया गया और इस विषय को लेकर एक भारी आन्दोलन मचा जिसके कारण फ़िक्टे को जेना विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद छोड़ देना पड़ा। फ़िक्टे बर्लिन चले गये और वहाँ उन्होंने विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए भरसक प्रयत्न किया जिसमे वे सफल हुए। बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद वे दर्शन-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। फ़िक्टे का गोइटे (Goethe) और दाँते (Dante) से भी अच्छा परिचय था। उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की है जिनमें 'समस्त ज्ञान के मूलाधार' (Foundation of the Whole Science of Knowledge) और 'आचार-शास्त्र' (Science of

Ethics) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। फ़िक्टे एक महान् चरित्रवान् दार्शनिक के साथ-साथ महान् वक्ता और महान् देशभक्त भी थे। जब नेपोलियन की सेना जर्मनी को रौंद रही थी तब फ़िक्टे ने अपनी शक्तिशाली लेखनी और वाणी द्वारा देशप्रेम की उत्कट भावना का शंखनाद किया और जर्मनी के राष्ट्रत्व को जाग्रत् रक्खा जिसके कारण फ्रांसीसी सेना को पीछे हटना पड़ा। फ़िक्टे की गृहिणी जब अस्पताल में घायल सैनिकों की शुश्रूषा कर रही थी तब उन्हें संक्रामक ज्वर हो आया और उनसे यह संक्रामक ज्वर फ़िक्टे को लग गया जिसके कारण युद्धकाल में ही इस कर्तव्यपरायण देशप्रेमी दार्शनिक का देहावसान हो गया। फ़िक्टे के स्मारक पर यह वाक्य अंकित हैं—**"आचार्य उज्ज्वल आकाश के समान चमकते रहेंगे और वे, जो अनेकों को कर्तव्य-पथ पर प्रेरित करते हैं, ज्वलन्त नक्षत्रों के समान, सदा-सदा के लिये चमकते रहेंगे।"**

कान्ट के आलोचनात्मक विज्ञानवाद का, इन सिद्धान्तों का कि हमारी बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है और बुद्धि में ज्योति तथा शक्ति विशुद्ध आत्म-तत्व से आती है, कि विशुद्ध आत्म-तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति आचारमूलक ज्ञान में होती है जिनमें स्वातन्त्र्य है और कर्तव्यका अनिवार्य आदेश है, फ़िक्टे पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। फ़िक्टे के अनुसार कान्ट का दर्शन अपूर्ण रह गया है और स्वयं कान्ट अपने लक्ष्य में पूर्णतया सफल नहीं हो पाये हैं। फ़िक्टे ने इस कमी को पूर्ण करने का प्रयास किया है। काण्ट का सबसे बड़ा दोष व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को वास्तविक मान लेना था। इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि के बीच कान्ट ने एक अपूर्व खाई खोद दी। फलतः 'द्वैतवाद' और 'अज्ञेयवाद, के अजगर कान्ट के दर्शन को लीलने के लिए मुँह बाये खड़े हैं हैं। इन्द्रिय- संवेदनों का कारण अज्ञेय बाह्य परमार्थों को मानना भूल है। यदि यदि ये परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय हैं, तो इन पर 'सत्ता', 'द्रव्य' और 'कार्य-कारणभाव' के बुद्धि-विकल्प क्यों थोपे जा रहे हैं? यह कैसे कहा जा सकता है ये **परमार्थ** हैं, और **अज्ञेय हैं** और संवेदनों के **उत्पादन कारण हैं**? फ़िक्टे के अनुसार कान्ट के ये तथाकथित अज्ञेय बाह्य परमार्थ भी वस्तुतः हमारे ज्ञान द्वारा ही निर्मित हैं. ये भी हमारे ज्ञान के बाहर नहीं हैं। संवेदन भी ज्ञान का ही रूप है। बाह्य-जगत् भी आत्म-तत्त्व की ही सृष्टि है। इनमें कोई मौलिक भेद नही, इस प्रकार फ़िक्टे ने सर्व प्रथम कान्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद रूपी दोषों को दूर किया। द्वितीय, फ़िक्टे ने यह बताया कि कान्ट के आचारमूलक ज्ञान का 'अनिवार्य आदेश नियम (Categorical Imperative) भी मौलिक नहीं है। मौलिक नियम आत्मा का संकल्प-स्वातन्त्र्य है। स्वतन्त्रता का अर्थ न तो 'परतंत्रता' है और न 'अ-तंत्रता', स्वतंत्रता का असली अर्थ है 'ज्ञानतंत्रता'। आत्मा का संकल्प ज्ञान-तंत्र है और इसीलिए इसका आदेश अनिवार्य है। आत्मा के मौलिक 'संकल्प-स्वातत्र्य नियम' से ही 'अनिवार्य आदेश

नियम' निकलता है। तृतीय, कान्ट ने 'शुद्ध-ज्ञान' और 'आचार-मूलक' का जो भेद किया वह भी उचित नहीं है। दर्शन जीवन के लिए है और जीवन आचार-मूलक है। ज्ञान आत्मा के संकल्प का ही अंग है। चित्-शक्ति और संकल्प-शक्ति में कोई भेद नहीं।

फिक्टे ने विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की। बाह्यजगत्, जो जड़ और अनात्मरूप प्रतीत होता है. वस्तुतः आत्मा का ही परिमाण है। आत्मा की चित्-शक्ति ही अचित् के रूप में भासित होती है। चित् और अचित् में कोई मौलिक भेद नहीं, क्योंकि दोनों एक ही आत्म-तत्त्व के दो रूप हैं। वस्तुतः चित् की ही सत्ता है। सत् से चित् नहीं निकलता; चित् से सत् निकलता है। चित् सदा सत् है और केवल सत् ही नहीं; 'चेतन सत्' है अतः अचेतन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह चेतना का ही परिमाण है। 'विज्ञान' ही 'वस्तु' के रूप में परिणत होता है, 'वस्तु' विज्ञान के रूप में परिणत नहीं हो सकती। अतः विज्ञानवाद (Idealism) वस्तुवाद (Realism) से कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि विज्ञान के अन्तर्गत वस्तु आ जाती है, किन्तु वस्तु के अन्तर्गत विज्ञान का सकावेश नहीं हो सकता।

विज्ञान आत्मा का स्वरूप है। विज्ञान का अर्थ है प्रकाश। अतः आत्म-तत्त्व स्वप्रकाश और स्वयंज्योति है। यह स्वतः सिद्ध है। इसकी सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। यह विशुद्ध ज्ञाता है। प्रत्येक विचार, संकल्प में, प्रत्येक इच्छा में, इस आत्मा की सत्ता प्रस्फुटित होती है। विज्ञान प्रकाशरूप है, प्रकाश चिद्रूप है; चित् शक्तिरूप है। आत्मा विज्ञान का आश्रयभूत द्रव्य नहीं है और ज्ञान ही उसका आगन्तुक धर्म है। आत्मा विज्ञानस्वरूप है। वह विशुद्ध ज्ञाता है और ज्ञान ही उसका स्वरूप है। ज्ञान और ज्ञाता में, शक्ति और शक्तिमान् मे प्रकाश और प्रकाशक में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। आत्मा चित्शक्ति-रूप है और चैतन्य संकल्प रूप है। अपनी चित्-शक्ति के कारण आत्मा स्वसंवेदन रूप (Self-conscious) प्रतीत होता है। स्वसंवेदन में 'स्व' के साथ-साथ ही 'पर' की भी अपेक्षा रहती है, 'विषयी' के साथ ही 'विषय' की भी अपेक्षा रहती है, अन्यथा 'स्व' या 'विषय' ये नाम सार्थक नहीं हो सकते। अतः स्वसंवेदन में आत्मा विषयी और विषय दोनों बनता है अर्थात् आत्मा ज्ञाता बनकर स्वयं को अपना ज्ञेय बनाता है और अपने द्वारा ही अपना ज्ञान करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जो ज्ञाता है वह ज्ञेय कैसे बन सकता है, जो विषयी है वह विषय कैसे बन सकता है ? साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी है कि ज्ञाता का अस्तित्व बिना ज्ञेय के कैसे हो सकता है, क्योंकि यदि कोई ज्ञेय न हो, तो ज्ञाता किसका होगा ? फिक्टे के अनुसार दोनो प्रश्न सत्य हैं और इन दोनों का उत्तर यही है कि आत्मा स्वयं अपने आपको, अपनी संकल्प-शक्ति से अनात्मा के रूप में प्रकट करता है और

अनात्मा को अपना ज्ञेय बनाकर अपना ज्ञातृत्व सार्थक करता है। ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, चित् और अचित् जीव और जगत दोनों वस्तुत: एक ही आत्म-तत्व के दो रूप है। इनमें जो विरोध प्रतीत होता है वह आत्यन्तिक विरोध नहीं है, वह केवल कल्पित भेद है। यह भेद परिच्छेद या सीमा के कारण होता है। आत्मा अपने आपकोज्ञाना जीव के रूप में सीमित करता है और साथ ही ज्ञेयजगत् के रूप में भी सीमित करता है, दोनों कार्य आत्मा की संकल्प-शक्ति से एक साथ होते हैं। किन्तु यह विरोध वास्तविक न होने के कारण इस कल्पित भेद को मिटाने की प्रवृत्ति भी आत्मा मे स्वत: होती है। अत: इस विरोध का समन्वय होना आवश्यक हो जाता है। और यह समन्वय होता है स्वसवेदन में, जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हो जाते हैं। स्वप्रकाश आत्म-तत्व मे ज्ञाता और ज्ञेय, जीव और जगत् और अचित्, चित् दोनों का समन्चय हो जाता है। यह स्वप्रकाश आत्म-तत्व परमात्मा है और इसकी स्वतन्त्र सत्ता है। जीव और जगत्, आत्मा और अनात्मा, दोनी इस चिद्रूप परम सत् के परिणाम हैं।

इस प्रकार फ़िक्टे के दर्शन नें तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। प्रथम स्वप्रकाश परमात्म-तत्व (Absolute Ego) ही एकमात्र सत् है और इसके प्रकाश का अर्थ है इसकी चित्-सक्ति या संकल्प-शक्ति, जो इसका स्वरूप है। द्वितीय, अपनी चित्शक्ति के कारण यह परमात्मा-तत्व स्वयं को परिच्छिन्न या सीमित करके एक ओर ज्ञाता या विषयी जीवात्मा (Ego) के रूप में प्रकट करता है दूसरी ओर स्वयं को ज्ञेय या विषय या अनात्म जगत् (Non Ego) के रूप में प्रकट करता है। तृतीय, यह परमात्मा-तत्व अपने स्वसंवेदन रूप में ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का अतिक्रमण करके जीव और जगत् के समन्वयात्मक रूप में प्रतीत होता है। परमात्मा की इस संकल्प-शक्ति से फ़िक्टे ने तीन नियम निकाले—तादात्म्य (Indentity) विरोध (Contradiction) और पर्याप्त कारण (Sufficient Reason) इनको क्रमश: सत्ता (Reality), निषेध (Negation) और परिच्छेद या सीमा (Limitation or Determination) कहा जा सकता है। जीवात्मा को अपना बोध तादात्म्य के रूप में होता है; "मैं हूँ और मैं सदा मैं ही हूँ।" जीवात्मा ज्ञाता है और उसकी सत्ता प्रत्येक ज्ञान या संकल्प में स्फुटित होती है। किन्तु ज्ञाता के साथ ही ज्ञेय भी जुड़ा हुआ है; विषयी सदा विषय की अपेक्षा रखता है। अत: आत्मा में से ही, अपनी शक्ति के कारण, अनात्म जगत् की भी विषय के रूप में प्रतीति होती है। तादात्म्य से विरोध निकल पड़ता है। किन्तु इस विरोध का पर्याप्त कारण भी अवश्य होना चाहिए। आत्मा में से अनात्मा क्यों निकलता है? फ़िक्टे का उत्तर है—आत्मा की अपनी संकल्प-शक्ति के कारण, जिससे आत्मा स्वयं को परिच्छिन्न या सीमित बना लेता है जीव तथा जगत् के रूप में प्रतीत होता है। किन्तु यह विरोध कोई आत्यन्तिक विरोध

तो है नहीं, यह तो केवल परिच्छेद या भेद है, अतः इसका निवारण होना भी आवश्यक है। और यह निवारण होता है स्वप्रकाश परमात्म-तत्व के स्वसंवेदनरूप में जिसमें जीव और जगत्, आत्मा और अनात्मा, दोनों की सीमा हट कर, दोनों का समन्वय हो जाता है। जीवात्मा शुद्ध अद्वैतरूप (Ego-in-itself) है, अनात्म जगत् द्वैतरूप (Ego-outside-itself) है, और परमात्मा विशिष्टाद्वैतरूप (Ego-in-and-for-itself) है। आत्मा, अपनी संकल्पशक्ति के कारण, पहले स्वय को सीमित जीवात्मा के रूप में प्रकट करता हे, यह 'पक्ष' (Thesis) है। फिर ज्ञाता जीव के साथ ही आत्मा में से ही, अनात्म-रूप ज्ञेय जगत् भी उत्थापित होता है, यह 'प्रतिपक्ष (Anti-thesis) है। और अन्त में, ज्ञाता और ज्ञेय के इस भेद का सामञ्जस्य परमात्मा के स्वसंवेदन में होता है, यह 'समन्वय' (Synthesis) है। वस्तुतः यह तीनों पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय, परमात्मा की संकल्प-शक्ति के ही तीन रूप है। परमात्मा एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा दोनों हैं। चित्-शक्ति ही संकल्प-शक्ति है।

संकल्पशक्ति की सृष्टि छह रूपों में प्रतीत होती है। प्रथम, इन्द्रिय-संवेदन (Sensation), द्वितीय, प्रत्यक्ष (Perception), तृतीय, वस्तु-प्रतिबिम्ब (Image), चतुर्थ बुद्धि (Understanding), पञ्चम धारणा (Judgement), और षष्ठ, प्रज्ञा (Reason)। इनमें संवेदन और प्रत्यक्ष निर्विकल्प और अद्वैतरूप हैं प्रतिबिम्ब में द्वैत का उदय होने लगता है जो बुद्धि और धारणा में जाकर पूर्णतया सविकल्प बन जाता हे; प्रज्ञा में फिर द्वैत और अद्वैत का समन्वय हो जाता है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आत्म-तत्व अपनी संकल्प-शक्ति से स्वयं को परिच्छिन्न क्यों करता है? फ़िक्टे का उत्तर है कि यह परिच्छेद इसलिये होता है कि आत्मा इस परिच्छेद के ऊपर उठकर अपने समन्वयात्म स्वसंवेदरूप का ज्ञान करे। नैतिक बोध या संकल्प-स्वातन्त्र्य सभी सम्भव हो सकता है जब बाधा की सृष्टि करके उस बाधा का अतिक्रमण किया जाय, जब द्वैत की सृष्टि करके उस पर विजय प्राप्त की जाय। मुक्तिके लिये ही बन्धन की सृष्टि होती है। नैतिक जीवन का अर्थ ही यही है कि बाधाओं पर विजय प्राप्त करके स्वरूप-लाभ करें। यह परमात्मा की लीला है कि वे स्वयं को परिच्छिन्न जीवों और परिच्छन्न जगत् के रूप में सृष्टि करके फिर जीव और जगत् का समन्वय करते हैं और जीवों द्वारा अपने स्वरूप-लाभ का आनन्द लेते हैं। जीवात्मा (Theoretical Ego) अपने आपको अपने प्रतिपक्षी अनात्म-जगत् के बन्धन में पाती है। जीवात्माको वस्तुतः परिच्छिन्न न होकर परमात्मारूप होना चाहिये, जो उसका स्वरूप है। अतः जीव का कर्तव्य है अपने आपको जगत् के बन्धन से मुक्त करके अपने परमात्मा-स्वरूप का लाभ करें।

यह नैतिक जीवन (Practical Ego) द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः नैतिक जीवन द्वारा जीव के स्वरूपलाभ करने के लिए ही सृष्टि प्रकट हुई है।

बर्लिन आने के बाद फ़िक्टे की विचारधारा में कुछ परिवर्तन हुआ। कई आलोचकों ने फ़िक्टे के इस परिवर्तन को उनके दर्शन की दूसरी भिन्न धारा के रूप में ग्रहण किया है और इसे उनकी दार्शनिक अवनति माना है। किन्तु वास्तव में यह दूसरी धारा नहीं है, उसी धारा का संशोधित रूप है। और न यह 'अवनति' है किन्तु वस्तुतः 'उन्नति' है। इस परिवर्तन का स्वरूप यह है—पहले फ़िक्टे ने ईश्वर को विशिष्टाद्वैत परमात्मा रूप माना था और उनकी चित्-शक्ति को संकल्प शक्ति मानकर मानव के नैतिक जीवन में कर्म को प्रधानता दी थी, किन्तु अब ईश्वर को विशिष्टाद्वैत से भी ऊपर विशुद्ध अद्वैतरूप, उनसे संकल्प को विशुद्ध चित् रूप, और इस चित् को विशुद्ध रूप स्वीकार किया गया तथा ईश्वर की भक्तिरूप निर्विकल्प अनुभूति को नैतिक कर्म से भी ऊपर माना गया और नैतिक कर्म को इस अनुभूति की प्राप्ति का मुख्य साधन स्वीकार किया गया।

फ्रेडरिक विल्हेल्म जोजेफ़ शेलिङ्ग (Fredrick Wilhelm Joseph Schelling) (१७७५-१८५४) :—

शेलिंग का जन्म जर्मनी के लियोनबर्ग नगर में हुआ था। ये अत्यन्त बुद्धिमान छात्र थे और स्वल्पावस्था में ही विविध दर्शनों का अध्ययन उन्होंने कर लिया था एवं बहुत से निबन्ध लिखने लग गये थे। वे हेगल के सहपाठी और मित्र थे और ट्यूबिगेन बिश्वविद्यालय से उन्होंने एम० ए० किया था। जेना में वे फ़िक्टे के छात्र तथा सहायक भी रहे थे। फ़िक्टे जब जेना छोड़कर बर्लिन चले गये तो शेलिंग जेना में दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। हेगल के साथ उन्होंने एक दार्शनिक पत्र का सम्पादन भी किया। म्यूनिक विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर शेलिंग वहाँ दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। बाद में बर्लिन चले गये। उस समय यूरोप में रोमान्टिक भावना की बाढ़ आ रही थी और शेलिंग ने भी उसमें बहुत योग दिया था। शेलिंग बड़े उदार हृदय, भावुक और लोकप्रिय थे। वे विज्ञान परिषद् (Academy of Sciences) और शिल्प परिषद् (Academy of Plastic Arts) के अध्यक्ष भी रहे थे। उनकी कृतियों का संग्रह चौदह भागों में प्रकाशित हुआ है।

शेलिंग के दर्शन में शुष्क तर्कों की अपेक्षा जीवित भावुकता अधिक प्रबल है। उन पर प्लोटाइनस, ब्रूनो, स्पिनोजा, बोहमे, लाइबनित्ज, कान्ट और फ़िक्टे का प्रभाव पड़ा है। परिणामतः उनकी विचारधारा भी नया-नया रूप लेती रही है। शेलिंग के दर्शन को तीन कालों में रक्खा जा सकता है। प्रथम काल में, उनके दर्शन में प्रकृति (Nature) और आत्मा (Spirit) का विश्लेषण हुआ है, द्वितीय काल में, ब्रूनों, स्पिनोजा और फ़िक्टे के प्रभाव के कारण अद्वैतवाद (Identity)

का विकास हुआ है, और तृतीय काल मे रहस्यवाद (Positive Mysticism) का। इन तीनों का अलग-अलग वर्णन आवश्यक है।

पहले, शेलिंग के प्रकृति और आत्मा के दर्शन पर विचार करें। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि फ़िक्टे के अनुमार आत्मा अनात्मा को उत्पन्न करता है और शेलिंग के अनुमार अनात्मा आत्मा को उत्पन्न करता है, कि फ़िक्टे का अध्यात्मवाद आत्म-निष्ठ (Subjective) है और शेलिंग का प्रकृति-निष्ठ (Objective)। किन्तु यह धारणा ठीक नही है। न तो फ़िक्टे का झुकाव दृष्टिसृष्टिवाद की ओर है और न शेलिंग का वस्तुवाद की ओर। दोनों में जो अन्तर है उसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए, अन्यथा उपर्युक्त भ्रान्तियाँ हो सकती है। फ़िक्टे और शेलिंग दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि आत्मा और अनात्मा का, जीव और जगत् का, ज्ञाता और ज्ञेय का, चित् और अचित् का आत्यन्तिक विरोध नहीं है और ये दोनो ही एक तृतीय परम तत्व की अभिव्यक्तिमात्र हैं। फ़िक्टे और शेलिंग दोनों के अनुसार यह परम तत्व निरपेक्ष है और चित्-शक्ति रूप है। दोनों के अनुमार चित्-शक्ति संकल्प-शक्ति रूप है। दोनों के अनुसार इस संकल्प-शक्ति का रूप स्वसंवेदन (Self Consciousness) है जिसमें आत्मा और अनात्मा का भेद समन्वय हो जाता है। दोनों के अनुसार इस समन्वय के लिए अनात्म-तत्व की अभिव्यक्ति आवश्यक है। अब फ़िक्टे और शेलिंग दोनो में जो भेद है उसे भी जान लेना चाहिए। फिक्टे ने इस परम तत्व को 'आत्मा' का नाम दिया है और शेलिंग ने इसे 'प्रकृति' कहा है। न तो फिक्टे का यह परम, 'आत्मा' जीवात्मारूप हैं और न शेलिंग की यह 'प्रकृति' जड़ है। फ़िक्टे का यह 'आत्मा' और शेलिंग की यह 'प्रकृति' वस्तुतः परम तत्व है जो जीव और जगत् दोनों का अधिष्ठान है। फ़िक्टे ने नैतिक जीवन को महत्व देने के कारण, इस परम तत्व को परम 'आत्मा' (Absolute Ego) जीवों को 'आत्मा' (Ego) और जगत् को 'अनात्मा' (Non-Ego) कहा है। शेलिंग ने, कलात्मक भावुकता को महत्व देने का कारण, इस परम तत्व को 'समन्वयात्मक प्रकृति' (Organized Nature), जीव को 'चेतन प्रकृति' (Orgnic Nature) और जगत् को 'अचेतन प्रकृति' (Inorganic Nature) कहा है। द्वितीय, फ़िक्टे के अनुसार जगत् एक बन्धन या बाधा है जिसकी सृष्टि नैतिक जीवन द्वारा जीव के इस बन्धन से मुक्त पाने के लिए या इस बाधा का अतिक्रमण करने के लिए की गई है, किन्तु शेलिंग के अनुसार जगत् बन्धन रूप या बाधा रूप नहीं है, यह जीव विकास के लिए आवश्यक और सहायक है। तृतीय फ़िक्टे के अनुसार परम तत्व की अभिव्यक्ति पहले जीवात्मा के रूप में होती है और फिर आत्मा के रूप में, किन्तु शेलिंग के अनुसार यह अभिव्यक्ति पहले जगत के रूप में होती है और फिर जीव के रूप में। चतुर्थ, फिक्टे के अनुसार जगत् जीव का 'प्रतिपक्ष'

(Antithesis) है किन्तु शेलिंग के अनुसार जगत् जीव का प्रतिपक्ष न होकर उसका 'पूर्वरूप' (Preliminary Stage) है।

अब शेलिंग की 'प्रकृति' का निरूपण करना चाहिए। शेलिंग के अनुसार यह जो अचेतन प्रकृति प्रतीत होती है वह वस्तुतः अचेतन नहीं है। उसमें व्यवस्था, नियम-परायणता और संगति है, वैसी ही जैसी बुद्धि में प्रतीत होती है। अतः जीव और प्रकृति दोनों का मूल स्रोत एक ही परम तत्व है। प्रकृति में प्राणशक्ति और चैतन्य अन्तर्निहित है जो जड़ प्रतीत होता है वह वस्तुतः सुप्त चैतन्य है। प्रकृति में चेतना विकसित नहीं हो पाई है; यह विकास जीव में सम्भव हुआ है। प्रकृति पहले 'जड़वत्' प्रतीत होती है; फिर इसमें वनस्पतिरूप में प्राणशक्ति का विकास होता है, फिर पशु-जगत् में चेतना का विकास होता है और अन्त मे मनुष्य में जाकर यह चेतनता स्वचेतन बन जाती है। ये विभिन्न स्तर चैतन्य के विकास के सोपान मात्र हैं। प्रकृति और आत्मा दोनो एकरूप है। इस विकास का कारण मूलप्रकृति की सकल्प-शक्ति है। यह संकल्प-शक्ति अपरिमित और अगाध है। मूल-प्रकृति अपनी इस सकल्प-शक्ति के कारण, अपने ही चैतन्य को आवृत्त करके जड़ जगत् या बाह्य प्रकृति के रूप में प्रतीत होती है। फिर क्रमशः बनस्पति-जगत् और पशु-जगत् में प्राण-शक्ति और संवेदन शक्ति के रूप में प्रकट होकर मानव जीवात्मा में स्वसवेदन या स्वचेतन (Self-conscious) के रूप में प्रकट होती है। किन्तु अभी यह पूर्णतया स्वचेतन नहीं हो पाती, क्योंकि जीव और जगत् का भेद या विरोध बना रहता है। तब यह पर-मात्मा (World-Soul) के रूप में समन्वयात्मक का स्वचेतन प्रकृति बनकर अपना स्वय ज्ञान करती है और जीव-जगत् के भेद को पार कर जाती है। यह परम तत्व 'समन्वयात्मक या स्वचेतन प्रकृति' है; जीव 'चेतन प्रकृति' है; और जगत् 'अचेतन प्रकृति' है।

अपने दार्शनिक विकास के द्वितीय काल में शेलिंग ने जीव और जगत् के मूल स्रोत परमतत्व की एकता पर विशेष बल दिया है। जीव और जगत्, चेतन और अचेतन, वस्तुतः एक हैं, क्योंकि एक ही परम तत्व के परिणाम हैं। यह परमतत्व पूर्णतया समन्वयात्मक और स्वचेतन है। यह प्रकृति और आत्मा अधिष्ठान है। यह चित्-शक्ति या संकल्प-शक्ति रूप है। इसको हम ईश्वर या परमब्रह्म कह सकते है? स्पिनोज़ा से प्रभावित होकर शेलिंग ने भी ज्ञान के दो स्तर माने हैं—एक तो विशुद्ध पारमार्थिक प्रज्ञा और दूसरा, व्यावहारिक इन्द्रिय-संवेदन-मूलक ज्ञान। व्यवहार में अनेकता द्वैत, भेद, विरोध अपूर्णता की प्रतीति होती है। जीव और जगत् का भेद प्रतीत होता है। परमार्थ में अद्वैत, अभेद, समन्वय और पूर्णता है, जीव और जगत् का कोई भेद नहीं ईश्वर में सब कुछ पूर्ण और एक रस है। परब्रह्म में सब कुछ निरपेक्ष, नित्य और पूर्ण है, वहाँ किसी प्रकार के द्वैत-प्रपञ्च

को स्थान नहीं। समस्त व्यवहार इस परमार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है। स्पिनोज़ा और शेलिंग में यह महत्त्वपूर्ण भेद है कि स्पिनोज़ा के दर्शन में विकासवाद को विशेष स्थान नहीं दिया गया, किन्तु शेलिंग के दर्शन में विकासवाद का स्थान विशिष्ट और महत्व-पूर्ण है। समस्त सृष्टि मूल-प्रकृति की संकल्पशक्ति का विकास है। समस्त पदार्थ इस विकास के सोपान है। प्लोटाइनस से प्रभावित होकर शेलिंग ने निरपेक्ष परम तत्व को 'पूर्ण अद्वैत' ईश्वर या 'पिता' को द्वैत विशिष्ट अद्वैत, संकल्प-शक्ति या 'पुत्र' को अद्वैत में द्वैत और जीवात्मा जो अद्वैतोन्मुख द्वैत भी कहा है। प्रकृति द्वैतोन्मुख अद्वैत है और आत्मा अद्वैतोन्मुख द्वैत है। प्रकृति और आत्मा दोनों में त्रिकनियम पाया जाता है। प्रकृति में क्रमशः जिन रूपों का विकास होता है, वे ये हैं—आकर्षण विकर्षण और गुरुत्वाकर्षण; चुम्बक, विद्युत और रासायनिकता, संवेदन प्रतिवेदन और प्रजनन। आत्मा में विकास के सोपान हैं—इन्द्रिय-संवेदन, प्रत्यक्ष और बुद्धिविकल्प। ये तीनों हैं जीव की बुद्धि या चित्-शक्ति के धर्म। किन्तु बुद्धि का परिपाक होता है संकल्प में, चित्-शक्ति को संकल्प-शक्ति में परिणत होना पड़ता है, बौद्धिक जीवन को नैतिक जीवन में उठाना होता है। स्वचेतन होने पर बुद्धि का सकल्प का रूप ले लेती है, परम-तत्व स्व-चेतन है, अतः पर-तत्व की अनुभूति के लिए बुद्धि को संकल्प बनना पड़ता है। नैतिक जीवन में पर, तत्व की अनुभूति होती है।

शेलिंग के दर्शन का तृतीय काल रहस्यवाद का काल है। इसमें शेलिंग ने यह बताया है कि सविकल्प बुद्धि के द्वारा परम तत्त्व का ग्रहण शक्य नहीं। यह कलात्मक अनुभूति से हो सकता है; क्योंकि कला में द्वैत का विलय हो जाता है। धार्मिक अनुभूति, ईश्वर का उत्कट प्रेम, कला की सर्वोत्तम अभिव्ञ्जना है और इसी रहस्य में परम तत्व की ज्योति का साक्षात् होता है। परम तत्व आदि-संकल्प रूप है। संकल्प के द्वारा ईश्वर अपनी अभिव्यक्ति जीव-जगत् के रूप में करके स्वयं को पूर्ण करते हैं। जगत् को जो अमंगल और अशुभ प्रतीत होता है, वह भी मंगल और शुभ के लिए ही है। मानव-समाज के इतिहास की प्रगति ईश्वर की उत्तरोत्तर अभिव्यक्त कर रही है। धार्मिक अनुभूति के द्वारा जीव और जगत् के द्वैत से ऊपर उठकर समन्वयात्मक ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।

जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हेगल (George Wilhelm Friedrich Hegel) (१७७०—१८३१) :—

हेगल का जन्म जर्मन के स्टटगार्ट नगर के एक मध्यम वर्ग के शिक्षित परिवार में हुआ था। ग्रीक काव्य और कला के प्रति उनका अनुराग था और प्रत्येक विज्ञान में उनकी अभिरुचि थी ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में वे शेलिंग के सहपाठी थे। हेगल उदार, सामाजिक, गम्भीर और संयमी थे। अध्ययन-समाप्ति के बाद कुछ वर्षों तक

हेगल गृह-शिक्षक का कार्य करते रहे, बाद में जेना में शिक्षक होकर शेलिंग के सहायक हुए। शेलिंग के जेना से चले जाने के बाद वे वहाँ अध्यापक नियुक्त हुए। इस समय उन्होंने अपने दर्शन का निर्माण किया। जेना में युद्ध के कारण राजनीतिक हेरफेर होने से उनको अध्यापकपद छोड़ देना पड़ा। कुछ वर्षों तक वे एक पत्र का सम्पादन करते रहे, बाद में एक विद्यालय के प्रधान शिक्षक बने। इन सब असुविधाओं में भी उनकी दार्शनिक प्रगति बन्द नहीं हुई। फिर वे हाइडेलवर्ग में दर्शनाध्यापक हुए। दो वर्ष बाद फिक्टे की मृत्यु के कारण बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शनाध्यक्ष का पद रिक्त हुआ और वहाँ हेगल की नियुक्ति हो गई। इस समय से लेकर मृत्युपर्यन्त हेगल जर्मनी के दार्शनिक जगत् के नेता बने रहे। सन् १८३१ में हैजे के कारण उनका देहावसान हो गया। उनकी रचनाओं का संग्रह अट्ठारह भागों में प्रकाशित हुआ है। उनकी 'आत्म तत्व की अभिव्यक्ति' (Phenomenology of Spirit) और 'तर्कशास्त्र' (Logic) अत्यन्त प्रसिद्ध है।

हेगल की गणना विश्व के दार्शनिकों में है। हेगल के पूर्व किसी दार्शनिक ने पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का इतना मार्मिक और गम्भीर अध्ययन नहीं किया था। हेनल ने दार्शनिक इतिहास को एक नये रूप में रक्खा। मानव-समाज के इतिहास की भाँति, सम्राज्यों और जातियों के उत्थान-पतन की भाँति, संस्कृति के विविध रूपों की प्रगति की भाँति, दार्शनिक विचारों की प्रगति का भी इतिहास महत्वपूर्ण है। दर्शन का कार्य भूत, वर्तमान और भविष्य में व्यापक तथा प्रगतिशील सत्ता का निरूपण करना है। हेगल के अनुसार प्रत्येक दर्शन-पद्धति में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश रहता है और प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक "तुतलानेवाला हेगल" है। हेगल पर प्लेटो, एरिस्टाटल, लाइबनित्ज्, कान्ट, फिक्टे और शेलिंग का विशेष प्रभाव पड़ा है। हेगल के परवर्ती सभी पाश्चात्य दार्शनिक किसी-न-किसी रूप में हेगल से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

हेगल कान्ट के इन विचारों से, कि दर्शन आलोचनात्मक विज्ञानवाद है, कि बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, कि बुद्धि में ज्योति तथा शक्ति विशुद्ध आत्मतत्व से आती है, कि विशुद्ध आत्मतत्व ज्ञानरूपीगुण का आधारभूत द्रव्य न होकर वस्तुतः ज्ञानरूप ज्ञाता है, सहमत है। किन्तु वे कान्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद के घोर विरोधी हैं और उन्होंने कान्ट के बुद्धि-विकल्पों और कान्ट की प्रज्ञा का भी सशोधन किया है। कान्ट का व्यवहार- और परमार्थ का द्वैत हेगल को स्वीकार नही हैं। कान्ट का इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प का द्वैत भी हेगल को स्वीकार नहीं है; कान्ट के 'अज्ञेय बाह्य परमार्थ' हेगल को स्वीकार नहीं है। हेगल का अटल विश्वास है कि तत्व विज्ञानरूप और विज्ञानगम्य है। जिस प्रकार नेपोलियन ने कोश में से 'असम्भव' शब्द को निकाल दिया, उसी प्रकार हेगल ने कोश में से 'अज्ञेय' शब्द को निकाल दिया। जो कुछ है, यह विज्ञानगम्य है।

'अज्ञेय' शब्द वदतोव्याघात है। यदि परमार्थ वस्तुत: अज्ञेय है, तो उसके विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वह अज्ञेय है। कान्ट ने भी अपने 'अज्ञेय' परमार्थों को 'सत्ता', 'द्रव्य' और कार्यकारणभाव' के बुद्धि,विकल्पों में जकड़ रक्खा है। कान्ट को अपने 'अज्ञेय' परमार्थों का कम-से-कम इतना तो निश्चित ज्ञान है कि वे हैं और अज्ञेय हैं और सम्वेदनों के उत्पादक कारण है। ज्ञान अपना गला स्वयं नहीं घोट सकता। बुद्धि आत्मघात नहीं कर सकती। समस्त खण्डन या निषेध ज्ञान के अन्तर्गत होंगे; ज्ञान अपना खण्डन नहीं कर सकता। अत: कोई वस्तु 'अज्ञेय' नहीं हो सकती। पुनश्च, संवेदन भी ज्ञान के ही क्षीण प्रकाश हैं। बाह्य जगत् भी आत्म-तत्व की ही अभिव्यक्ति है। और कान्ट ने बुद्धि-विकल्प तथा प्रकाश का स्वरूप ठीक-ठीक नही बताया है। कान्ट के बुद्धि-विकल्प खोखले साँचें हैं जो संवेदन सामग्री से भरे जाते है। किन्तु हमारी धारणाएँ रंगीन चश्मे नहीं हैं जो वस्तु-जगत् को विकृतरूप में उपस्थित करती हों। हमारे बुद्धि-विकल्प काल्पनिक या आत्मगत नही है। ये खोखले साचे नहीं है। ये वस्तु-गत है। ये वस्तु-जगत् में भी व्याप्त हैं। जगत् ज्ञान-तत्व का ही बाह्य प्रकाश है। जो ज्ञान-तत्व मानव-बुद्धि के नियमों के रूप में प्रतीत हो रहा है, वही ज्ञान तत्व बाह्य-जगत् की व्यवस्था, नियमपरायणता और विश्वरूपता में प्रतीत हो रहा हैं। प्रकृति में भी ज्ञान व्याप्त है। प्रकृति बुद्धि-गम्य है, इस वाक्य का अर्थ है कि प्रकृति में भी बुद्धि है। हमारा ज्ञान वस्तु-जगत् का सत्य ज्ञान है। हमारे बुद्धि-विकल्प ज्ञान के विकास के वास्तविक सोपान हैं। और ज्ञान ही वस्तु-जगत् है, अत: ये वस्तु-जगत् के भी वास्तविक सोपान हैं। ज्ञान तत्व एक है और उसकी विभिन्न धारणायें या विकल्प उसकी अपूर्व अभिव्यक्तियाँ या छबियाँ हैं। कान्ट ने बुद्धि-विकल्पों के समान हेगल के बुद्धि-विकल्प की कुंजियाँ नही है जिनको लगाकर अनुभव जगत् के दरवाजों के ताले खोल दिये जायँ, न ये खोखले साँचे हैं जिनमें आकर संवेदनरूपी कच्चा माल ढलकर ज्ञान का रूप ले, न ये रंगीन चश्मे हैं जो वस्तु-जगत् को विकृत व्यावहारिक प्रतीत करायें। ज्ञान ही एक मात्र तत्व है और उसको विकल्प उसकी अभिव्यक्ति के वास्तविक सोपान है। अत: इसकी संख्या भी कान्ट के अनुसार बारह नहीं है। कान्ट के बुद्धि-विकल्प ज्ञान के विकास में सोपानवत क्रमबद्ध हैं। कान्ट की 'प्रज्ञा' केवल नियामक है, उपादान-रूप नहीं, हेगल के अनुसार प्रज्ञा नियामक और उपादान-रूप दोनों हैं।

फ़िक्टे के स्वप्रकाश परमात्म-तत्व को, उनके तादात्म्य, विरोध और पर्याप्त कारण को, उनके सत्ता निषेध और परिच्छेद को, उनकी पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय की त्रयी को, उनके परमात्मा, जीवात्मा और अनात्मा आदि सिद्धान्तों को हेगल ने किसी न किसी रूप में अपना लिया है। किन्तु फ़िक्टे के संकलन-शक्ति के प्राधान्यको उनके नैतिक जीवन के महत्व को, उनके इस सिद्धान्त को कि अनात्म जगत् बाधारूप

है और इसकी सृष्टि इसका अतिक्रमण करके इस पर विजय पाने के लिये होती है, हेगल ने स्वीकार नहीं किया।

शेलिंग से हेगल इस बात में सहमत हैं कि दर्शन का लक्ष्य परमतत्व के विकास का अध्ययन करना है। हेगल ने शेलिंग के विकासवाद को अपना लिया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों का मूल स्रोत परमतत्व है, कि यह परमतत्व और जगत् का समन्वय-रूप हैं। किन्तु शेलिंग के अनुसार यह परमतत्व न आत्मा-रूप है न अनात्म-रूप, हेगल के अनुसार यह आत्म-रूप है। शेलिंग के अनुसार यह परमतत्व सृष्टि के ऊपर है, 'पर' है, हेगल के अनुसार यह सृष्टि में ही है, 'अन्तर्यामी' है। शेलिंग के अनुसार यह परमतत्व 'अद्वैत रूप' है, हेगल के अनुसार यह 'विशिष्टाद्वैतरूप' है। हेगल ने स्पिनोजा के परमतत्व को "सिंह की गुफा" और शेलिंग के परमतत्व को "वह काल रात्रि जिसमें सब गायें काली दिखाई देती है" कहा है, क्योंकि स्पिनोजा और शेलिंग दोनों के परमतत्व में किसी प्रकार का भेदप्रपंच नहीं रहता, और हेगल को परमतत्व में भी भेद-प्रपंच की गौण सत्ता मान्य है। शेलिंग और फिक्टे ने चित्-शक्ति को ही संकल्प शक्तिरूप मानकर संकल्प को प्राधान्य दिया था, हेगल ने चित्-शक्ति को ही प्राधान्य दिया और संकल्प को चैतन्य का ही विकार माना। फिक्टे ने नैतिक जीवन की और शेलिंग ने कलात्मक धार्मिक अनुभूति की शरण ली, हेगल ने एक मात्र विज्ञान की ही शरण ली। हेगल रहस्यानुभूति के घोर विरोधी हैं। जो कुछ है, विज्ञान का ही परिणाम है और इसीलिये विज्ञान-गम्य है। रहस्यवादी साधना ज्ञान का विकृत अंग है और इसे ज्ञान के ऊपर कदापि नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार कान्ट, फिक्टे और शेलिंग की बहुत-सी बातें अपनाकर बहुत-सी बातों का खण्डन करके हेगल ने अपने निरपेक्ष विज्ञानवाद की स्थापना की।

हेगल के अनुसार दर्शनशास्त्र का लक्ष्य परमतत्व के विकास की समुचित व्याख्या करना है। तर्कशास्त्र का कार्य भी यही है। अतः हेगल के अनुसार तर्कशास्त्र (Logic) और दर्शनशास्त्र (Metaphyscis) दोनों एक ही हैं। परमतत्व निरपेक्ष विज्ञानरूप या शुद्ध चैतन्यरूप है। इस तत्व की वैज्ञानिक आलोचना दर्शनशास्त्र का विषय है। अतः दर्शन सब विज्ञानों का विज्ञान है। तर्कशास्त्र का विषय भी निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विविध सोपानों की क्रमवद्ध व्याख्या ही है। अब तक तर्कशास्त्र बुद्धि-विकल्पों को अमूर्त विज्ञान (Abstract Ideas) मानकर केवल शुष्क अनुमान प्रक्रिया का विश्लेषण किया करता था उसके तादात्म्य और विरोध आदि नियम केवल हमारे अमूर्त विचारों तक ही सीमित माने जाते थे। किन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः विज्ञान ही एक मात्र सत्ता है। जिसे हम वस्तु-जगत् कहते हैं, वह भी विज्ञान का ही परिणाम है। विज्ञान मूर्त और वास्तविक (Concrete and Real) है। विज्ञानों के नियम वस्तु-जगत् पर भी लागू होते हैं। कान्ट ने अपने इस कथन से कि हमारी

बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, एक प्रवर्तक विचारधारा स्थापित की। किन्तु कान्ट स्वयं इस कथन का पूर्ण आशय नही समझ सके और उनके बुद्धि-विकल्प खोखले साँचे मात्र रह गये जिनको अपनी सामग्री के लिए इन्द्रिय-संवेदनों पर निर्भर रहना पड़ा। इसीलिए कान्ट ने प्रज्ञा को भी नियामक ही माना, उपादानरूप नहीं। यह कान्ट की भारी भूल थी। वस्तुतः इन्द्रिय-सम्वेदन भी प्रज्ञा के ही क्षीण रूप हैं। जो कुछ है सब चैतन्य वा विज्ञान का ही विकास है। बुद्धि-विकल्प इस विज्ञान के विकास के मूर्त सोपान है। विज्ञान व्यतिरिक्त कोई सत्ता नहीं। विज्ञानों के नियम वस्तु-जगत के नियम हैं। अतः तर्कशास्त्र या ज्ञानमीमांसा और दर्शनशास्त्र या तत्व-मीमांसा दोनों एक ही है क्योंकि ज्ञान ही एकमात्र तत्व है।

हेगल के अनुसार एकमात्र तत्व निरपेक्ष या पूर्ण विज्ञान (Absolute Idea) है। सम्पूर्ण विश्व इसी का परिणाम है। इन्द्रिय-सम्वेदन, भावना, इच्छा, संकल्प आदि सब विज्ञान के ही विविध रूप हैं। विज्ञान की ही नित्य सत्ता है। विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध विज्ञाता में कोई अन्तर नहीं। विज्ञाता द्रव्य रूप नहीं है और न विज्ञान उसका आगन्तुक धर्म या गुण है: विज्ञाता विज्ञान-स्वरूप ही है। विज्ञाता का कभी निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि निराकरण में भी निराकर्ता की सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती हैं। निराकरण और स्वीकरण, खण्डन और मण्डन, असिद्धि और सिद्धि, निषेध और विधान—सब विज्ञाता के कारण सम्भव हैं। विज्ञान-स्वरूप होने के कारण, विज्ञाता और विज्ञान में कोई अन्तर नहीं हैं, चित् शक्ति और चित् शक्तिमान् में कोई भेद नहीं इस चैतन्य या विज्ञान की ही एक मात्र सत्ता है। अखिल विश्व इसी का परिणाम है। हेगल की सिद्ध उक्ति हैं—"**जो चित् है वही सत् है और जो सत् है वही चित् है: अथवा बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है।**" समस्त विश्व में इन पदार्थों को सत्ता प्रतीत होती है, ये सब पदार्थ विज्ञान के ही विविध रूप हैं। उनकी सत्ता इसलिए है कि वे विज्ञान की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण विज्ञान के विकास के विविध स्तर हैं। चित् में और सत् में, बोध में और सत्ता में, ज्ञान में और तत्व में, आत्मा में और प्रकृति में विज्ञान में और वस्तु में कोई अन्तर नही हैं। जो कुछ है, वह सब विज्ञान के विकास का परिमाण है। विज्ञान केवल अमूर्त विचार नही है जिसकी सत्ता हमारे मस्तिष्क में है, वह मूर्त वस्तु है, केवल वही 'सत्' कहलाने का पात्र है। विज्ञान चित्-शक्ति है जो स्वय को इस विश्व के रूप में अभिव्यक्ति करता है।

हेगल ने 'विज्ञान' शब्द को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया है, जिसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए। विज्ञान शब्द का प्रचलित अर्थ है हमारे मस्तिष्क का अमूर्त विचार या सामान्य। किन्तु हेगल के अनुसार विज्ञान मूर्त सामान्य है। हेगल के निरपेक्ष विज्ञान का स्वरूप पहले ही समझ लेना अच्छा होगा। इसके लिये हेगल ने कई शब्दों का प्रयोग किया है जिसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। हेगल के अनुसार केवल

भेद या द्वैत और केवल अभेद या अद्वैत, दोनों एक ही कल्पनामात्र हैं, वास्तविक नहीं। अभेद और भेद दोनों एक दूसरे में घुले-मिले हैं। इनमें अभेदप्रधान है और भेद गौण है। भेद अभेद के आश्रम पर ही टिकता है और बिना अभेद के नहीं रह सकता। किन्तु अभेद की कल्पना भी बिना भेद के नहीं हो सकती अभेद सदा भेद से विशिष्ट रहता है। भेद विशेषण है; अभेद विशेष्य है। भेद गौण है, अभेद मुख्य है। किन्तु रहते दोनों साथ-साथ हैं। बिना विशेषणों के विशेष्य की कल्पना नहीं हो सकती; बिना गुणों के द्रव्य की कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार बिना बिशेष्य के विशेषण टिक नहीं सकते; द्रव्य के आधार के बिना गुणों की सत्ता नहीं हो सकती। अत: कोई वस्तु निर्विशेष नहीं हो सकती। निर्विशेष का ज्ञान नही हो सकता। इसलिए तत्व सदा भेदविशिष्ट अभेदरूप या विशिष्टाद्वैतरूप होता है। इस विषय में हेगल का रामानुजाचार्य से पूर्ण मतैक्य है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है द्वैतविशिष्ट अद्वैत् अथात् अनेकता में अनुस्यूत एकता (Unity-in difference) या भेद में अन्तर्यामी अभेद। हेगल का विज्ञान विशिष्टाद्वैतरूप है अथात् अनेकता में अनुस्यूत एकता है। विशिष्टाद्वैत विज्ञान स्व-चेतन (Self-conscious) होता है। हेगल के शुद्ध विज्ञान या शुद्ध चैतन्य का अर्थ सदा स्व-चेतन या स्व-संवेदन से है, अमूर्त चैतन्य (Pure Consciousness) से नहीं विज्ञान मूर्त सामान्य (Concrete Universal or Notion) है, अमूर्त सामान्य (Abstract Universal) नहीं। यह समष्टि रूप (System) है। यह अवयवी या अंगी (Whole) है। यह एकदम (Individual) है इसके विशेषण-रूप भेद इसके अवयय या अंग हैं। निरपेक्ष विज्ञान अपने अवयवों या अंगों (Parts or Members) में अनुस्यूत अभेद हैं। यह अपने अवयवों में अन्तर्यामी (Immanent) रूप से रहता है इसकी सत्ता अवयवों में ही प्रतीत होती है, यह अवयवों से पृथक् और नितान्त भिन्न नहीं है। फिर भी, इसके अवयव इंसकी सत्ता को सीमित नहीं कर सकते। वह अवयवों का समूह मात्र नहीं है। यह उनसे विशिष्ट और अनुष्यूत अभेद है। अनेकता में भी इसकी एकता अक्षुण्ण है। भेद में भी इस अभेद की क्षति नहीं होती। समस्त भेद या अवयव इसी से अनुप्राणित होते हैं। प्रत्येक भेद या अवयव इस निरपेक्ष विज्ञान की एक धारणा या इसका एक विकल्प (Category) है जो इसे अपने रूप से अभिव्यक्त करती है। निरपेक्ष विज्ञान व्यष्टियों में अन्तर्यामी समष्टि है। प्रत्येक धारणा इस समष्टि के व्यक्तितत्व को न्यूनाधिक रूप से अभिव्यक्त करती है। इसीलिए इस निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विभिन्न स्तरों में तारतत्य है। ये सब अवयव सोपानवत् क्रमबद्ध हैं और निरपेक्ष विज्ञान के प्रकाश से ही प्राणवान् हैं। अवयवों और अवयवी में जीवित सम्बन्ध (Organic Relation) है। यों तो प्रत्येक समष्टि में व्यवस्था, नियमपरा-यणता और एकरूपता रहती है, किन्तु जीवित समष्टि में यह और अधिक स्पष्ट प्रतीत

होती है। उदाहरण के लिये, एक मकान को भी हम ईंट, पत्थर, चूना सीमेंट आदि का समूहमात्र नहीं कह सकते, क्योंकि सुव्यवस्थित बनकर ही वे मकान का रूप ले सकते हैं, अतः ईंट पत्थर चूना आदि से निर्मित होने पर भी मकान उनका समूह मात्र नही है, उसकी अपनी एक विशेषता है। इसी प्रकार एक घड़ी भी अपने पुर्जों का समूहमात्र नहीं है, उसमें भी एक व्यवस्था और सामंजस्य है। प्रत्येक पुर्जा अपना कार्य व्यवस्थित रूप से करती है और अन्य पुर्जो से सम्बन्ध है। यदि एकपुर्जे में खराबी आ जाय तो सारी घड़ी ही चलना बन्द कर देगी। एक पुर्जे की खराबी का प्रभाव अन्य सब पुर्जे पर और पूरी घड़ी पर पड़ता है। इसी प्रकार जीवित शरीर को ले लीजिए। शरीर विभिन्न अवयवों से बना है। प्रत्येक अवयव में प्राण है और प्रत्येक अवयव का अपना विशिष्ट कार्य है। प्रत्येक अवयव अन्य अवयवों से और अवयवी से सम्बद्ध है। अवयवों की गति है, प्रगति है, क्रिया है, जीवन है, बुद्धि है, विकास है। एक अवयव के विकार का प्रभाव अन्य सब अवयवों पर और अवयवी का सम्बम्ध है। अवयवी अवयवों से भिन्न नही हैं क्योंकि उन्ही में अन्तर्यामी है, फिर भी अवयवो को अवयवों का समूहमात्र नहीं कह सकते, उसकी अपनी विशिष्ट सत्ता भी है। अवयव भिन्न-भिन्न हैं, अवयवी इन भेदों में व्याप्त अभेद है। इसलिए अवयवी को व्यक्ति या समष्टि या मूर्त सामान्य विशिष्टाद्वैत तत्व कहा जाता है। निरपेक्ष विज्ञान का और विश्व के समस्त पदार्थों का सम्बन्ध, अवयवी और उसके अवयवो का जीवित सम्बन्ध है। निरपेक्ष विज्ञान जो हेगल का एक मात्र परमतत्व है, समस्त विश्व में अन्तर्यामी अवयवी है। प्रत्येक पदार्थ उसी की सत्ता से अनुप्राणित है और अपने सीमित रूप में उसी की अभिव्यति करता है। अतः इस निरपेक्ष विज्ञानरूप परमतत्व के लिए हेगल ने समष्टि, व्यक्ति, मूर्त सामान्य या विज्ञान, विशिष्टाद्वैत तत्व स्व-चेतन, अवयवी अंगी, अन्तर्यामा, आत्मा आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिनका हम स्पष्टीकरण कर चुके हैं।

यह निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञान (Abstract or Logical Idea) के रूप में प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञान शुद्ध विषयी के रूप में होता है। यह अपने आप में ही प्रतिष्ठित शुद्ध अभेदरूप (Idea-in-itself) है। और इसलिये यह अपूर्ण है। विषयी को सदा विषय की अपेक्षा होती है, ज्ञाता को सदा ज्ञेय की अपेक्षा होती है। अतः विज्ञान फिर विषय या जड़ जगत् या प्रकृति के रूप में प्रतीत होता है। यह विज्ञान का बाह्यरूप (Idea-outside-itself) है। यह शुद्ध भेदरूप है। चैतन्य यहाँ सुप्त प्रतीत होता है। यह सुप्त चैतन्य फिर अपने विकास के लिए उन्मुख होता है। जड़जगत् से वनस्पतिजगत

मे यह प्राण-रूप हो जाता है फिर पशु-जगत् में चेतन बन जाता है। मानव-आत्मा में जाकर यह स्व-चेतन बनता है। स्व-चेतन में विषयी और विषय का द्वैत विरोध रूप मे नही रहता; उसका समन्वय हो जाता है। अब यह विज्ञान न केवल अभेद है और न केवल भेद, अब यह विशिष्ट अभेद बन गया है। अमूर्त विज्ञान ब ह्य-विज्ञान से संवलित होकर अब मूर्त विज्ञान (Idea-in-and-for-itself) बन गया है। अब इसने अपने निरपेक्षत्व और पूर्णत्व को पा लिया है। अमूर्त विज्ञान का विकास बाह्य विज्ञान द्वा मूर्त विज्ञान के रुप में हो, यही सृष्टि का प्रयोजन है। विश्व के समस्त पदार्थ इस विकास के विभिन्न स्तर हैं और इस विकास की पूर्णता के लिए गतिशील हैं। जिनको हम वस्तु-जगत् कहते है वह विज्ञान का ही बाह्य रूप है। वह पहले भी विज्ञानरूप था और बाद में भी विज्ञानरूप रहता है। अमूर्त विज्ञान प्रकृति के रूप मे इसीलिए परिणत होता है कि उसके द्वारा वह मूर्त बिज्ञान बनाकर अपने असली स्वरूप का लाभ करे। इस विकास के पीछे वस्तुत: निरपेक्ष विज्ञान की ही सत्ता है जिसको प्राप्त करने के लिऐ ही यह विकाम होता है, किन्तु यह विकास निषेध या विरोध के द्वारा होना है जिसका हेगल के दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अत: अब हम इस निषेध का विवेचन करेंगे।

हेगल का दर्शन विज्ञान का विकासवाद है। जिस शक्ति के कारण विकास संभव होता है जिसका नाम है—निषेध (Negation) या विरोध (Contradiction)। लोग निषेध या विरोध से घबराते हैं; किन्तु हेगल के अनुसार इसमें भय की कोई बात नहीं। निषेध या विरोध के कारण ही गति, प्रगति, जीवन, वृद्धि, विकास आदि संभव होते हैं। निषेध या विरोध प्राण-स्पन्दन है, इसका अभाव मृत्यु है। वस्तुत: निषेध या विरोध 'दु.खशमनी शून्यता' या 'अभय पद' है, लोग इससे व्यर्थ ही घबराते हैं; अभय में भय की कल्पना करते हैं।[1] इस निरर्थक भय का कारण निषेध या विरोध में वास्तविक स्वरूप का अज्ञान है। हेगल के अनुसार पूर्ववर्ती पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसके स्वरूप को ठीक-ठीक नही समझा। हेगल ने लिखा है—'अभी तक यह तर्कशास्त्र का एक गहरा अन्धविश्वास और जन-साधारण में प्रचलित धारणा है कि विरोध तत्व के लिए उतना आवश्यक नहीं जितना तादात्म्य; किन्तु वस्तुत: विरोध के आगे तादाम्य एक निर्जीव वस्तु प्रतीत होता है। विरोध समस्त गति और जीवन का स्रोत है, किसी वस्तु की गति; शक्ति या कार्यरूप में परिणति, तभी संभव हो सकती है जब उसमें विरोध हो।' हेगल के अनुसार निषेध "अखिल विश्व का प्राण" है। किसी वस्तु की अनिवार्य सत्ता के प्रतिपादन के लिए उसके निषेध से बढ-

१. **'शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ?'**
'अभये भयदर्शिनः।'

कर अन्य कोई साधन नहीं है। यदि किसी वस्तु के 'निषेध का निषेध' 'विरोध का विरोध' सिद्ध हो जाय, तो उस वस्तु की सत्ता अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। अब तक तर्कशास्त्र का विषय अमूर्त विज्ञानों का विवेचन रहा है। ये अमूर्त विज्ञानों हमारी कल्पनामात्र हैं और तर्कशास्त्र का कार्य अपने स्वतः सिद्ध 'तादात्म्य-नियम' 'विरोध-नियम' और 'मध्य-योग्य-परिहार-नियम' द्वारा इन काल्पनिक विज्ञानों के परस्पर सम्बन्धों को सिद्ध या असिद्ध करना रहा है। तादात्म्यनियम के अनुसार 'क सदा क है' अर्थात् प्रत्येक, वस्तु सदा एक रहती है, यह अपने स्वरूप नहीं छोड़ती। किन्तु यह सिद्धान्त पुनरुक्तिमात्र है। और फिर परिवर्तनशील जगत् में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सदा एकरूप रह सके? यह सत्य है कि नित्य अधिष्ठान के बिना परिवर्तन संभव नहीं होता, किन्तु इसको उपर्युक्त तादात्म्य-नियम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। विरोध-नियम के अनुसार 'क' 'ख और अ-ख दोनों नहीं हो सकता' अर्थात् कोई भी वस्तु एक साथ सत और असत् दोनों नहीं हो सकती; एक वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते। किन्तु यह असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक वास्तविक पदार्थ में विरोधी धर्मों का रहना अनिवार्य है। प्रत्येक वस्तु में वह शक्ति होती है कि वह अपने विरोधी को जन्म दे। मध्यम-योग-परिहार-नियम के अनुसार 'क या तो ख है या अ-ख है' अर्थात् प्रत्येक वस्तु या तो सत या असत् है; सदसद-निर्वचनीय की कल्पना असंभव है; प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी धर्मों में से एक धर्म का रहना अनिवार्य है! यह नियम भी विरोधी नियम का ही दूसरा रूप है और उसी के समान यह भी असंभव है, क्योंकि प्रत्येक वास्तविक पदार्थ में दोनों विरोधी धर्म रहते हैं। हेगल के अनुसार तर्कशास्त्र के ये नियम तर्कशास्त्रियों की कल्पना हैं। ये नियम तर्कशास्त्रि के काल्पनिक अमूर्त विज्ञानो पर भले ही लागू होते हों, किन्तु वस्तु-जगत् में ये लागू नहीं हो सकते। वास्तविक पदार्थ इन नियमों के नियन्त्रण में नहीं रहते। हेगल के अनुसार विज्ञान ही तत्व है और विज्ञान अमूर्त न होकर मूर्त सामान्य रूप है। इन वास्तविक विज्ञानों पर ये नियम लागू नहीं हो सकते।

पूर्वोक्त तीनों नियमों का आधारभूत नियम 'विरोध-नियम' है। विरोध को तर्कशास्त्रियों ने गलत समझा है। उनके अनुसार सच्चा विरोध 'आत्यन्तिक विरोध' होता है। वैसे तर्कशास्त्रियों ने चार प्रकार के विरोध माने हैं—समावेग (Subalternation), विरोध (Contraiety), उप-विरोध (Subcontrariety) और आत्यन्तिक विरोध (Contradiction)। इनमें समावेश तो विरोध है ही नहीं और उप-विरोध विरोध के अन्तर्गत आ जाता है। अतः विरोध दो प्रकार का रह जाता है—विरोध और आत्यन्धिक विरोध। इन दोनों में भी असली विरोध, इन तर्कसास्त्रियों के अनुसार, आत्यन्तिक विरोध ही है। 'विरोध-नियम' में विरोध से तात्पर्य आत्यन्धिक विरोध से ही है। किसी वस्तु

में दो आत्यन्तिक विरोधी धर्म नहीं रह सकते। हेगल इस नियम को मिथ्या सिद्ध नहीं करते। कई लोगों ने हेगल पर यह आक्षेप किया है कि हेगल ने विरोध-नियम की अवहेलना करके उसको मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह आक्षेप-गलत है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यही कह देना पर्याप्त है कि हेगल ने न तो विरोध-नियम को मिथ्या सिद्ध किया है (यह असम्भव है) और न इसकी अवहेलना की है (यह भी असम्भव है)। हेगल ने विरोधनियम को उस रूप में स्वीकार नहीं किया जिस रूप में वह तर्कशास्त्रियों को मान्य रहा है। हेगल का मत है कि आत्यन्तिक विरोध असम्भव है। विरोध सदा भेद-रूप (Difference) होता है। भेद तर्कशास्त्रियों का 'विरोध' (Contrariety) है, 'आत्यन्तिक विरोध' (Contradiction) नहीं। जब आत्यन्तिक विरोध की वस्तु-जगत् में सत्ता ही नहीं तो यह कहना कि 'किसी भी वस्तु में दो आत्यन्तिक विरोध धर्म नहीं रह सकते' व्यर्थ है। श्वेत और अश्वेत में आत्यन्तिक विरोध माना जाता है तथा श्वेत और कृष्ण में केवल विरोध। वस्तुतः देखा जाय तो श्वेत रंग और 'अश्वेत' में क्या विरोध हो सकता है? 'अश्वेत' के अन्तर्गत श्वेतरंग को छोड़ कर संसार के सभी पदार्थं आ जाते है। ईश्वर, कर्तव्य, विश्वविद्यालय आदि भी 'अ-श्वेत' हैं। यदि कोई कहे; श्वेत रंग ईश्वर नहीं हैं' या 'श्वेत रंग विश्वविद्यालय नहीं है' तो कितना हास्यास्पद होगा। विरोध वही हो सकता है जहाँ अभेद-मूलक भेद हो। अभेदमूलक भेद 'केवल विरोध' (Contraries) में सम्भव है, अतः असली विरोध भी यही है। उदाहरणार्थ, श्वेत और कृष्ण। दोनों में भेद है; किन्तु दोनों में अभेद भी हैं; क्योंकि दोनों रंग हैं। यह कथन कि 'श्वेत रंग कृष्ण रंग नहीं है' उचित प्रतीत होता है। श्वेत रंग कृष्ण रंग से भिन्न है, किन्तु दोनों में रंग की एकता अनुगत है। यह विरोध अपरिहार्य भी नहीं है, क्योंकि श्वेत और कृष्ण के सम्मिश्रण से एक नया रंग बनाया जा सकता है: अतः हेगल के अनुसार विरोध कभी आत्यन्तिक विरोध नहीं हो सकता, विरोध का असली अर्थ है भेद। और भेद सदा अभेद-मूलक-होता हैं। बिना अभेद के भेद टिक नहीं सकता। भेद गौण है और अभेद का विशेषण है। किन्तु विशेषण रूप से भेद सदा अभेद के साथ लगा रहता है। 'निर्विशेष' नामक कोई वस्तु नहीं। प्रत्येक वस्तु यदि वह सत् है तो, सदा विशिष्टाद्वैतरूप होगी। प्रत्येक वस्तु में यह शक्ति है कि वह भेद को उत्पन्न करे और फिर उस भेद को अपना विशेषण बना कर अपने स्वरूप में सम्मिलित कर ले।

हेगल के अनुसार निषेध या विरोध का अर्थ स्पष्ट करके अब हम उनके सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। हेगल के अनुसार जो कुछ है वह सब निरपेक्ष विज्ञान का विकास मात्र है। यह विकास निषेध या विरोध के कारण सम्भव होता है। निषेध या विरोध-शिक्ति है, जीवन है, प्राण है, गति है, बुद्धि हैं, विकास है। विज्ञान का विकास

त्रिक-रूप (Triadic) में होता है। ये तीन रूप हैं—पक्ष (Thesis); प्रतिपक्ष (Anti-thesis) और समन्वय (Synthesis)। हेगल के इस सु-प्रसिद्धसिद्धान्त का नाम है 'द्वन्द्व-मूलक समन्वय' (Dialectic) जिसे हम 'भेद विशिष्ट अभेद' या संक्षेप में 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त कह सकते हैं। सत् और असत्, विधि और निषेध, अभेद और भेद, सत्ता और विरोध, पक्ष और प्रतिपक्ष, दोनों परस्पर, सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरा नही रह सकता। दोनों अपूर्ण है। इसको पूर्ण मानते ही उसमें से, उसकी अपूर्णतया को सूचित करता हुआ, उसका विरोध निकल पडता है। पक्ष में से प्रतिपक्ष का निकल पड़ना स्वाभाविक है। प्रत्येक अपूर्ण विज्ञान अपने विरोधी विज्ञान को उत्पन्न करता है। इस विरोधी-शक्ति से ही उनका विकास होता है।किंतु तत्व का स्वभाव विरोध नही हो सकता, अत: इस विरोध का शमन भी आवश्यक हो जाता है। विरोध भेद-रूप है और भेद सदा अभेद पर आश्रित रहता है। अतः इस विरोध या भेद में अनुगत अभेद को खोजने की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता के कारण पक्ष और प्रतिपक्ष का, अभेद और भेद का, सामञ्जस्य करना पड़ता है। इस सामञ्जस्य 'समन्वय' में होता है। यह समन्वय भेद-विशिष्ट अभेद या विशिष्टाद्वैत है। किन्तु वह समन्वय भी अपूर्ण है और इसीलिये यह स्वयं एक पक्ष बन जाता है। पक्ष बनते ही इसमें से फिर इसका प्रतिपक्ष निकल पड़ता है और फिर इन पक्ष और प्रतिपक्ष के समन्वय की आवश्यकता होती है। यह समन्वय भी फिर पक्ष बन जाता है और फिर यही त्रिक-क्रम चलता रहता है। जब तक अपूर्णता है तब तक वह क्रम चलता रहेगा। यह क्रम तभी समाप्त होगा जब निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान तक पहुँच जायेंगे। पूर्ण विज्ञान पूर्णसमन्वय है। यह पक्ष नही बन सकता, क्योंकि पक्ष वही बनता है जो अपूर्ण हो। समस्त विश्व इस पूर्ण विज्ञान का भेद है और यह पूर्ण विज्ञान उसमे अनुगत अभेद है। यह पूर्ण विशिष्टाद्वैत रूप है। समस्त विश्व इसका विशेषण है और यह विश्व में अन्तर्यामी है। विश्व के समस्त पदार्थ इसके अवयव हैं और यह उनका अवयवी है विश्व इसका शरीर है, यह विश्व की आत्मा है। इस विश्वात्मा को पाने के लिए ही सृष्टि का विकास होता है। समस्त भेद, निषेध या विरोध के पीछे इनकी ही शक्ति है। प्रत्येक वस्तु इसको पाने के लिये विकासोन्मुख है। यह अभेद भेद-बाह्य नही हैं। यह पूर्ण विज्ञान विश्व के पार नहीं है। यह विश्व में ही अनुस्यूत है। प्रत्येक वस्तु इसी से अनुप्राणित है और न्यूनाधिक रूप में इनकी अभिव्यक्ति करती है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध शान्त हो जाता है। अतः समन्वय को 'निषेध का निषेध' या 'विरोध का विरोध' कहते हैं। वस्तुतः सत्ता समन्वय की ही है। पूर्ण विज्ञान पूर्ण समन्वय है। अतः पूर्ण विज्ञान की निरपेक्ष और पूर्ण सत्ता है—'चित् ही सत् है' 'बोध ही सत्ता है।' अन्य सब विज्ञान अपूर्ण समन्वय हैं। अतः उनकी अपूर्ण सत्ता है। अन्य सब विज्ञान पूर्ण विज्ञान की विविध अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं। इन विज्ञानों में तारतम्य

है। जिस विज्ञान में समन्वय की मात्रा जितनी अधिक है, वह उतना ही कम अपूर्ण है, वह पूर्णता को ओर उतना ही अधिक अग्रसर है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध ही दूर होता है, पक्ष और प्रतिपक्ष का विनाश नहीं होता। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों परस्पर अविरुद्ध होकर समन्वय के विशेषण या अंग बन जाते हैं। इस कारण इस विकास में कोई वस्तु पीछे नहीं छूटती, किसी वस्तु का नाश नहीं होता, किसी वस्तु का निराकरण या अपलाप नहीं होता। पक्ष और प्रतिपक्ष में जो विरोधरूपी दोष था, उस दोष का ही निराकरण होता है। पक्ष और प्रतिपक्ष, अपना स्वरूप छोड़कर और समन्वय के विशेषण बन कर उसके उन्नत स्वरूप के अंग बन जाते हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष के समस्त गुण समन्वय के गुणों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार इस विकास में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। पूर्ण विज्ञान में समस्त विश्व के गुण विद्यमान हैं। यह "अशेषकल्याणगुणसम्पन्न" है।

दर्शनशास्त्र विज्ञान की इस यात्रा का इतिहास है। विज्ञान की प्रगति "रिक्त सत्" (Bare Affirmation) से प्रारम्भ होकर 'असत् (Negation) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, सदसत् में व्याप्त रहते हुए भी सदसत्-विलक्षण 'पूर्ण सत्' (Reaffirmation) की ओर होती है, 'मण्डन' (Construction) से प्रारम्भ होकर 'खण्डन' (Destruction) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, मण्डन-खण्डन में व्याप्त रहते हुए भी उनसे विलक्षण 'पुनर्मण्डन' (Reconstruction) की ओर होती है, 'अमूर्त सामान्य' (Abstract Universal) से प्रारम्भ होकर 'विशेषों (Particular) में होती हुई और उन्हें भी अपने साथ लेती हुई, सामान्य-विशेष में व्याप्त रहते हुए भी उनसे विलक्षण 'मूर्त सामान्य' (Concrete Universal) या 'पूर्ण व्यक्तित्व' (Individual) की ओर होती है, 'अपरोक्ष इन्द्रियानुभूति' (Immediacy) से प्रारम्भ होकर 'बुद्धि-विकल्पों' (Mediacy) में होती हुई और उन्हें भी अपने साथ लेती हुई, दोनों में व्याप्त और दोनों से विलक्षण 'स्वानुभूति' (Self Mediation) की ओर होती है, 'अभेद या अद्वैत' (Unity) से प्रारम्भ होकर 'भेद या द्वैत' (Difference) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, भेदाभेद या द्वैताद्वैत में व्याप्त रहते हुए भी उनसे विलक्षण भेदान्तर्यामी अभेद या विशिष्टाद्वैत (Unity-in-Difference) की ओर होती है। स्पष्ट है कि विज्ञान की प्रगति पक्ष से प्रारम्भ होकर प्रतिपक्ष में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में व्याप्त रहते हुए भी दोनों से विलक्षण एक अद्वितीय समन्वय की ओर होती है। विरोध, निषेध या भेद कोई भयानक या अवांछनीय वस्तु नहीं है। यह तो विश्व का प्राण है। किन्तु विरोध तत्व का स्वरूप नहीं है। अतः इसका समाधान भी अवश्य होना चाहिए। यह समाधान होता है समन्वय में। समन्वय विरोध का ही बोध करता है, पक्ष और प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं करता।

और न समन्वय पक्ष और प्रतिपक्ष का योगमात्र है। वह दोनों से विलक्षण नई वस्तु है। उदाहरण के लिए, अंडे से पक्षी उत्पन्न होता है और एक शिशु बालक होकर युवक बनता है। अडा पक्ष है; अंडे के भीतरी भाग का धीरे-धीरे लोप होना प्रतिपक्ष है, अंडे में से पक्षी निकलना समन्वय है। शैशव पक्ष है, बाल्यावस्था प्रतिपक्ष है; युवावस्था समन्वय है। अब क्या यह कथन सत्य होगा कि पक्षी ने अंडे और उसके भीतरी भाग का नाश कर दिया या युवावस्था ने शैशव और बाल्यावस्था का नाश कर दिया। क्या पक्षी में अडा और उसका भीतरी भाग तथा युवावस्था में शैशव और बाल्यावस्था प्रकट और विकसित रूप में विद्यमान नहीं है? और क्या अंडे और उसके भीतरी भाग में पक्षी तथा शैशव और बाल्यावस्था में युवावस्था गुप्त और अविकसित रूप में विद्यमान नहीं है? विज्ञान के विकास मे कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। वह विकसित वस्तु का अग बनती है। समन्वय में वक्ष और प्रतिपक्ष अपने विरोध को छोडकर प्रकट और उत्कृष्ट रूप में विद्यमान रहते हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों मिलकर समन्वय के रूप में विकसित होते हैं। और यह विकास तभी संभव हो सकता है जब समन्वय, पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में अन्तर्निहित हो। अतः सयन्वय भी पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में गुप्त रूप से अनुगत रहता है। विकास का अर्थ है इस गुप्त शक्ति को प्रकट रूप देना। यह प्रकट रूप 'विरोध' और फिर 'विरोध के विरोध' द्वारा संभव होता है। समस्त विश्व में निरपेक्ष विज्ञान गुप्त रूप से अन्तर्निहित है। विश्व के विकास का अर्थ इस गुप्त की प्रकट करना, इस गुप्त शक्ति को जाग्रत करना, अपने विस्मृत स्वरूप को प्राप्त करना है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि हेगल ने तर्क के 'विरोध-नियम' को तिलाञ्जलि दे दी है। किन्तु यह आक्षेप मिथ्या है। यह सत्य है, जैसे हम ऊपर बता चुके हैं कि हेगल को 'विरोध-नियम' उस रूप में स्वीकार नहीं है जिस रूप में तर्क-शास्त्री उसे मानते चले आ रहे थे। हेगल का तर्क अमूर्त विज्ञानों का तर्क नहीं है, वह मूर्त विज्ञानों का तर्क है। हेगल के अनुसार वस्तु-जगत् में आत्यन्तिक विरोध असम्भव है। विरोध का असली अर्थ है भेद! भेद सदा अभेद पर आश्रित रहता है। भेद गौण है और अभेद के विशेषण के रूप में ही उसकी सत्ता से। अतः विरोध भी गौण है। वह केवल साधन रूप है। साध्य है विशिष्टाद्वैतरूप समन्वय। विरोधनियम को मानने के कारण ही हेगल के दर्शन में समन्वय की आवश्यकता होती है। विज्ञान इतना आशक्त नहीं कि वह विरोध-जाल से स्वयं को मुक्त न कर सके। विरोध प्रगति का आवश्यक साधन है, किन्तु है साधन ही, साध्य नहीं। तत्व का स्वरूप विरोध नहीं। अतः इस विरोध का अतिक्रमण करने की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति समन्वय करता है। समन्वय विरोध का 'विरोध' या 'निषेध का निषेध' या 'भेद विशिष्ट अभेद' है। विरोध रहता अवश्य है किन्तु उसका विषैला

डंक निकाल दिया जाता है। भेद की सत्ता अवश्य है किन्तु वह अभेद के विशेषण के रूप में ही। द्वितीय, यह भी स्मरणीय है कि इस विरोध में शक्ति निरपेक्ष विज्ञान से ही आती है। निरपेक्ष विज्ञान समस्त विश्व में गुप्त रूप से अन्तर्निहित है। विकास का अर्थ इस गुप्त स्वरूप को प्रकट करना है। निपेक्ष विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सब विज्ञान अपूर्ण हैं। यह अपूर्ण ही भेद का मूल है। जब अपूर्ण विज्ञान को भ्रमवश पूर्ण मान लिया जाता है, तो उसकी अपूर्णता बलात् फट पड़ती हैं और उसमें से ही उसका विरोध उपस्थित हो जाता है। अत: अपूर्णता:निष्ठ विरोध में शक्ति पूर्ण-विज्ञान से ही आती है, विरोध में स्वयं शक्ति नहीं है। तृतीय, इस विरोध के कारण किसी वस्तु का निराकरण या अपलाप नहीं होता। विकास में कोई वस्तु परित्यक्त नहीं होती। उसको उत्कृष्ट बनाकर समन्वय मे संगृहीत कर लिया जाता है। प्रत्येक वस्तु में यह शक्ति हैं कि वह अपने विरोधी को उत्पन्न करके फिर उसे आत्मसात् कर ले। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों विशेषण रूप से विद्यमान रहते हैं। विरोध विकास का आवश्यक साधन है। अतः यह कथन कि हेगल को विरोध को विरोध,नियम मान्य था, दु:साहस मात्र है।

हेगल के अनुसार निरपेक्ष विज्ञान पहले अमूर्त विज्ञान के रूप में प्रतीत होता है, फिर बाह्य विज्ञान या प्रकृति के रूप में और फिर समन्वयात्मक मूर्त विज्ञान या आत्म-तत्व के रूप में। इन तीनों अर्थात् अमूर्त विज्ञान, बाह्य विज्ञान और मूर्त-विज्ञान के आधार पर हेगल के दर्शन के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड 'तर्कशास्त्र' (Logic) है जो अमूर्त-विज्ञान का अध्ययन करता है। द्वितीय खण्ड 'प्रकृति-विज्ञान' (Philosophy of Nature) है जो बाह्य-विज्ञान का अध्ययन करता है। तृतीय खण्ड 'आत्म-विज्ञान' (Philosophy of Spirit) है, जो मूर्त-विज्ञान का अध्ययन करता है। अब हम इन तीनों खण्डों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

तर्कशास्त्र का विषय है अमूर्त-विज्ञान। अमूर्त विज्ञान से तात्पर्य है सृष्टि के पूर्ण निरपेक्ष विज्ञान की स्थिति से। विज्ञान और वस्तु में, चित् और सत् में, बोध और सत्ता में कोई अन्तर नहीं। अत: विज्ञान का अध्ययन वस्तुजगत् का अध्ययन है, क्योंकि विज्ञान के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं। हेगल का त्रिक-नियम सर्वत्र चलता है। अमूर्त विज्ञान (Logical Idea) के तीन मुख्य रूप हैं—सत्ता (Being) स्वरूप (Essence) और विज्ञान (Notion)। सत्ता पक्ष है, स्वरूप प्रतिपक्ष है, विज्ञान समन्वय है। सत्ता के भी तीन रूप हैं—गुण (Quality), परिमाण (Quantity) और मात्रा (Measure), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। स्वरूप के भी तीन रूप हैं—अधिष्ठान (Ground), प्रतीति (Appearance) और वास्तविकता (Actuality)। वास्तविकता के भी तीन रूप हैं—द्रव्य-गुणभाव, कार्य-कारण-भाव और अन्योन्यभाव। विज्ञान के भी तीन रूप हैं—आत्मगत विज्ञान

(Subjective Notion), विषय गत विज्ञान (Objective Notion) और निरपेक्ष विज्ञान (Idea), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय रूप है।

हेगल के विज्ञानो से निर्मित इस विशाल दार्शनिक प्रसाद के सूक्ष्म निरीक्षण के चक्कर में न पड़कर हम मुख्य विषयों का ही वर्णन करेंगे। हेगल के त्रिकनियम की सार्वपनथीता अबाध है। विज्ञान की मात्रा में यह सर्वत्रलागू होता है, क्योंकि विकास का आधार यह द्वन्द्वमूलक समन्वय ही है। उदाहरण के लिये 'सत्ता' को ले लें। सत्ताकी धारण से ही हमारे ज्ञान का आरम्भ होता है ! यह अत्यन्त व्यापक धारणा है। इससे कोई वस्तु नहीं बचती। जिस वस्तु का भी हम विचार करते है उसकी सत्ता कम-से-कम हमारे ज्ञान में तो है ही। 'असत्' की भी, कम-से-कम विचार के रूप में ही, सत्ता है। सत्ता की धारणा सबसे व्यापक सामान्य हैं। सत्ता परम अमूर्त विज्ञान है किन्तु साथ ही 'शुद्ध सत्ता' से कोई अर्थ भी नहीं निकलता। शुद्ध सत्ता निर्विशेष है और निर्विशेष का ज्ञान नहीं होता। अतः केवल सत्ता से हमें किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। 'अमुक वस्तु है' इस कथनमात्र से उस वस्तु के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं होता। किसी वस्तु के धर्म या गुण या विशेष जाने बिना उस वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं। अतः 'अस्ति' में से 'नास्ति' निकल आता है। किसी वस्तु के लिए केवल 'अस्ति' शब्द का प्रयोग, उस वस्तु के ज्ञान की दृष्टि से, उतना ही निरर्थक है जितना उसके लिये 'नास्ति' शब्द का प्रयोग। हेगल की प्रसिद्ध उक्ति है—'शुद्ध सत् शुद्ध असत् हैं' अर्थात् शुद्ध सत्ता और शुद्ध शून्य में कोई भेद नहीं, क्योंकि दोनों निर्विशेष है।[1] 'अस्ति' (Being) पक्ष है, नास्ति (Non-Being) प्रतिपक्ष है। दोनों अपूर्ण है। दोनों का विरोध मिटाने के लिए इनका समन्वय आवश्यक है। अह समन्वय है—'परिणति' (Becoming)। परिणति या परिणाम में अस्ति और नास्ति दोनों का समावेश हो जाता है। परिणाम के लिए एक अपरिणामी अधिष्ठान की आवश्यकता है, यह अधिष्ठान 'सत्' या 'अस्ति'-रूप है। किन्तु विश्व में कोई वस्तु स्थिर नहीं, सब परिवर्तनशील हैं। यह परिवर्तन होता है धर्मों या गुणों में या पर्यायों में। अतः पर्यायरूप में वस्तु 'नास्ति'-रूप या 'असत् है।[2] इस प्रकार 'परिणति', 'अस्ति', और 'नास्ति' दोनों का समन्वय है। दानों इसमें विकसित हुए हैं। हेगल के दर्शन का यह प्रथम त्रिक है। अन्तिम त्रिक है—आत्मगत विज्ञान या जीव (पक्ष), विषयगत विज्ञान या प्रकृति (प्रतिपक्ष) और निरपेक्ष विज्ञान या विशुद्ध आत्मतत्व (समन्वय)। यह निरपेक्ष विज्ञान कभी पक्ष नहीं बनता, क्योंकि यह पूर्ण है। 'शुद्ध सत्' से लेकर इस निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान' तक जितने भी विज्ञान हैं वे सब सृष्टि के वास्तविक पदार्थ

---

१. सविशेषब्रह्मवादी वेदान्तियों ने भी निर्विशेष ब्रह्म और निर्विशेष शून्य को एक-सा बताया है।

२. जैनों का स्याद्वाद। वस्तु द्रव्यरूप में सत् और पर्यायरूप में असत् है।

हैं और इस पूर्ण विज्ञान को पाने के लिए निरन्तर विकासोन्मुख हैं। इन विज्ञानों (Categories) में उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य है; क्योंकि ये सब समन्वयात्मक पूर्ण (Absolute) को विविध रूपों में अभिव्यक्त करते हैं।

हेगल ने हमारे ज्ञान के तीन स्तर माने हैं। प्रथम स्तर है साधारण ज्ञान का, जिससे हम विश्व की वस्तुओं को अलग-अलग देखते हैं। यह इंन्द्रिय-संवेदन-जन्य ज्ञान का स्तर है। द्वितीय स्तर है वैज्ञानिक ज्ञान का जिसमें हम वस्तुओं के व्यापक नियमों की खोज करते हैं। यह स्तर सविकल्प बुद्धि का है। तृतीय और सर्वोच्च स्तर दार्शनिक ज्ञान का, जिसमें वस्तुओं को विज्ञानों के रूप में अर्थात् अन्तर्यामी समन्वयात्मक पूर्ण विज्ञान की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में देखा जाता है। यह प्रज्ञा का स्तर है। यह परमतत्व के दर्शन का स्तर है।

हेगल के दर्शन का द्वितीय खण्ड है प्रकृति-विज्ञान। प्रकृति वस्तुतः विज्ञान से भिन्न नहीं हैं। वह विज्ञान का ही बाह्य रूप है। विज्ञान बाह्य रूप में क्यों प्रतीत होत है ? इस प्रश्न का उत्तर है—मूर्त विज्ञान या समन्वयात्मक आत्म-तत्व बनने के लिये। विज्ञान इतना अशक्त नहीं कि वह अपमे अमूर्त रूप में ही रहे। वह बाह्य प्रकृति का रूप भी लेता है ताकि वह विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत से ऊपर उठकर अपने समन्वयात्मक आत्मरूप का साक्षात् कर सके। अमूर्त विज्ञान इसलिये बाह्य विज्ञान बनता है कि उसके द्वारा वह मूर्त विज्ञान बन सके। विज्ञान इसलिये बाहर जाता है कि वह उत्कृष्ट होकर भीतर लौटे। जो व्यक्ति विदेश घूम आता है वह अपने को और अच्छी तरह जान लेता है।

प्रकृति में भी द्वन्द्व-मूलक समन्वय है। प्रकृत के तीन रूप हैं—जड़रूप, रासायनिकरूप और प्राणरूप, जो क्रमशः पक्ष, परिपक्ष और समन्वय हैं। जड़रूप सन्मात्र है। उससे गति उत्पन्न होती है, जैसे सत्ता से परिणाम होता है। जड़ रूप में यान्त्रिकता का साम्राज्य है। इस रूप में चैतन्य पूर्णतया सुप्त है। धीरे-धीरे चैतन्य या विज्ञान का स्फुरण होने लगता है और जड़रूप रासायनिक रूप में विकसित होता है। इस रूप में गुण-गत भेद उत्पन्न होते हैं। इससे पहले जड़रूप में केवल परिणाम भेद थे। अब प्रकाश, ताप, विद्युत आदि शक्तियों का आविर्भाव होता है। जड़रूप और रासायनिक रूप का समन्वय होता है प्राणरूप में। अब वनस्पति-सृष्टि का विकास होता है। फिर वनस्पति-सृष्टि से पशु-सृष्टि का विकास होता है। पशुजगत् में प्राण के साथ-साथ संवेदन शक्ति का भी आविर्भाव होता है और विज्ञान के आविर्भाव का मार्ग तैयार हो जाता है। पशु जगत् का सर्वोच्च रूप मानव-शरीर है। वहाँ प्रकृति का विकास पूर्ण हो जाता है और चित्-शक्ति का विकास प्रारम्भ होता है।

अब हम हेगल के दर्शन के तृतीय खण्ड पर आते हैं। यह आत्म-विज्ञान यह चित-शक्ति का जगत् है। चित्-शक्ति के तीन रूप हैं—विषयि विज्ञान, विषय-

विज्ञान और निरपेक्ष-विज्ञान। चित्-शक्ति का विकास-मानव-जीवन के विकास का इतिहास है। अमूर्तविज्ञान प्रकृति-विज्ञान को साथ लेकर मूर्तविज्ञान के रूप में विकसित होता है। आत्मा मानवशरीर में अधिष्ठित रह कर किस प्रकार निरपेक्ष विज्ञान की ओर विकसित होती है, यह इस आत्म-विज्ञान का विषय है। यह मानव की संस्कृति और सभ्यता का क्रमिक विकास है।

पहले विषयि-विज्ञान (Subjective spirit) पर विचार करें। यह विज्ञान का जीवनिष्ठ रूप है। मानव के व्यक्तित्व में चेतना और स्वतन्त्रता अर्थात् ज्ञान और संकल्प मुख्य है। जीव ज्ञाता है और संकल्प-सृष्टि में स्वतन्त्र है। यह शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उनके फलो का भोक्ता है। अपने सकल्प के अनुरूप सृष्टि का निर्माण करने का उसमे सामर्थ्य है। किन्तु सृष्टि के आदि काल में मानव की चित्-शक्ति और संकल्प-शक्ति विकसित नही थी। उस समय सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) और मनोवेग (Emotions) मानव पर शासन करते थे। फलत: व्यक्तिगत जीव की मुख्य-सुविधा मानव का एकमात्र लक्ष्य थी। जैसे-जैसे चित्-शक्ति का विकास होता गया, वैसे-वैसे ही मानव के अन्य व्यक्तियों की चेतना और स्वतन्त्रता स्वीकार की। इस प्रकार व्यक्ति-चैतन्य से समाज-चैतन्य का विकास हुआ।

विषय-विज्ञान (Objective spirit) का अर्थ है समाज-चैतन्य या समष्टि-चैतन्य। इस चैतन्य के कारण अधिकार और कर्तव्य की धारणाओं का विकास हुआ। इन धारणाओं पर सामाजिक नियम आश्रित हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता का अधिकार है। इस अधिकार से मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। समष्टि चैतन्य के तीन रूप ये हैं—अधिकार (Right), नैतिक चेतना (Morality) और सामाजिक संस्थायें (Social Institutions), जो क्रमश: पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। अधिकार की भावना से सम्पत्ति-रक्षा और उसका आदान-प्रदान तथा अपराधों के लिए दण्डनीति का प्रादुर्भाव होता है। अधिकार भावना के बाद सदसद्विवेकबुद्धि का उदय होता है और उसके कारण नैतिक चेतना जाग्रत होती है। इस नैतिक चेतना के कारण व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व का समन्वय होता है। किन्तु नैतिक चेतना का पूर्ण विकास तब होता है जब उसके अनुरूप सामाजिक संस्थाओं का भी विकास हो। ये संस्थाएँ हैं—परिवार, नागरिक-समाज और राज्यतन्त्र। विवाह-निर्मित परिवार के बिना समाज और समाज के बिना राज्यतन्त्र सम्भव नहीं। परिवार की स्थिति समाज के लिए और समाज की स्थिति राज्य के लिए है। समाज का लक्ष्य व्यक्तियों का सुख है और राज्य का लक्ष्य निरपेक्ष-विज्ञान का आत्म-लाभ। इस आदर्श के लिए राज्य व्यक्तिगत लाभ का बलिदान कर सकता है। प्रजातन्त्र की अपेक्षा राज-तन्त्र अधिक उत्तम है। उन्नत समाजों और उन्नत राज्यों को अधिकार है कि वे कम उन्नत समाजों और राज्यों को अपने अधिकार में ले लें।

मानव-जाति का इतिहास असम्बद्ध घटनाओं का समूह नहीं है। वह सभ्यता और संस्कृति के क्रमिक विकास का इतिहास है। इतिहास में भी द्वन्द्वनियम का शासन है। इतिहास का विकास आदर्श परिवार, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की ओर है। आदर्श राज्य, आदर्श होने के कारण, सर्वत्र है और कहीं नहीं है। विभिन्न ऐतिहासिक राज्य इस आदर्श राज्य की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति हैं। पूर्ववर्ती सभ्यता और संस्कृति पूर्ववर्ती सभ्यता और संस्कृति से अधिक उन्नत होती है। सभ्यता और संस्कृति का नेतृत्व अवनत जातियों से उन्नत जातियों के हाथों में जाता रहता है। विभिन्न राज्यों के संघर्ष और युद्ध वस्तुतः विचारों या आदर्शों के संघर्ष हैं। तोपों के पीछे विचारों का युद्ध रहता है। हेगल अपने समय के जर्मन राज्य को सबसे अधिक विकसित राज्य मानते थे। एशिया के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े क्षुद्र थे।

चित्-शक्ति का विकास आदर्श राज्य मे जाकर समाप्त नहीं हो जाता आदर्श राज्य में भी नियन्त्रण रहता है। पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Spirit) में होती है। इस निरपेक्ष विज्ञान के तीन रूप हैं—कला, धर्म और दर्शन। कला निरपेक्ष विज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है। कलाओं में वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत और काव्य आते है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। वास्तु-कला, मूर्ति-कला और चित्र-कला वस्तु-निष्ठ है और संगीत तथा काव्य आत्म-निष्ठ : कला पक्ष है, संगीत प्रतिपक्ष, और काव्य समन्वय। काव्य कला का सर्वोच्च रूप है। काव्य का बाल्यकाल महाकाव्य में, वयःसन्धि गीति काव्य में और यौवन नाटक में अभिव्यक्त होता है। नाटक काव्य का सर्वोच्च रूप है।[1]

कला के ऊपर धर्म का स्थान है। कलात्मक अनुभूति का सर्वोच्च रूप धार्मिक अनुभूति है। धर्म के मुख्य तत्व हैं—ईश्वर, जीव और उनका सम्बन्ध। पूर्वी धर्मों में ईश्वर का प्राधान्य है, यूनानी धर्म में जीव का प्राधान्य है, ईसाई धर्म में ईश्वर और जीव का समन्वय ईसामसीह के रूप में हुआ है। अतः ईसाई धर्म सर्वोत्तम है।

धर्म के ऊपर दर्शन का स्थान है। धर्म रूढ़िवाद से ग्रस्त हो जाता है। दर्शन के चेतना के स्वातन्त्र्य का पूर्ण विकास होता है। कला और धर्म में कल्पना प्रधान रहती है, दर्शन में विज्ञान का प्राधान्य है। कला पक्ष है, धर्म प्रतिपक्ष है, दर्शन के विकास में भी द्वन्द्वनियम लागू रहा है। दर्शन का उत्तरोत्तर विकास होता गया और हेगल के अनुसार उनके दर्शन में परम तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

हेगल का यह निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान समन्वय की चरम सीमा है। यह स्वयं पक्ष नहीं बनता; क्योंकि यह पूर्ण है। यह पूर्ण स्व-चेतन है। इसमें विषयी और विषय का ज्ञाता और ज्ञेय का, जीव और जगत् का द्वैत परस्पर-विरोध के रूप मे नहीं

१. काव्येषु नाटकं रम्यम्।

रहता है। यह द्वैत इसके स्वरूप-भूत अद्वैत का विशेषण बन कर रहता है। यह पूर्ण विशिष्टाद्वैत रूप है। विश्व के समस्त पदार्थों मे यह अन्तर्यामी है। समस्त विश्व इसका शरीर है, यह विश्व की आत्मा है। यह अवयवी, अंगी, मूर्तसामान्य, समष्टि, पूर्ण व्यक्ति, पूर्ण स्व-चेतन, पूर्ण विशिष्टाद्वैत है। विश्व के समस्त पदार्थ इसके जीवित अवयव या अंग हैं और न्यूनाधिक रूप में इसकी अभिव्यक्ति करते हैं। समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विविध स्तर है और सोपानावत् क्रमबद्ध हैं। निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों में अन्तर्यामी है। यह उनको अनुप्राणित करता है। यह उनकी गति, प्रगति, क्रिया, जीवन, वृद्धि, विकास का कारण है। निरपेक्ष विज्ञान स्वयं विश्व-विकास रूप हैं। यह स्थिर और अगतिशील नहीं है। यह जीवित तत्व है। स्वय प्रगतिरूप होते हुए भी यह समस्त प्रगति का मूल स्रोत है। यह सब विज्ञानों का समुदायमात्र नहीं है। ऐसा होता तो यह भी सापेक्ष हो जाता। यह पूर्ण और निरपेक्ष है और सब विज्ञानों का अन्तर्यामी आत्मा है। यह सब विज्ञानों का आदर्श है। प्रत्येक विज्ञान इसकी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। यह विज्ञानों में ही है, विज्ञानों से ऊपर या भिन्न नही है। जीव और जगत रूप समस्त विश्व इस पूर्ण विज्ञान के अन्तर्गत है। कोई वस्तु इससे भिन्न या पृथक् नहीं। समस्त विज्ञान इसके विशेषण या अंग है। सापेक्ष विज्ञानों में और इस निरपेक्ष विज्ञान में जीवित सम्बन्ध है। समस्त विज्ञान इससे पृथक् सिद्ध नही होते, अतः वे अपृथक्-सिद्ध कहलाते है। उनकी सत्ता निरपेक्ष विज्ञान के कारण ही है, उससे पृथक् नही। जीव और जगत् का द्वैत स्वचेतन की पूर्णता में समाविष्ट हो जाता है। समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान में प्रकट और उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है, और यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों में गुप्त रूप से अनुस्यूत है। विकास का अर्थ इस गुप्त स्वरूप को प्रकट रूप में व्याप्त करना है। समस्त भेद इस निरपेक्ष विज्ञान के अन्तर्गत हैं, इससे बाह्य नहीं। स्वचेतन में ज्ञाता और ज्ञय का, विषयी और विषय का, जीव और जगत् का पूर्ण ऐक्य हो जाता है। फिर भी भेद नष्ट नहीं होता, क्योंकि इस विकास में कोई वस्तु पीछे नहीं छूटती। भेद विशेषण रूप से विद्यमान रह कर इस अभेद को ही पुष्ट करता है। जो स्वरूप विज्ञानों में अपूर्णरूप से विद्यमानहै, वही स्वरूप इस निरपेक्ष विज्ञानमें अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। अतः यह निरपेक्ष विज्ञानसमस्त विश्व का आत्म-लाभ है। विश्व के प्रत्येक अणु-अणु में इसकी ज्योति प्रकाशित हो रही है। यह स्वप्रकाश है और समस्त विश्व को प्रकाशित करता है। किसी भी अपूर्ण वस्तु को पूर्ण मानते ही उनकी अपूर्णता फट पड़ती हैं और उसमें से उसका विरोधी निकल पड़ता है। पक्ष और प्रतिपक्ष के विरोध को शान्त करने के लिए समन्वय की आवश्यकता होती है। किन्तु यह समन्वय भी अपूर्ण होने के कारण फिर पक्ष बन जाता है और अपने प्रतिपक्ष का जन्म देता है। फिर समन्वय की आवश्यकता होती है और इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहता है

जब तक हम निरपेक्ष विज्ञान पर नहीं पहुँच जाते। निरपेक्ष विज्ञान पूर्ण समन्वयात्मक होने के कारण फिर पक्ष नहीं बनता।

पार्मेनाइडीज का परम तत्व सन्मात्र होने के कारण शून्यवत् था। वह स्थिर और प्रगतिरहित स्थाणुवत् था। हेरेक्लाइटस ने केवल परिवर्तन और भेद को स्वीकार किया वे यह भूल गये कि परिवर्तन और भेद के लिये अपरिणामी तत्व और अभेद की अपेक्षा रहती है। प्लेटो और एरिस्टाटल ने 'भेद में अनुस्यूत अभेद' की कल्पना तो की, किन्तु वे इसका सफल प्रतिपादन नही कर सके। प्लेटो का परमार्थ 'पर' हो गया और एरिस्टाटल का दर्शन द्वैतवाद में फँस गया। स्पिनोजा का निर्विशेष परम तत्व "सिंह की गुहा के समान है जिसमें पशुओं के अन्दर जाने के पद चिह्न तो दिखाई देते है, किन्तु बाहर जाने के नहीं। यह परम तत्व समस्त विश्व का भक्षण कर जाता है; इनमें भेद और प्रपञ्च को कोई स्थान प्राप्त नहीं। लाइबनित्ज ने विकासशील विज्ञानवाद को तो अपनाया, किन्तु परमार्थ का अखण्डः करके बिखेर दिया। प्रत्येक चिदणु अपनी सीमा में ही पूर्ण मान लिया गया और गुण-गत भेद का निराकरण करने से चिदणुओं की अपनी कोई विशेषता न रह सकी। इसके पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक विवेचन नहीं हो सका। लॉक बर्कले और ह्यूम के इन्द्रियानुभववाद ने विज्ञानों को प्रतिबिम्ब मात्र मान कर क्रमश. अज्ञयवाद, दृष्टिसृष्टिवाद और सन्देहवाद की शरण ली। कान्ट ने बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के संघर्ष को मिटा दिया, किन्तु वे स्वयं द्वैतवाद और अज्ञयवाद के पंजे में फँस गये। प्रज्ञा को उन्होंने नियामक मात्र मानकर इन्द्रिय -संवेदन से बाँध दिया। सम्वेदन भी वस्तुतः विज्ञान के ही क्षीण रूप हैं। प्रज्ञा द्वन्द्वात्मक विरोधों को जन्म देती हैं, किन्तु प्रज्ञा ने इन विरोधों का समन्वय करने की भी शक्ति है। कान्ट इस समन्वय-शक्ति को भूल गये। उनके बुद्धि विकल्प खोखले साँचे ही रह गये, जब कि वास्तव में वे विज्ञानविकास के विविध स्तर हैं। फिक्टे अपने नैतिकवाद में ही मस्त रहे और प्रकृति को बाधा मानकर उस पर विजय प्राप्त करना ही मानव की संकल्प-शक्ति का ध्येय मान लिया। शेलिंग का निर्विशेष परम तत्व "उस काल रात्रि के समान है जिसमें सब गायें काली दिखाई देती है" इनमें भेद को कोई स्थान नहीं। हेगल के अनुसार उनका दर्शन इन सब कमियों को दूर करता है और इन सब विरोधी मतों का पूर्ण समन्वय है।

निरपेक्ष विज्ञान पहले अमूर्त विज्ञान रूप में प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञान (Idea-in-itself) ज्ञाता जीव का समिष्टरूप है। यह अपूर्ण है और ज्ञय विषय की ओर इगित करता है। तब यह बाह्य प्रकृति का रूप लेता हैं (Idea-outside-itself) जो विषय, जगत् का समिष्टरूप है। पहले इसकी प्रतीति जड़ के रूप में होती है। फिर वनस्पति जगत् के रूप में इसमें प्राणशक्ति का स्फुरण होता है और पशु-जगत् में प्राणशक्ति-सम्वेदन-शक्ति का रूप लेती है तथा विज्ञान के किनारे तक पहुँच जाती

है। तब अमूर्त विज्ञान और बाह्य-विज्ञान का समन्वय स्व-चेतन विज्ञान या मूर्तिविज्ञान या आत्म-तत्व (Idea-in-and for itself) के रूप में प्रारम्भ होता है। इस समय चेतना और स्वतन्त्रता का विकास होता है। यह विकास मानव-सभ्यता और संस्कृति में प्रतिफलित होता है। विज्ञान का द्वन्द्वमूलक समन्वय इतिहास में भी लागू होता है। विज्ञान का विकास अधिकार-रक्षा, नैतिक चेतना और सामाजिक संस्थाओं के रूप में होता है। सामाजिक संस्थाएँ परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में विकसित होती हैं। फिर कला, धर्म और दर्शन का विकास होता है। दर्शन इस निरपेक्ष-पूर्ण विज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति है। दर्शन आत्म-विज्ञान है और आत्मा जीव तथा प्रकृति का समन्वय है। प्रकृति में इतनी शक्ति नहीं कि विज्ञान के विकास को रोक सके; उसे विज्ञान के आगे आत्म- समर्पण करना पड़ता है और विज्ञानभोग्या बनकर वह कृतार्थ होती है। जब विज्ञान प्रकृति का आलिंगन करके अपने समन्वयात्मक स्वरूप की ओर लौटता है, तो वह मूर्त विज्ञान बन जाता है। यह वह अमूर्त विज्ञान नहीं रहता जिसने इस विकास यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। यह अब समन्वयात्मक स्व-चेतन विज्ञान है। इसने आत्मलाभ कर लिया है। वह निरपेक्ष पूर्ण-विज्ञान है। अमूर्त विज्ञान बालक के समान था। मूर्त विज्ञान वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध पुरुष के समान हैं। बालक और वृद्ध एक ही सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करे, तो भी उस प्रतिपादन में भारी अन्तर है। बालक उस सत्य का उच्चारण मात्र करता है। उसने उस सत्य के वास्तविक अर्थ को अनुभूत नहीं किया है किन्तु जब वृद्ध उस सत्य का प्रतिपादन करता है तो उसमें जीवन भर का अनुभव उसमें अन्तर्निहित होता है। इसी प्रकार समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान की अपने तुतले शब्दों में अपूर्ण अभिव्यक्त करते हैं और यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

यह हेगल के दर्शन का सार है। हेगल का प्रभाव प्रत्येक परवर्ती पाश्चात्य दार्शनिक पर किसी न किसी रूप में पड़ा है। हेगल के बाद का पाश्चात्य दर्शन हेगल का खण्डन या मण्डन किए बिना आगे नहीं सरक पाया है। इस प्रभाव को बताने के लिए सारे समसाम्यिक पाश्चात्य दर्शन का वर्णन करना होगा, जो यहाँ वाक्य नहीं। सम-सामयिक पाश्चात्य दर्शन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है।

हेगल का प्रभाव पाश्चात्य दर्शन के ज्ञाता कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा भारतीय दर्शन में भी घसीट लिया गया है। हेगल के निरपेक्ष विज्ञान की तुलना शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के ब्रह्म से प्रायः की जाती है। अतः इस विषय का स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो गया है। यह सत्य है कि शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के कुछ सिद्धान्तों से हेगल सहमत हैं, किन्तु इसमें मार्मिक मतभेद भी हैं जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वयं हेगल को भारतीय दर्शन का कोई ज्ञान नहीं था। एशिया भर की सभ्यता, संस्कृति और कला, धर्म एवं दर्शन को हेगल हीन दृष्टि से देखते थे और

इस विषय में उनके विचार क्षुद्र ही नहीं, हास्यास्पद भी हैं। शांकरवेदान्त, रामानुज-वेदान्त और हैगलिक दर्शन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की समानता और विभिन्नता का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जाता है।

हेगल परम तत्व को निरपेक्षपूर्णविज्ञानरूप मानने में और जीव-जगत् रूपी समस्त विश्व को इस पूर्ण विज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र मानने में शंकराचार्य से सहमत हैं। किन्तु इस अभिव्यक्ति को हेगल विवर्त मात्र नही मानते। विश्व अविद्या या माया का प्रपञ्चमात्र नहीं है। हेगल रामानुजाचार्य से इस विषय में सहमत है कि अविद्या परमतत्व के विकास की असली शक्ति है, कि परम तत्व निर्विशेष नहीं हैं, कि निर्विशेष का कोई ज्ञान नहीं हो सकता, कि सन्मात्र शून्यवत् है, कि जीव-जगत्-रूप या चिदचिद्रूप अखिल विश्व परम तत्व का विशेषण है, कि भेद अभेद के आश्रय पर टिकता है, कि भेद गौण होता है और अभेद-मुख्य, कि परम पूर्ण विशिष्टाद्वैतरूप और अशेषकल्याणगुणराशि है, कि परम तत्व अखिल विश्व में अन्तर्यामी है। कि विश्व शरीर है, अवयव है, अंग है और परम तत्व शरीरी, अवयवी, अंगी या आत्मा है। किन्तु हेगल रामानुजाचार्य के धार्मिक सिद्धान्तों से बिल्कुल सहमत नहीं हो सकते। हेगल परमतत्व को कभी 'पर या 'पुरुषोत्तम' नहीं मान सकते। ईश्वर के प्रसाद या करुणा का महत्व, शक्ति-मार्ग का प्राधान्य, आत्म-निरपेक्ष का महात्म्य, पूरा भक्ति का निर्विकल्प ज्ञान में परिणत होकर मोक्ष का कारण बनना, जगत् को बन्धनस्वरूप मानना, चित् और अचित् में सर्वथा पार्थक्य मानना, अचित् को चित् से भिन्न तत्व मानना, नित्यविभूति और लीलाविभूति का भेद, जीवों में परस्पर भेद आदि सिद्धांत हेगलको सर्वथा अमान्य होते हैं। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों श्रुतिको सर्वोच्च प्रमाण और निर्विकल्प अनुभूति को परम तत्व मानते हैं हेगल मानव-ज्ञान को छोड़कर और कोई प्रमाण नहीं मान सकते। निर्विकल्प अनुभूति के हेगल परम शत्रु हैं। उनके अनुसार "रहस्यमयी निर्विकल्प अनुभूति को स्वीकार करना मानवेतर बनकर मानवता की जड़ों को कुचल देना है।" उनके अनुसार जो दर्शन मानव-ज्ञान के अतिरिक्त अन्य श्रुति आदि को प्रमाण मानता है वह अपनी अशक्ति को स्वीकार करता है। हेगल शकराचार्य के परब्रह्म को भी पार्मेनाडीज्, स्पिनोजा या शेलिंग के परम तत्व के समान काल्पनिक बताकर उसका प्रबल खण्डन करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार हेगल शंकराचार्य के परब्रह्म को भी पार्मेनाइडीज्, स्पिनोजा या शेलिंग के परम तत्व के परम तत्व वास्तविक परमार्थ न होकर मानव-निर्मित या हेगल-कल्पित परमत्व होता। बिना निर्विकल्प अनुभूति को माने तत्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता। स्व-चेतन-और समन्वयात्मक अनुभूति हमारी सविकल्प बुद्धि की सर्वोच्च अनुभूति है, किन्तु यह परम तत्व नहीं है। परम तत्व इसके भी परे हैं। यह विशुद्ध स्वानुभूति का, जिसमें किसी प्रकार के द्वैत-प्रपञ्च का लेशमात्र स्पर्श भी न हो, विषय है। यही वास्तविक

'आत्म-ज्ञान' है। हेगल की 'आत्मा' अविद्यासंवलित जीव है जो विकास के चक्कर में फँस रहा है। इस अविद्या-चक्र से छुटकारा पाने पर ही तत्व का साक्षात् दर्शन हो सकता है। दर्शन इस स्वानुभूति का साधनमात्र है। हेगल इस स्वानुभूति की कल्पना तक नही कर सके।

परिशिष्ट : पारिभाषिक शब्दावली

Absolute	...	निरपेक्ष
Abstract	...	अमूर्त; काल्पनिक
Abstract Idea	...	अमूर्त; काल्पनिक विज्ञान
Aesthetics	...	सौन्दर्य शास्त्र
Affirmative	...	विधिरूप या विधानात्मक
Agnostic	...	अज्ञेयवादी
Agnosticism	...	अज्ञेयवाद
Analysis	...	विश्लेषण; वियोजन
Analytical	...	वियोजक, विश्लेषणात्मक
Anti-thesis	...	प्रतिपक्ष, विपक्ष
Antinomy	...	विरोध
A priori	...	अनुभव-निरपेक्ष; स्वत:सिद्ध
Atheism	...	अनीश्वरवाद
Atomism	...	परमाणुवाद
Attribute	...	गुण; धर्म
Appearance	...	विवर्त; आभास
Category	...	बुद्धि-विकल्प; धारणा
Categorical	...	विधि-रूप
Cause	...	कारण
Causality	...	कार्यकारणभाव
Change	..	परिवर्तन; परिणाम
Character	...	धर्म
Classification	...	वर्गीकरण
Concept	...	विकल्प; धारणा; विज्ञान; प्रत्यय
Conception	...	विज्ञान; प्रत्यय; धारणा; विकल्प
Conceptualism	...	सामान्य-विशिष्ट-व्यक्तिवाद
Conclusion	...	निष्कर्ष
Consciousness	...	चित्-शक्ति; चेतना; चैतन्य; विज्ञान
Conscious	...	चेतन
Contingent	...	अनिश्चित; सम्भावित
Continuity	...	प्रवाह; सन्तान; धारा
Contradiction	...	विरोध
Contradictory	...	आत्यन्तिक विरोधी
Cosmology	...	सृष्टि-विज्ञान

Cosmological Argument ... कार्यकारभावमूलक तर्क
Critical Philosophy ... आलोचनात्मक दर्शन
Critique . परीक्षा
Coherence .. संगति; संवाद; अविसंवाद
Consistency ... संगति; अविरोध
Concrete ... मूर्त; सत्; वास्तविक
Deduction ... निगमन; सामान्यानुमान
Definition ... परिभाषा
Demonstrative ... परोक्षप्रमाणसिद्ध; उपपन्न
Determinism ... नियतवाद
Dialectic ... द्वन्द्वात्मक तर्क; द्वन्द्व-नियम
Dogmatism ... अन्ध-विश्वास
Dualism .. द्वैतवाद
Dynamic ... गत्यात्दक; चल
Degrees ... स्तर
Effect ... कार्य
Efficient Cause ... निमित्त कारण; शक्त कारण
Element . तत्व
Emotion भावावेग; मनोवेग; भावना
Empirical ... इन्द्रियानुभवात्मक
Empiricism ... इन्द्रियानुभववाद
Epistemology ... ज्ञान-मीमांसा
Ethics ... आचार-शास्त्र; नीतिशास्त्र
Evolution .. विकास
Experience ... अनुभव
Existence .. सत्ता, स्वभाव, सत्
Extension ... विस्तार
Extreme ... आत्यन्तिक
Faith ... श्रद्धा; विश्वास
Feeling ... वेदना; सम्वेदन
Final Cause ... लक्ष्य-कारण
Finite ... परिमित; परिच्छिन्न; सीमित; सापेक्ष
Force ... शक्ति
Form ... सामान्य; विज्ञान; स्वरूप

Gnosticism	...	ज्ञेयवाद
Good	...	श्रेय
Harmony	...	एकतन्त्रता; सामञ्जस्य; एकरूपत्ता
Hedonism	...	सुख-वाद
Humanism	...	मानव-वाद
Hypothesis	...	विकल्प
Hypothetical	...	हेतुफलाश्रित
Idea	...	विज्ञान; सामान्य; विचार, प्रत्यय
Idea of the Good	...	विज्ञानस्वरूप शिवतत्व
Idealism	...	विज्ञानवाद
Identity	...	तादात्म्य; सारूप्य
Immanent	...	अन्तर्यामी, अनुस्यूत
Impression	...	इन्द्रिय-संस्कार
Individual	...	व्यक्ति; विशेष; एक
Induction	...	आगमन; विशेषानुमान
Inference	...	अनुमान
Infinite	...	असीम, अपरिमित; अपरिच्छन्न; भूमा
Innate	...	सहज
Instinct	...	मूलप्रवत्ति
Intellect	...	बुद्धि; मति; युक्ति; तर्क, सविकल्प ज्ञान
Introspection	...	स्वसम्वेदन
Intuition	...	प्रज्ञा; अन्तर्बोध; स्वानुभूति; अपरोक्षानुभूति; निर्विकल्पप्रत्यक्ष
Internal Relation	...	अन्तरग सम्बन्ध; आन्तरिक सम्बन्ध
Idols	...	अन्धविश्वास
Judgment	...	न्याय-वाक्य
Knowledge	...	ज्ञान
Logic	...	तर्कशास्त्र; न्यायशास्त्र
Materialism	...	भौतिकवाद; जड़वाद
Matter	...	जड़तत्व; अचित्; पुद्गल; विषय
Mechanical	...	यान्त्रिक
Metaphysics	...	दर्शनशास्त्र; तत्व-शास्त्र
Method	...	पद्धति; प्रणाली
Method of Doubt	...	सन्देह पद्धिति

Mind	...	आत्मा; जीव; बुद्धि
Mode	...	पर्याय; प्रकार
Monad	...	चिदणु
Monism	...	अद्वैतवाद
Moral Sense	...	नैतिक बुद्धि
Motion	...	गति; परिणाम
Mysticism	...	रहस्यवाद
Nature	...	प्रकृति; जगत्; स्वभाव
Necessary	...	अनिवार्य
Nominalism	...	व्यक्तिवाद; नामवाद
Notion	...	अन्तर्बोध; प्रज्ञा, निर्विकल्पानुभूति
Noumenon	...	वस्तु; परमार्थ; सत्; स्वलक्षण
Negation	...	निषेध
Object	...	विषय
Objective	...	वास्तविक, बाह्य
Occasionalism	...	निमित्तवाद
Ontology	...	वस्तु-विज्ञान; तत्व-विज्ञान; तत्वमीमांसा दर्शन
Ontological Argument	...	सत्तामूलक तर्क
Pantheism	...	सर्वेश्वरवाद
Parallelism	...	समानान्तरवाद
Particular	...	व्यक्ति; विशेष; व्यष्टि
Percept	...	सम्वेदन
Perception	...	प्रत्यक्ष
Perceptual Knowledge	...	प्रत्यक्ष-ज्ञान
Petitio Principii	...	सिद्धसाधनदोष; चक्रदोष
Phenomenal	...	दृश्य; विषय व्यावहारिक
Phenomenon	...	दृश्य; जगत्; व्यवहार; प्रतीति-विषय;
	...	सवृति; परतन्त्र; सदसद्विलक्षण
Philosophy	...	दर्शनशास्त्र; तत्वमीमांसा
Physics	...	भौतिक-विज्ञान
Pluralism	...	प्रपञ्चवाद; भेदवाद
Positivism	...	इन्द्रियप्रत्यक्षवाद
Practical	...	व्यावहारिक

Practical Reason ... आचारमूलक ज्ञान
Predicate ... विधेय
Pre-established Harmony ... पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य
Premise ... आधार-वाक्य
Principle of Continuity ... अविच्छिन्नता सिद्धान्त
Primary Qualities ... मूलगुण
Probable ... सम्भावित
Problematic ... सन्दिग्ध
Properties ... धर्म; गुण
Proposition ... न्याय-वाक्य
Psychological ... मनोवैज्ञानिक
Pragmatism ... उपयोगितावाद
Plane ... भूमिका, भूमि
Personality ... व्यक्तित्व
Pure Reason ... शुद्ध ज्ञान
Quality ... धर्म; गुण
Quantity ... परिमाण
Rational ... बौद्धिक, संगत, अविरुद्ध
Rationalism ... बुद्धिवाद
Realism ... वस्तुवाद; यथार्थवाद
Reality ... तत्व; वस्तु; सत्; परमार्थ
Reason ... प्रज्ञा; ज्ञान; हेतु
Reasoning ... तर्क
Reflection ... स्वसम्वेदन; चिन्तन
Relative ... सापेक्ष
Renaissance ... सांस्कृतिक पुनर्जन्म
Rest ... स्थिति
Sceptic ... सन्देहवादी
Scepticism ... सन्देहवाद; संशयवाद
Scholasticism ... शास्त्रीय विचारधारा
Secondary Qualities ... उपगुण
Self, Soul, Spirit ... आत्मा; जीव; जीवात्मा; चित्; चैतन्य
Sensation ... इन्द्रिय-संवेदन; सम्वेदन, वेदना
Sensibility ... सम्वेदना

Self-conscious	...	स्व-चेतन
Sensationism	...	सम्वेदनवाद
Sense Knowledge	...	इन्द्रिय-ज्ञान; प्रत्यक्ष-ज्ञान
Solipsism	...	सर्वाहंवाद
Space	...	आकाश; देश
Sub-conscious	...	उपचेतन
Subject	..	विषयी; ज्ञाता
Subjectivism	...	जीवात्मवाद
Subjective Idealism	...	दृष्टिसृष्टिवाद; जीवसृष्टिविज्ञानवाद
Sufficient Reason	...	यथेष्ट हेतु
Supra rational	...	द्वन्द्वातीय; निर्विकल्प
Substance	...	द्रव्य; तत्व; पदार्थ; सत्
Synthesis	...	संश्लेषण; समन्वय, संयोजन
Synthetic	...	संयोजक
System	...	समष्टि; व्यक्ति; समन्वयात्मक तत्व
Teleology	...	लक्ष्य; उद्देश्य; प्रयोजन
Teleological Argument	...	उद्देश्यमूलक तत्व
Theoretical	...	काल्पनिक, मानसिक
Theory	...	वाद; सिद्धान्त; मत
Thesis	...	पक्ष
Thing-in-itself	...	स्वलक्षण; वस्तुसत्; परमार्थ
Transcendental	...	पर; पार; परे; विकल्पातीत, इन्द्रियानुभवातीत
Transcendental Realism	...	सामान्यवाद
Truth	...	सत्य
Unconscious	...	अचेतन
Understanding	...	बुद्धि; मति; तर्क; सविकल्प ज्ञान
Unique	...	विशिष्ट
Unity	...	एकरूपता; अद्वैत; अभेद
Universal	...	सार्वभौम; निश्चयात्मक; सामान्य
Validity	...	प्रामाणिकता
Whole	...	समष्टि; सम्पूर्ण
Will	...	इच्छा; संकल्प; कृति-शक्ति